श्रीपरमात्मने नमः

नम्र निवेदन

समय-समयपर 'कल्याण' में जो मेरे लेख प्रकाशित होते हैं, उन्हींमेंसे प्रायः २६ वें और २७ वें वर्षमें आये हुए अधिकांश लेखोंका संग्रह करके कई भाइयोंका आग्रह होनेके कारण यह पुस्तक प्रकाशित की जा रही है। इसमें शारीरिक, भौतिक, मानसिक, बौद्धिक, व्यावहारिक, सामाजिक, नैतिक, धार्मिक और आध्यात्मिक आदि सब प्रकारकी उन्नतिका विवेचन किया गया है, जो कि सभीके लिये लाभदायक है। इसके सिवा, भगवत्प्राप्तिमें मनुष्यमात्रका अधिकार बतलाते हुए सत्यपालन, निष्काम कर्म, ज्ञान, वैराग्य, सदाचार, बालकों और स्त्रियोंके लिये कर्तव्य-शिक्षा और देशकी उन्नति आदि सर्वसाधारणके लिये उपयोगी विषयोंका भी प्रतिपादन किया गया है। साथ ही, शिक्षाप्रद कथा-कहानी भी दी गयी है। एवं भजन-ध्यानरूप भगवद्भक्तिका विषय तो इसमें बहुत विस्तारसे दिया ही गया है, समयकी अमोलकता, साधनके लिये चेतावनी, सत्सङ्ग और महापुरुषोंका प्रभाव तथा गोपी-प्रेमका रहस्य भी बतलाया गया है; और गीता-रामायणकी महत्ता एवं इनके मुख्य-मुख्य उपयोगी प्रसङ्गोंका संकलन भी किया गया है।

इन लेखोंकी बातोंको यदि पाठकगण काममें लावें तो उनका कल्याण हो सकता है और मैं काममें लाऊँ तो मेरा कल्याण हो सकता है; क्योंकि ये ऋषि, महात्मा, शास्त्र और भगवान्‌के वचनोंके आधारपर लिखे गये हैं। इनमें ऐसी-ऐसी सुगम बातें हैं, जिनको बिना पढ़े-लिखे साधारण पुरुष और स्त्री-बच्चे भी काममें ला सकते हैं।

इनमें जो त्रुटियाँ रही हों, उनके लिये विज्ञजन क्षमा करें और कृपापूर्वक मुझे सूचित करें।

विनीत—

जयदयाल गोयन्दका

श्रीहरिः

विषय-सूची

चित्र-सूची

हनुमानजीकी श्रीराम-लक्ष्मणसे प्रथम भेंट

|| ॐ श्रीपरमात्मने नमः ||

परम साधन

बालकोंके कर्तव्य

भारतमे आजकल बालकोको जो शिक्षा-दीक्षा प्राप्त हो रही है, वह भारतीय संस्कृतिके लिये तो घातक है ही, उन बालकोंके लिये भी अत्यन्त हानिकर और उनके जीवनको असंयमपूर्ण, रोगग्रस्त, दुखी बनाकर अन्तमें मानव-जीवनके चरम लक्ष्य भगवत्प्राप्तिसे वञ्चित रखनेवाली है । अधिकांश बुद्धिमान् सज्जन बहुत विचार-विनिमयके अनन्तर इसी निर्णयपर पहुँचे है कि हमारी वर्तमान शिक्षा-प्रणाली हमारे बालकोके लिये सर्वथा अनुपयोगी है । त्रिकालज्ञ ऋषि-मुनियोका जो अनुभव था, वह सब प्रकारसे इस लोक और परलोकमे कल्याणकारक था । पर आज हमलोग उनके अनुभवके लाभसे वञ्चित हो रहे है; क्योंकि उन महानुभावोकी जो भी शिक्षा है, वह शास्त्रोमे है तथा अन्य प्रकारके व्यर्थके कार्योंमे समय खो देनेके कारण समयाभावसे और श्रद्धा, भक्ति, रुचिकी कमीसे हमलोग शास्त्र पढते नही; अतः उनसे प्रायः अनभिज्ञ रहते है । हमारी संतान तो इस ज्ञानसे प्रायः सर्वथा ही शून्य है और होती जा रही है । इसलिये भारतीय

संस्कृतिके प्रति श्रद्धा रखनेवालों तथा बालकोंके सच्चे शुभचिन्तकोंको ऐसी शिक्षा-पद्धति बनानेका प्रयत्न करना चाहिये, जिसमें बालक-बालिकाओंमें वर्णाश्रमधर्म, ईश्वरभक्ति, माता-पिताकी सेवा, देव-पूजा, श्राद्ध, एकनारीव्रत, सतीत्व आदिमें श्रद्धा उत्पन्न हो। साथ ही अभिभावकोंको स्वयं इनका पालन करना चाहिये। जो अभिभावक स्वयं सद्गुण-सदाचारका पालन नहीं करता, उसका बच्चोंपर असर नहीं हो सकता। ऐसी उत्तम शिक्षाके लिये गीता, भागवत, रामचरितमानस, वाल्मीकीय और अध्यात्मरामायण, महाभारत, जैमिनीय अश्वमेध, पद्मपुराण, मनुस्मृति आदि धार्मिक ग्रन्थोंका स्वयं अध्ययन करना चाहिये और बालक-बालिकाओंको कराना चाहिये। यदि प्रतिदिन अपने घरमें, चाहे एक घंटा या आधा घंटा ही हो, सब मिलकर इन ग्रन्थोंका क्रमसे अध्ययन करें तो बालकोंको घर बैठे ही शास्त्रज्ञान हो सकता है। इस प्रकारके अभ्याससे ऋषि, मुनि, महात्मा, शास्त्र, ईश्वर और परलोकमें श्रद्धा-विश्वास बढ़कर बालकोंका स्वाभाविक ही उत्थान हो सकता है तथा बालक आदर्श बन सकते हैं। बालकोंकी उन्नतिसे ही कुटुम्ब, जाति, देश और राष्ट्र तथा भावी संतानकी उन्नति हो सकती है। अतः बालकोंके शिक्षण और चरित्रपर अभिभावकोंको विशेष ध्यान देना चाहिये।

वर्तमान शिक्षा-संस्थाओंमें बालकोंको ईश्वर-भक्ति और धर्मपालनकी शिक्षाका देना तो दूर रहा, इनका बुरी तरहसे विरोध किया जाता है। ईश्वर और धर्मकी खिल्ली उड़ायी जाती है और कहा जाता है कि धर्म ही हमारे पतन और अवनतिका हेतु है एवं बालकोंमें इस प्रकारके मिथ्या सिद्धान्त भरे जाते हैं कि 'आर्यलोग बाहरसे भारतमें

आये है, चार-पाँच हजार वर्षोंसे पूर्वका कोई इतिहास नहीं मिलता तथा जगत् उत्तरोत्तर उन्नत हो रहा है।'. इन भावोंसे धर्म और ईश्वरके प्रति अनास्था होकर उनका घोर पतन हो रहा है। इसीलिये उनको धर्मका ज्ञान होना असम्भव-सा होता जा रहा है। आजकलकी प्रणालीके अनुसार बच्चा जब छः-सात वर्षका होता है, तभी हम उसे पढ़नेके लिये स्कूलमे भेज देते है। वहाँ धर्मज्ञानसे रहित अपरिपक्व-मति तथा कॉलेजोसे निकले हुए प्रायः प्राचीनताके विरोधी नये अध्यापकोंके साथ उच्छृङ्खल वातावरणमे रहकर जब वह करीब सोलह वर्षका होता है तो उसे कॉलिजमे भेज देते हैं। वह बीस वर्षकी आयुतक कठिनतासे बी० ए० पास कर पाता है; परंतु जब वह एफ्० ए० या बी० ए० पास होकर घर आता है, तब अपने मा-बापको मूर्ख समझने लगता है और हमारी बची-खुची भारतीय संस्कृतिके पुराने संस्कारोंको देखकर हँसी-मजाक उड़ाता है; क्योंकि समय और श्रद्धाके अभावके कारण ऋषि-मुनियोंकी भारतीय संस्कृतिसे युक्त ग्रन्थ उसके सम्मुख नहीं आते, इसलिये वह इन सबसे अनभिज्ञ रहता है। ऐसी परिस्थितिमें हमारे बालक हमारे प्राचीन अनुभवी ऋषि-मुनियोंकी आर्य-संस्कृतिके लाभसे वञ्चित नही रहेगे तो और क्या होगा ?

शिशु-कक्षासे लेकर विश्वविद्यालयोंकी उच्च कक्षाओतकके विद्यार्थी आज धर्म-ज्ञानशून्य पाये जाते है, यह इसी वर्तमान शिक्षाका दुष्परिणाम है। यहाँतक कि उनमे भारतीय शिष्टाचारका भी अभाव हुआ चला जा रहा है, यह बड़े ही खेदकी बात है।

प्राचीन भारतीय शिष्टाचार या धर्मके सेवनसे लाभ

प्राचीन भारतीय शिष्टाचारका—जिसको हम आर्य-संस्कृति या भारतीय संस्कृति कह सकते हैं, पालन करनेसे हमारा इस लोक और परलोक दोनोंमें ही कल्याण हो सकता है। इसीका नाम धर्म है। शास्त्रमें बतलाया है—

यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः।

(वैशेषिकदर्शन सू० २)

'जिसके द्वारा अभ्युदय और निःश्रेयसकी सिद्धि हो, वह धर्म है।'

अतः जिस प्रकार राजा युधिष्ठिरने भारी-से-भारी विपत्ति पड़नेपर भी धर्मका त्याग नहीं किया, उसी प्रकार हमें भी धर्मका कभी त्याग नहीं करना चाहिये। महाभारतमें कहा है—

न जातु कामान्न भयान्न लोभाद्
धर्मं त्यजेज्जीवितस्यापि हेतोः।
नित्यो धर्मः सुखदुःखे त्वनित्ये
जीवो नित्यो हेतुरस्य त्वनित्यः॥

(स्वर्गारोहण० ५।६३)

'मनुष्यको किसी भी समय न कामसे, न भयसे, न लोभसे और न जीवन-रक्षाके लिये ही धर्मका त्याग करना चाहिये; क्योंकि धर्म नित्य है और सुख-दुःख अनित्य है तथा जीव नित्य है और इस जीवनका हेतु अनित्य है।'

धर्म ही मनुष्यका जीवन-प्राण है और इस लोक तथा परलोकमें कल्याण करनेवाला है। परलोकमें तो केवल एक धर्म ही साथ जाता

है; स्त्री, पुत्र और सम्बन्धी आदि कोई भी वहाँ साथ नहीं जा सकते। अतएव अपने कल्याणके लिये मनुष्यमात्रको नित्य-निरन्तर धर्मका संचय करना चाहिये। उक्त धर्मकी प्राप्ति धर्मके ज्ञाता महापुरुषोंके संगसे और उनकी अनुपस्थितिमें सत्-शास्त्रोंके अनुशीलनसे होती है।

त्यागपूर्वक धर्मके पालनसे उसका दूसरे लोगोंपर भी बहुत अच्छा असर होता है। उसके प्रभावसे पापी पुरुष भी धर्मात्मा बन जाते हैं। राजा युधिष्ठिरका इतना भारी प्रभाव था कि वे जिस देशमें वास करते थे, उस देशमें धर्मका प्रसार, धन-धान्यकी वृद्धि और दुर्भिक्ष-महामारी आदिकी स्वतः निवृत्ति हो जाया करती थी। महाराज युधिष्ठिरका यह प्रभाव विस्तारसे देखना चाहें तो महाभारतके विराट-पर्वका २८ वाँ अध्याय देखना चाहिये।

जो दूसरोंके साथ त्यागपूर्वक व्यवहार करता है उसके साथ दूसरोंको भी त्यागपूर्वक व्यवहार करना पड़ता है। हमारी जो प्राचीन त्यागपूर्ण धार्मिक शिक्षा है, उससे हमारे आत्माका कल्याण तो होता ही है, इस लोकमें भी सब प्रकारसे लाभ-ही-लाभ होता है; परंतु यदि लौकिक लाभ न भी होता हो और यहाँके स्वार्थकी हानि भी होती हो पर उसमें यदि हमारा परमार्थ सिद्ध हो जाता हो तो हमारे लिये वह महान् लाभकी बात है। सर्वस्व जाकर भी परमार्थ सिद्ध होता हो तो बिना विचारे सर्वस्वका त्याग कर देना उचित है; क्योंकि मनुष्य-जीवनका उद्देश्य आत्माका कल्याण है—सांसारिक भोग भोगना नहीं। आत्माका कल्याण या भगवत्प्राप्ति ही धर्म-पालनका अन्तिम फल है। अतएव हमारे बालकोंमें भगवत्प्राप्तिके हेतु इस धर्मके पालनके

लिये प्रारम्भसे ही ऐसे भाव भरे जाने चाहिये। प्राचीन ऋषि-आश्रमोंमें यही हुआ करता था।

उपर्युक्त धर्मको दृष्टिमें रखकर बालकोंके लिये अब यहाँ कुछ विशेष उपयोगी बातें लिखी जा रही हैं। मनुष्यको चाहिये कि आलस्य, प्रमाद, भोग, दुर्व्यसन, दुर्गुण और दुराचारोंको विषके समान समझकर उनको त्याग दे एवं सद्गुण-सदाचारका सेवन, विद्याका अभ्यास, ब्रह्मचर्यका पालन, माता-पिता और गुरुजनोंकी एवं दुखी अनाथ प्राणियोंकी कर्तव्य समझकर निःस्वार्थ भावसे सेवा तथा ईश्वरकी भक्तिको अमृतके समान समझकर उनका श्रद्धापूर्वक सेवन करे। यदि इनमेंसे एकका भी निष्कामभावसे पालन किया जाय तो कल्याण हो सकता है, फिर सबका पालन करनेसे तो कल्याण होनेमें कहना ही क्या है।

छः घंटेसे अधिक सोना, दिनमें सोना, असमयमें सोना, काम करते या साधन करते समय नींद लेना, काममें असावधानी करना, अल्प कालमें हो सकनेवाले काममें अधिक समय लगा देना, आवश्यक कामके आरम्भमें भी विलम्ब करना तथा अकर्मण्यताको अपनाना आदि सब 'आलस्य'के अन्तर्गत हैं।

मन, वाणी और शरीरके द्वारा न करनेयोग्य व्यर्थ चेष्टा करना तथा करनेयोग्य कार्यकी अवहेलना करना—'प्रमाद' है।

ऐश-आराम, स्वाद-शौक, फैशन-विलासिता, विषयोंका सेवन, इत्र-फुलेल, सेंट-पाउडर आदिका लगाना, शृंगार करना, थियेटर-सिनेमा आदिका देखना, विलास तथा प्रमादोत्पादक क्लबोंमें जाना आदि सब 'भोग' है।

बीड़ी, सिगरेट, गाँजा, भाँग, चरस, कोकिन, अफीम, आसव आदि मादक वस्तुओंका सेवन, चौपड़-ताश-शतरंज खेलना आदि सब 'दुर्व्यसन' है।

काम, क्रोध, लोभ, मोह, दम्भ, दर्प, अभिमान, अहंकार, मद, ईर्ष्या आदि 'दुर्गुण' है।

हिंसा, झूठ, चोरी, व्यभिचार, मांसभक्षण, मदिरापान, जूआ खेलना आदि 'दुराचार' है।

संयम, क्षमा, दया, शान्ति, समता, सरलता, संतोष, ज्ञान, वैराग्य, निष्कामता आदि 'सद्गुण' है।

यज्ञ, दान, तप, तीर्थ, व्रत और सेवा-पूजा करना तथा अहिंसा, सत्य, ब्रह्मचर्यका पालन करना आदि 'सदाचार' हैं।

इनके अतिरिक्त विद्याका अभ्यास, ब्रह्मचर्यका पालन, माता-पिता और गुरुजनोंकी सेवा तथा ईश्वरकी भक्ति—ये सभी परम आवश्यक और कल्याणकारी है।

इसलिये बालकों और नवयुवकोंसे हमारा निवेदन है कि वे निष्कामभावसे उपर्युक्त साधनोंद्वारा अपने जीवनके स्तर (स्टैंडर्ड) को ऊँचा उठावें, उसका पतन न होने दें। भगवान्‌ने गीतामें कहा है—

उद्धरेदात्मनाऽऽत्मानं नात्मानमवसादयेत्।
आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः॥
बन्धुरात्माऽऽत्मनस्तस्य येनात्मैवात्मना जितः।
अनात्मनस्तु शत्रुत्वे वर्तेतात्मैव शत्रुवत्॥

(६।५-६)

'अपनेद्वारा अपना संसार-समुद्रसे उद्धार करे और अपनेको

अधोगतिमे न डाले; क्योंकि यह मनुष्य आप ही तो अपना मित्र है और आप ही अपना शत्रु है। जिस जीवात्माद्वारा मन और इन्द्रियों-सहित शरीर जीता हुआ है, उस जीवात्माका तो वह आप ही मित्र है और जिसके द्वारा मन तथा इन्द्रियोंसहित शरीर नहीं जीता गया है, उसके लिये वह आप ही शत्रुके सदृश शत्रुतामें वर्तता है।'

इससे यह बात सिद्ध हो जाती है कि जो मनुष्य अपने मन-इन्द्रियों-को जीत लेता है, वह स्वयं ही अपना मित्र है और जो नहीं जीतता, वह स्वयं ही अपना शत्रु है; क्योंकि मन-इन्द्रियोंपर विजय प्राप्त करनेवाला पुरुष ही विषयोंसे मन-इन्द्रियोंको रोककर दुर्गुण-दुराचारका त्याग और सद्गुण-सदाचारका सेवन करके आत्मकल्याण कर सकता है।

जिस आचरणको श्रुति और स्मृति उत्तम बतलाती है तथा अच्छे पुरुष जिसका आचरण करते है एवं हमारी आत्मा भी यह स्वीकार कर लेती है कि ये आचरण अच्छे है, वही 'धर्म' है। श्रीमनुजीने कहा है—

वेदः स्मृतिः सदाचारः स्वस्य च प्रियमात्मनः।
एतच्चतुर्विधं प्राहुः साक्षाद् धर्मस्य लक्षणम्॥

(२।१२)

'श्रेष्ठ पुरुष वेद, स्मृति, सदाचार और अपनी आत्माकी रुचि-के अनुसार परिणाममे हितकर—यह चार प्रकारका धर्मका साक्षात् लक्षण कहते है।'

श्रुतिस्मृत्युदितं धर्ममनुतिष्ठन् हि मानवः।
इह कीर्तिमवाप्नोति प्रेत्य चानुत्तमं सुखम्॥

(२।९)

'जो मनुष्य वेद और स्मृतिमे कहे हुए धर्मका पालन करता है, वह निःसंदेह इस संसारमें कीर्तिको और मरकर परमात्माकी प्राप्तिरूप सर्वोत्तम सुखको पाता है।'

अतः युवकोंसे हमारा निवेदन है कि वर्तमानमें जो हमारा बहुत ही नैतिक पतन हो रहा है, इससे बचकर अपनी आत्माको उठावे तथा इस लोक और परलोकमें हमारा परम कल्याण हो, वही आचरण करें एवं सच्चे हृदयसे लगनके साथ सभी ओरसे ऐसा प्रयत्न करें, जिसमे अपनी भौतिक और बौद्धिक, व्यावहारिक और सामाजिक, नैतिक और धार्मिक तथा आध्यात्मिक या पारमार्थिक उन्नति हो; मानव-जीवन सफल हो, यहाँ अभ्युदयको प्राप्त करे और अन्तमे मुक्तिकी प्राप्ति हो।

भौतिक, बौद्धिक, व्यावहारिक, सामाजिक, नैतिक, धार्मिक और आध्यात्मिक उन्नतिके स्वरूप और उनका फल

जिससे शरीर नीरोग रहे तथा संसारमे धन, धान्य और शिल्प-विद्या आदिकी उन्नति हो, यह 'भौतिक उन्नति' है। भाव यह कि आकाश, वायु, तेज, जल, पृथ्वी—इन पाँच भूतोंके कार्यरूप पदार्थोंसे सम्बन्ध रखनेवाली उन्नतिको भौतिक उन्नति कहते है; किंतु यह भौतिक उन्नति जब निष्कामभावसे अहिंसा, सत्य और समस्त प्राणियोंके हितकी दृष्टिसे की जाती है, तभी कल्याणकारक होती है; इसके विपरीत 'अणुबम' आदिसे जनताका संहार करनेवाली भौतिक उन्नति तो भयानक और पतनकारक ही है।

जिससे हमारा लौकिक और पारलौकिक ज्ञान बढ़े, सद्गुण और सद्भावकी वृद्धि हो, अनेक प्रकारकी भाषा, लिपि और श्रुति-स्मृति-इतिहास-

पुराणादि शास्त्रोंका तथा व्याकरण, छन्द, ज्योतिष, कल्प, निरुक्त, शिक्षा, गणित, नीति, देवविद्या, ब्रह्मविद्या, निधिविद्या, नक्षत्रविद्या, सर्पविद्या, संगीत, ललितकला आदि विद्याओंका ज्ञान हो एवं हमारी बुद्धि सूक्ष्म, तीक्ष्ण, शुद्ध और स्थिर हो, उसका नाम 'बौद्धिक उन्नति' है; किंतु यह बौद्धिक उन्नति राग-द्वेषादि दोषोंसे रहित, क्षमा, दया, उदारता, ज्ञान, विवेक, वैराग्य, भक्ति आदि गुणोंसे युक्त होनेपर इस लोक और परलोकमें कल्याणकारक होती है । इससे विपरीत संसारके संहार करनेमें संलग्न बुद्धि तो हानि और पतन करनेवाली ही है ।

कुशलतापूर्वक देश और विदेशमें व्यवसायबुद्धिसे पदार्थोंका उत्पादन, निर्माण, आदान-प्रदान और क्रय-विक्रय तथा कला-कौशल-की उन्नति और वृद्धि करना आदि एवं प्रत्येक व्यक्तिके साथ कुशलता और सभ्यतापूर्वक बर्ताव करना आदि 'व्यावहारिक उन्नति' है । यह 'व्यावहारिक उन्नति' झूठ, कपट, चोरी, बेईमानी और स्वार्थसे रहित तथा सत्य, समता, संतोष, संयम आदि गुणोंसे युक्त होनेपर मुक्ति देनेवाली है और इससे विपरीत आजकलके व्यापारकी तरह अन्याय-पूर्ण होनेपर देश और राष्ट्रके लिये हानिकारक तथा आत्माका पतन करनेवाली है ।

वर्तमानमें जाति और समाजमें फैली हुई दहेज लेने आदिकी कुरीतियाँ तथा विवाह और अन्यान्य अवसरोंपर धनका अतिशय व्यर्थ खर्च करने आदिकी फिजूलखर्चीको खतरनाक समझकर उनका सुधार करना तथा देश, जाति और समाजका उत्थान और हित करना—यह 'सामाजिक उन्नति' है ।

रेल-यात्राके समय जगह रहते हुए भी अपने डिब्बेमे दूसरेको नहीं घुसने देना, तीसरे दर्जेका टिकट लेकर इंटरमे बैठ जाना अथवा इंटरका टिकट लेकर सेकंडमे सवार होना, टिकटके अनुसार नियत किये हुए परिमाणसे अधिक बोझ बिना किराया चुकाये ही ले जाना, हाकिम या पंच बनकर पक्षपात करना, व्यापारमे झूठ, कपट, चोरी, बेईमानी करना और झूठे बही-खाते बनाना, सरकार और रेलवेकी उनके कर्मचारियोसे मिलकर चोरी करना, रिश्वत आदि लेकर चोरी तथा अनैतिकतामे सहायता करना आदि सब 'नैतिक पतन' है। उपर्युक्त दोपोको छोड़कर सबके साथ पक्षपातरहित, न्याय और समता-युक्त लोभरहित यथायोग्य व्यवहार करना—यह 'नैतिक उन्नति' है। उपर्युक्त सामाजिक तथा नैतिक बातोंका पालन यदि मान-बड़ाई आदि-के लिये किया जाय तो मान-बड़ाई मिलती है और यदि कर्तव्य-बुद्धिसे निष्कामभावपूर्वक किया जाय तो परमात्माकी प्राप्ति हो सकती है।

झूठ, कपट, चोरी, बेईमानी, मद्यपान, मांसभक्षण, द्यूत और हिंसा आदि शास्त्रनिषिद्ध दोषोंसे रहित होकर यज्ञ, दान, तप, सेवा, पूजा, तीर्थ, व्रत, परोपकार, शौचाचार, सदाचार आदि शास्त्रानुकूल धर्मका श्रद्धापूर्वक पालन करना 'धार्मिक उन्नति' है। यह धार्मिक उन्नति यदि निष्कामभावसे या भगवत्प्रीत्यर्थ अथवा भगवत्प्राप्त्यर्थ हो तो इस लोक और परलोकमे कल्याण करनेवाली है तथा यदि सकामभावसे की जाय तो इस लोक और परलोककी कामनाकी पूर्ति करनेवाली है।

आत्मा और परमात्माका यथार्थ ज्ञान होनेके लिये सत्सङ्ग और स्वाध्याय करना, विवेक-वैराग्यपूर्वक संसारके विषयभोगोंसे मन और

इन्द्रियोंका संयम करना, निष्कामभावसे शास्त्रविहित कर्मोंका आचरण करना, श्रद्धा-प्रेमपूर्वक निष्कामभावसे नित्य-निरन्तर भगवान्‌के नामका जप और स्वरूपका ध्यान करना, सख्य, दास्य आदि भावोंसे भगवान्‌की उपासना करना, भगवान्‌की पूजा करना, उनको नमस्कार करना, उनकी स्तुति-प्रार्थना करना, कथा-कीर्तन करना, यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, समाधिरूप अष्टाङ्गयोगके द्वारा तथा अद्वैतसिद्धान्तके अनुसार ब्रह्मको यथार्थरूपमें जाननेका साधन करना आदि सब 'आध्यात्मिक उन्नति' के हेतु हैं। अतः इन साधनोंमेंसे कोई-सा भी साधन परमात्माकी प्राप्तिके उद्देश्यसे करना 'आध्यात्मिक उन्नति' है।

उन्नतिके साधन

अब बालकोंकी सब प्रकारसे अधिक-से-अधिक उन्नति किस प्रकार हो, इस विषयमें कुछ विचार करना है। जो अवस्थामें बालक हैं, वे तो बालक हैं ही; किंतु जिनके माता-पितादि अभी जीवित हैं, उनकी आयु अधिक होनेपर भी माता-पिताके सम्मुख तो वे भी बालकके ही समान हैं तथा जिन्हें कर्तव्य-अकर्तव्यका ज्ञान नहीं है, वे भी बालकके ही समान हैं। पहले यहाँ यह विचार करते हैं कि बालकोंको अपनी दिनचर्या कैसी बनानी चाहिये।

कम-से-कम सूर्योदयसे एक घंटा पूर्व उठना और उठते ही भगवान्‌के नाम-रूपका स्मरण तथा उनको नमस्कार करना चाहिये। फिर—

त्वमेव माता च पिता त्वमेव
त्वमेव बन्धुश्च सखा त्वमेव।
त्वमेव विद्या द्रविणं त्वमेव
त्वमेव सर्वं मम देवदेव॥

'आप ही माता और आप ही पिता है, आप ही बन्धु और आप ही मित्र है। आप ही विद्या और आप ही धन है। हे देवोंके भी देव! मेरे तो सब कुछ आप ही है।'

इस प्रकार स्तुति करके भगवान्‌मे परम श्रद्धा और अनन्यभक्ति हो तथा भगवान्‌के नाम और स्वरूपकी स्मृति नित्य-निरन्तर बनी रहे, इसके लिये भगवान्‌से हृदय खोलकर प्रार्थना करनी चाहिये। इसके बाद, पृथ्वी माताको नमस्कार करके शास्त्रविधिके अनुसार शौच-स्नान करना चाहिये।

मलत्याग करके तीन बार मृत्तिका और जलसे गुदा धोवे, फिर जबतक दुर्गन्ध और चिकनाई रहे, तबतक केवल जलसे धोवे। मल या मूत्रका त्याग करनेके बाद उपस्थको भी जलसे धोवे। मलत्यागके बाद मृत्तिका और जलसे दस बार बाये हाथको और सात बार दोनों हाथोंको मिलाकर धोना चाहिये। मृत्तिका और जलसे पैरोंको एक बार तथा पात्रको तीन बार धोना चाहिये। हाथ और पैर धोनेके अनन्तर मुखके सारे छिद्रोंको धोकर दातुन करके कम-से-कम बारह कुल्ले करने चाहिये। फिर स्नान करना चाहिये।

तदनन्तर यदि यज्ञोपवीतधारी हो तो उसे संध्योपासन, गायत्रीजप, वेदाध्ययन, तर्पण, पूजा, होम आदि विधिपूर्वक करने चाहिये। मनुजीने कहा है—

नित्यं स्नात्वा शुचिः कुर्याद् देवर्षिपितृतर्पणम्।
देवताभ्यर्चनं चैव समिदाधानमेव च॥

(मनु० २। १७६)

'ब्रह्मचारी बालकको चाहिये कि नित्य स्नान करके शुद्ध हो देवता, ऋषि और पितरोंका तर्पण तथा देवताओंका पूजन और समिधाओं-द्वारा प्रज्वलित अग्निमें होम अवश्य करे ।'

कम-से-कम प्रातःकाल और सायंकाल विधिपूर्वक संध्योपासन और गायत्रीजप तो हरेक यज्ञोपवीतधारी बालकको अवश्य करना ही चाहिये । मनुजीने कहा है—

न तिष्ठति तु यः पूर्वां नोपास्ते यश्च पश्चिमाम् ।
स शूद्रवद् बहिष्कार्यः सर्वस्माद् द्विजकर्मणः ॥

(मनु० २ । १०३)

'जो मनुष्य न तो प्रातःसंध्योपासन करता है और न सायंसंध्योपासन करता है, वह शूद्रके समान सम्पूर्ण द्विज-कर्मोंसे अलग कर देनेके योग्य है ।'

शौच-स्नानसे पवित्र होकर ही संध्योपासन और गायत्री-जप करना चाहिये; क्योंकि पवित्र होकर किया हुआ गायत्री-जप ही अधिक लाभदायक होता है । शास्त्रोंमें गायत्री-जपकी बड़ी भारी महिमा आती है—

एतदक्षरमेतां च जपन् व्याहृतिपूर्विकाम् ।
संध्ययोर्वेदविद् विप्रो वेदपुण्येन युज्यते ॥

(मनु० २ । ७८)

'इस (ॐ) अक्षर और इन व्याहृतियोंके सहित गायत्रीको दोनों संध्याओंमें जपता हुआ वेदज्ञ ब्राह्मण वेद-पाठके पुण्य-फलका भागी होता है ।'

सहस्रकृत्वस्त्वभ्यस्य बहिरेतत् त्रिकं द्विजः।
महतोऽप्येनसो मासात् त्वचेवाहिर्विमुच्यते॥

(मनु० २।७९)

'द्विज इन तीनोंका यानी प्रणव, व्याहृति और गायत्रीका बाहर (पवित्र और एकान्त स्थानमे) सहस्र बार जप करके एक मासमे बड़े भारी पापसे भी वैसे ही छूट जाता है, जैसे साँप केचुलीसे।'

इसलिये हमलोगोंको एकान्त और पवित्र देशमे आलस्यरहित होकर श्रद्धा-भक्तिपूर्वक अर्थ और भावको समझते हुए गायत्रीका जप अधिक-से-अधिक करना चाहिये। यदि हम प्रतिदिन एक हजार गायत्रीमन्त्रका जप आलस्यरहित होकर तीन वर्षतक श्रद्धा-प्रेमपूर्वक निष्कामभावसे करें तो सब पापोंका नाश होकर हमारा निश्चय ही कल्याण हो सकता है। श्रीमनुजी कहते है—

योऽधीतेऽहन्यहन्येतास्त्रीणि वर्षाण्यतन्द्रितः।
स ब्रह्म परमभ्येति वायुभूतः खमूर्तिमान्॥

(मनु० २।८२)

'जो मनुष्य आलस्य छोड़कर प्रतिदिन तीन वर्षोंतक प्रणव और व्याहृतिसहित गायत्रीका जप करता है, वह मरनेपर क्रमशः वायुरूप और आकाशरूप होकर परब्रह्मको प्राप्त कर लेता है।'

इसलिये पवित्र होकर नित्य निष्कामभावसे श्रद्धा-भक्तिपूर्वक परमात्माकी प्राप्तिके लिये अधिक-से-अधिक गायत्रीजप करना चाहिये। अधिक न हो तो कम-से-कम प्रतिदिन एक हजार गायत्रीका जप तो अवश्य करना चाहिये। प्रातःकाल खड़े होकर और सायंकाल बैठकर जप करना उत्तम है अथवा दोनों समय बैठकर ही कर

सकते हैं; किंतु चलते-फिरते नहीं। बीमार हों तो बिना स्नान किये भी हाथ-मुँह और पैर धोकर वस्त्र बदलकर मानसिक संध्या और गायत्रीजप कर सकते है। रेल, मोटर, वायुयान आदिमे यात्रा करते समय भी बिना स्नान किये भी मानसिक संध्या और गायत्री-जप आदि ठीक समयपर अवश्य करना चाहिये तथा गन्तव्य स्थानपर पहुँच जानेपर शौच-स्नानादिसे निवृत्त हो पुनः विधिपूर्वक करना चाहिये। प्रातःकाल सूर्योदयसे पूर्व और सायंकाल सूर्यास्तसे पूर्व करना सर्वोत्तम है। कहीं आपत्तिकालमे समयका उल्लङ्घन हो जाय तो भी कर्मका उल्लङ्घन तो कभी होना ही नहीं चाहिये। अपने दैनिक नित्यकर्मका त्याग तो कभी किसी अवस्थामे करना ही नहीं चाहिये। मनुस्मृतिमे कहा है—

नैत्यके नास्त्यनध्यायो ब्रह्मसत्रं हि तत् स्मृतम् ॥

(२। १०६)

'नित्यकर्ममे अनध्याय नहीं है; क्योंकि उसे ब्रह्मयज्ञ कहा है।'

अतएव स्नान, संध्या, गायत्रीजप, तर्पण, पूजा, हवन, स्वाध्याय आदि नित्यकर्म कभी किसी अवस्थामे भी नहीं छोड़ना चाहिये। जन्म और मृत्युका अशौच होनेपर मानसिक कर लेना चाहिये। बीमारी और संकट-अवस्थामे स्नान न करनेके कारण अपवित्र होनेपर भी उपर्युक्त नित्यकर्म भगवान्‌का स्मरण करके मानसिक कर सकते हैं; क्योंकि भगवान्‌का स्मरण करनेसे मनुष्य बाहर-भीतरसे पवित्र हो जाता है। पद्मपुराणमे कहा है—

अपवित्रः पवित्रो वा सर्वावस्थां गतोऽपि वा।
यः स्मरेत् पुण्डरीकाक्षं स बाह्याभ्यन्तरः शुचिः ॥

(पाताल० ८०। ११)

'मनुष्य अपवित्र हो या पवित्र अथवा शुद्ध-अशुद्ध सभी अवस्थाओंमे क्यों न पहुँच गया हो, जो कमलनयन भगवान्का स्मरण करता है, वह बाहर-भीतरसे पवित्र हो जाता है।'

यदि किसी ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्यके बालकके यज्ञोपवीत नहीं है तो उसे यज्ञोपवीत-संस्कार अवश्य ही करा लेना चाहिये; क्योंकि यज्ञोपवीतके बिना संध्या, गायत्री, वेद और होम आदिमे अधिकार नहीं होता। यज्ञोपवीतका काल मनुजीने इस प्रकार बतलाया है—

गर्भाष्टमेऽब्दे कुर्वीत ब्राह्मणस्योपनायनम्।
गर्भादेकादशे राज्ञो गर्भात् तु द्वादशे विशः॥

(मनु० २। ३६)

'ब्राह्मणका उपनयन (जनेऊ) गर्भसे आठवे वर्षमे, क्षत्रियका गर्भसे ग्यारहवेमे और वैश्यका गर्भसे बारहवें वर्षमे करना चाहिये।'

ब्रह्मवर्चसकामस्य कार्यं विप्रस्य पञ्चमे।
राज्ञो बलार्थिनः षष्ठे वैश्यस्येहार्थिनोऽष्टमे॥

(मनु० २। ३७)

'ब्रह्मतेजकी इच्छा करनेवाले ब्राह्मणका पाँचवे वर्षमे, बल चाहनेवाले क्षत्रियका छठेमे और धन चाहनेवाले वैश्यका आठवें वर्षमे यज्ञोपवीत करना चाहिये।'

आ षोडशाद् ब्राह्मणस्य सावित्री नातिवर्तते।
आ द्वाविंशात् क्षत्रबन्धोरा चतुर्विंशतेर्विशः॥

(मनु० २। ३८)

'सोलह वर्षतक ब्राह्मणके लिये, बाईस वर्षतक क्षत्रियके लिये

और चौवीस वर्षतक वैश्यके लिये सावित्रीके कालका अतिक्रमण नहीं होता अर्थात् इस अवस्थातक उनका उपनयन (जनेऊ) हो सकता है ।'

इसके बाद 'व्रात्य' संज्ञा हो जाती है; किंतु 'व्रात्य' संज्ञा होनेपर भी प्रायश्चित्त कराकर कोई सदाचारी विद्वान् ब्राह्मण यज्ञोपवीत दिला दें तो ले सकते है ।

जो स्त्री-शूद्र आदि यज्ञोपवीतके अधिकारी नहीं है तथा अधिकारी होनेपर भी जिनका यज्ञोपवीत-संस्कार नहीं हुआ है, उन लोगोको भी अपने इष्टदेव भगवान्‌का पूजन, नमस्कार, स्तुति-प्रार्थना, पाठ, भगवान्‌के नामका जप और स्वरूपका ध्यान, गीता, रामायण, भागवत आदि ग्रन्थोका स्वाध्यायरूप नित्यकर्म और कथा-कीर्तन आत्मकल्याणके लिये अवश्य ही करना चाहिये । उनका संध्या, गायत्री, होम और वेदाध्ययनमें अधिकार न होनेके कारण उन्हे हठ करके इन्हे नही करना चाहिये । जो वर्णाश्रम-धर्मसे रहित है, उन लोगोकी भी आध्यात्मिक उन्नति और उसके फलस्वरूप भगवत्प्राप्ति निष्काम प्रेमभावसे भगवान्‌के पूजन-नमस्कार, स्तुति-प्रार्थना, कथा-कीर्तन, जप-ध्यान आदिरूप भक्ति करनेपर हो सकती है ।

ऐसा माना जाता है कि एक मिनटमे पंद्रह श्वासके हिसाबसे दिन-रातमे प्रायः २१६०० श्वास आते है; इसलिये प्रतिदिन कम-से-कम इक्कीस हजार छः सौ भगवन्नामोंका जप तो अवश्य होना ही चाहिये । इस दृष्टिसे यदि—

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे ।
हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे ॥

—इस षोडश मन्त्रकी १४ माला प्रतिदिन जपी जाय तो २४१९२ नामोंका जप हो जाता है। अतः जिनको यह साधन लाभदायक और उचित प्रतीत हो, वे कम-से-कम १४ मालाका तो जप अवश्य ही करें। इस प्रकारका जप यदि भगवान्‌के स्वरूपका ध्यान रखते हुए या मन्त्रके अर्थको समझते हुए अक्षरोंका ध्यान रखते हुए किया जाय तो और भी उत्तम है। ऐसा जप श्रद्धा-प्रेमपूर्वक निष्कामभावसे नित्य-निरन्तर गुप्त किया जाय, उसके लाभका तो कहना ही क्या है। उससे तो बहुत ही शीघ्र 'भगवत्प्राप्ति' हो सकती है। श्रीभगवन्नामजपकी महिमा शास्त्रोंमे सब प्रकारके यज्ञोंसे बढ़कर बतलायी गयी है। श्रीमनुस्मृतिमें कहा है—

विधियज्ञाज्जपयज्ञो विशिष्टो दशभिर्गुणैः।
उपांशुः स्याच्छतगुणः साहस्रो मानसः स्मृतः॥
(२।८५)

'विधियज्ञ यानी श्रौत-स्मार्त्त यज्ञसे जपयज्ञ दसगुना बढ़कर है और दूसरे मनुष्यको सुनायी न दे—इस तरह उच्चारण करके किया जानेवाला उपांशु जप (विधियज्ञसे) सौगुना और मानसजप (विधियज्ञसे) हजारगुना बढ़कर माना गया है अर्थात् एक-से-एक दसगुना श्रेष्ठ है।'

ये पाकयज्ञाश्चत्वारो विधियज्ञसमन्विताः।
सर्वे ते जपयज्ञस्य कलां नार्हन्ति षोडशीम्॥
(२।८६)

'जो विधियज्ञ यानी श्रौत-स्मार्त यज्ञसहित चार पाकयज्ञ

(वैश्वदेव, श्राद्ध, बलिकर्म और अतिथि तथा ब्राह्मणको भोजन कराना) है, वे सब जपयज्ञकी सोलहवीं कलाके बराबर भी नहीं हैं ।'

इसके अतिरिक्त निर्गुण-निराकार अथवा सगुण-साकार भगवान् शिव, विष्णु, राम, कृष्ण आदि किसी भी इष्टदेवके स्वरूपका ध्यान श्रद्धा-भक्तिपूर्वक प्रातःकाल और सायंकाल कम-से-कम एक घंटा या आधा घंटा यथाशक्ति अवश्य करे । श्रीमद्भगवद्गीताके कम-से-कम एक अध्यायका अर्थसहित या अर्थ और भावपर लक्ष्य रखते हुए पाठ करे तथा श्रीतुलसीदासजीके रामायणके चार दोहों (चौपाई-छन्द आदिसहित) का अर्थपर ध्यान रखते हुए पाठ करे एवं इष्टदेवके स्तोत्रोंका पाठ करे ।

प्रतिदिन भगवान्की मूर्ति या चित्रपटकी षोडशोपचारसे पूजा करे अथवा मनमें अपने इष्टदेवके स्वरूपको अपने हृदयके भीतर या बाहर आकाशमें स्थित करके उनकी पूजा और नमस्कार करे तथा इष्टदेवकी स्तुति-प्रार्थना करे ।

इस प्रकार नित्यकर्म करनेके पश्चात् अपने घरमें माता-पिताको तथा जो अवस्था, ज्ञान या पदमें अपनेसे बड़े हों उनको एवं आचार्य, अध्यापक और शिक्षकको प्रतिदिन प्रणाम करना चाहिये । नित्य प्रणाम करनेका लाभ बतलाते हुए मनुजी कहते हैं—

अभिवादनशीलस्य नित्यं वृद्धोपसेविनः ।
चत्वारि तस्य वर्धन्ते आयुर्विद्या यशो बलम् ॥

(मनु० २ । १२१)

'जो नित्य प्रणाम करनेके स्वभाववाला और वृद्धोंकी सेवा करनेवाला है, उसके आयु, विद्या, यश और बल—ये चार बढ़ते हैं ।'

तदनन्तर आसन, व्यायाम आदि करके अपने अभ्यासके अनुसार दुग्धपान करना चाहिये अथवा रात्रिमे भिगोये हुए चनोंका सेवन भी दुग्धपानके समान ही है। इसके बाद विद्याका अभ्यास करना चाहिये। फिर पवित्र, सात्त्विक, उचित और हल्का भोजन करना चाहिये। आचमन करके ही भोजन करे तथा भोजनके अन्तमे भी आचमन करे। श्रीमनुजी कहते है—

उपस्पृश्य द्विजो नित्यमन्नमद्यात् समाहितः।
भुक्त्वा चोपस्पृशेत् सम्यगद्भिः खानि च संस्पृशेत्॥

(मनु० २।५३)

'द्विजको चाहिये कि नित्य आचमन करके सावधान हुआ अन्नका भोजन करे तथा भोजनके पश्चात् भी भलीभाँति आचमन करे एवं छः छिद्रोंका अर्थात् नाक, कान, नेत्रका जलसे स्पर्श करे।'

तथा राजसी, तामसी, भारी और क्षुधासे अधिक मात्रामें भोजन नही करना चाहिये; क्योंकि अधिक भोजन करनेसे आरोग्य, आयु, स्वर्ग और पुण्यका नाश होता है। श्रीमनुजी कहते है—

अनारोग्यमनायुष्यमस्वर्ग्यं चातिभोजनम्।
अपुण्यं लोकविद्विष्टं तस्मात् तत् परिवर्जयेत्॥

(मनु० २।५७)

'अधिक भोजन करना आरोग्य, आयु, स्वर्ग और पुण्यका नाशक और लोकनिन्दित है, इसलिये उसे त्याग दे।'

न्यायसे प्राप्त द्रव्यसे खरीदे हुए तथा शास्त्रानुकूल शुद्धतासे बनाये हुए खाद्य पदार्थ पवित्र है। सात्त्विक भोजनके लक्षण गीतामें इस प्रकार बतलाये गये है—

आयुःसत्त्वबलारोग्यसुखप्रीतिविवर्धनाः ।
रस्याः स्निग्धाः स्थिरा हृद्या आहाराः सात्त्विकप्रियाः ॥
(१७ । ८)

'आयु, बुद्धि, बल, आरोग्य, सुख और प्रीतिको बढ़ानेवाले, रसयुक्त, चिकने और स्थिर रहनेवाले तथा स्वभावसे ही मनको प्रिय—ऐसे आहार अर्थात् भोजन करनेके पदार्थ सात्त्विक पुरुषको प्रिय होते है ।'

घी, दूध, फल, शाक, अन्न, मेवा और चीनी आदि पदार्थ शुद्ध भी है और सात्त्विक भी है, इसलिये इन पदार्थोंका ही भोजन करना चाहिये; किंतु घी, चीनी, मावा, मैदा और बेसन (चनेके आटे) की मिठाई भारी होनेसे गरिष्ठ और स्वादु होनेसे राजसी हो जाती है । इसलिये दूध, फल, मूँगकी दाल, चावल, खिचड़ी, रोटी, पूड़ी, फुलका, साग आदि सादा भोजन करना चाहिये ।

उचित भोजनसे अभिप्राय है, क्षुधासे न अधिक हो और न कम; हल्केसे मतलब है—भोजन बहुत देरमें पचनेवाला न होकर हल्का यानी अल्पकालमे ही पचनेवाला हो । तामसी भोजन तो कभी नही करना चाहिये । मधु, मांस, सोडावाटर, बर्फ, बिस्कुट, डाक्टरी दवा, आसव, अरिष्ट, लहसुन, प्याज, बाजारकी मिठाई आदि तथा होटलकी अपवित्र चीजे और एक दूसरेका खाया हुआ जूँठा तथा रातमे बनाकर रक्खी हुई बासी रोटी आदि तामसी भोजन है । प्रायः सोडावाटर और बर्फ आदि उच्छिष्ट होनेसे, आसव-अरिष्ट मादक होनेसे, मधु और बाजारकी मिठाई अपवित्र होनेसे और चाहे जिसके स्पर्शसे दूषित होनेसे तथा बढ़िया बिस्कुट आदिमे मुर्गीके

अंडे और डाक्टरी औषधमें मद्य, मांस आदिका मिश्रण होनेसे, होटलके पदार्थोंमे मद्य-मांसादिका संसर्ग होनेसे तथा लहसुन-प्याजमे दुर्गन्ध होनेसे——ये सभी सर्वथा त्याज्य है । मनुजीने भी कहा है—

वर्जयेन्मधु मांसं च गन्धं माल्यं रसान् स्त्रियः ।
शुक्तानि यानि सर्वाणि प्राणिनां चैव हिंसनम् ॥

(मनु० २ । १७७)

'शहद, मास, सुगन्धित वस्तु, फूलोंके हार, रस, स्त्री, सिरकेकी भाँति बनी हुई समस्त मादक वस्तुएँ और प्राणियोकी हिंसा——इन सभीको त्याग दे ।'

राजसी-तामसी भोजनके लक्षण गीतामे इस प्रकार वताये है—

कट्वम्ललवणात्युष्णतीक्ष्णरूक्षविदाहिनः ।
आहारा राजसस्येष्टा दुःखशोकामयप्रदाः ॥
यातयामं गतरसं पूति पर्युषितं च यत् ।
उच्छिष्टमपि चामेध्यं भोजनं तामसप्रियम् ॥

(१७ । ९-१०)

'कड़वे, खट्टे, लवणयुक्त, बहुत गरम, तीखे, रूखे, दाहकारक और दुःख, चिन्ता तथा रोगोंको उत्पन्न करनेवाले आहार अर्थात् भोजन करनेके पदार्थ राजस पुरुषको प्रिय होते है । जो भोजन अधपका, रसरहित, दुर्गन्धयुक्त, बासी और उच्छिष्ट (जूँठा) है तथा जो अपवित्र भी है, वह भोजन तामस पुरुपको प्रिय होता है ।'

भोजन करनेके बाद कम-से-कम आध घंटेतक सोना नहीं चाहिये, रास्ते नही चलना चाहिये, विद्याभ्यास भी नही करना चाहिये, विशेष परिश्रम और स्नान भी नही करना चाहिये; क्योंकि

दिनमें सोनेसे वृत्ति भारी और तामसी होती है और भोजनके बाद तुरंत ही चलने, पढ़ने, परिश्रम या स्नान करनेसे भोजन हजम नहीं होता; बल्कि विकृत होकर स्वास्थ्यकी हानि करता है। इसलिये उस समय आमोद-प्रमोदके लिये अपने सहपाठियोंके साथ विनोद-पूर्वक सात्त्विक वार्तालाप या पाठ्यविषयकी चर्चा करनी चाहिये। फिर आधे या एक घंटे बाद पढ़ाई शुरू कर देनी चाहिये। पढ़ाई समाप्त करनेके बाद कसरत, कुश्ती, कवायद, देशी-विदेशी खेल, दौड़-धूप आदि व्यायाम करना चाहिये। तदनन्तर सायंकालमें शौच-स्नान करके संध्या-गायत्री, पूजा-पाठ तथा हवन आदि नित्यकर्म श्रद्धा, भक्ति और आदरपूर्वक निष्कामभावसे करने चाहिये। नित्यकर्म करते समय उसकी विधि, अर्थ और भावकी ओर विशेष लक्ष्य रखना चाहिये। सायंकालके बाद शास्त्रविधिके अनुसार सात्त्विक, पवित्र और हल्का भोजन करना चाहिये तथा आधा घंटा सात्त्विक चर्चामें समय बिताकर रातको ९ बजेतक पढ़ी हुई विद्याका अनुशीलन करना चाहिये। बालकोंके लिये रात्रिमें ९ से ४ बजेतक सात घंटे शयन करना उचित है। शयन करनेके समय संसारी संकल्पोंके प्रवाहको भुलाकर भगवान्‌के नाम, रूप, गुण, प्रभाव और चरित्रका चिन्तन करते हुए ही शयन करना चाहिये; जिससे कि रात्रिका शयनकाल भी पारमार्थिक विषयमें ही बीते।

उपर्युक्त दिनचर्या विद्यार्थियोंके लिये बहुत ही उत्तम है। इन सब नियमोंका पालन ऋषिकुल, गुरुकुल, ब्रह्मचर्याश्रम, पाठशाला, स्कूल, कालेज आदिमें तथा घरपर रहकर भी किया जा सकता है। ब्रह्म-चर्यका पालन करते हुए घरमें रहे तो भी वह बालक ब्रह्मचारी ही है।

अब सभी बालकोंके लिये विशेष कर्तव्य बतलाये जाते हैं—

बालकोंको चौपड़-तास आदिके खेलने, थियेटर-सिनेमा आदिके देखनेमें अपने मनुष्य-जीवनका अमूल्य समय व्यय नहीं करना चाहिये। इनमें समय व्यर्थ जाता है, इतनी ही बात नहीं, अपना स्वभाव खराब होता है, जिससे अपना भविष्य नष्ट हो जाता है। थियेटर-सिनेमाके देखनेसे शरीरकी तथा नेत्रोंकी ज्योतिकी हानि और पैसोंका व्यर्थ खर्च तो है ही, अश्लील दृश्य देखनेसे वीर्यकी हानि भी होती है, जो कि ब्रह्मचारीके लिये कलङ्क है और जिससे बल, बुद्धि, तेज, ज्ञान और स्वास्थ्यकी भी हानि होती है।

बालकोंको ऐश-आराम, स्वाद-शौक, भोग-विलासका सर्वथा त्याग कर देना चाहिये; क्योंकि ये सब विद्याध्ययनमें बाधक तथा ब्रह्मचर्य-व्रतके पालनमें कलङ्क हैं। किसी भी इन्द्रियका अपने विषयके साथ जो रागपूर्वक संसर्ग है, वह सारे अनर्थोंका मूल है, अतएव सारे विषय-भोगोंको नाशवान्, क्षणभङ्गुर, दुःखरूप और घृणित समझकर त्याग देनेकी चेष्टा करनी चाहिये। श्रीमनुजीने कहा है—

इन्द्रियाणां प्रसङ्गेन दोषमृच्छत्यसंशयम्।
संनियम्य तु तान्येव ततः सिद्धिं नियच्छति॥

(मनु० २। ९३)

'मनुष्य इन्द्रियोंमें आसक्त होकर निःसंदेह दोषको प्राप्त होता है और उनको ही रोककर उस संयमसे सिद्धि प्राप्त कर लेता है।'

कुछ लोग तो यह समझते हैं कि हम विषयोंका उपभोग करके

अपनी लालसा पूर्ण कर लेंगे, उनकी यह समझ ठीक नहीं है। श्रीमनुजी कहते हैं—

न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति।
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्धते॥
(मनु० २।९४)

'नाना प्रकारके भोगोंकी इच्छा विषयोंके उपभोगसे कभी शान्त नहीं होती, बल्कि घृतसे अग्निके समान बार-बार अधिक ही बढ़ती जाती है।'

जैसे फतिंगे क्षणिक सुखके लोभसे दीपकके निकट जाते हैं और अन्तमें समाप्त हो जाते हैं, इसी तरह विषयोंके उपभोगसे मनुष्यको क्षणिक सुख मिलता है; किंतु अन्तमें उसका पतन हो जाता है। इसलिये विवेक, विचार और हठसे चाहे जैसे भी हो, इन्द्रियोंको विषयोंसे रोकना ही चाहिये।

बालकोंको स्त्रियोंका संसर्ग, जूआ, गाली-गलौज, परस्पर लड़ाई-झगड़ा, परनिन्दा, इत्र, तेल, फुलेल, पुष्पमाला, अञ्जन, बालोंका शृङ्गार, नाचना, गाना आदिका सर्वथा त्याग कर देना चाहिये। मनुस्मृतिमें कहा है—

अभ्यङ्गमञ्जनं चाक्ष्णोरुपानच्छत्रधारणम्।
कामं क्रोधं च लोभं च नर्तनं गीतवादनम्॥
द्यूतं च जनवादं च परिवादं तथानृतम्।
स्त्रीणां च प्रेक्षणालम्भमुपघातं परस्य च॥
(२।१७८-१७९)

'ब्रह्मचारी विद्यार्थीको उबटन लगाना, आँखोंको आँजना,

जूते और छत्र धारण करना एवं काम, क्रोध और लोभका आचरण करना तथा नाचना, गाना, बजाना एवं जूआ, गाली-गलौज और निन्दा आदिका करना तथा झूठ बोलना एवं स्त्रियोंको देखना, आलिङ्गन करना और दूसरेका तिरस्कार करना—इन सबका भी (सर्वथा) त्याग कर देना चाहिये ।'

इसी प्रकार विद्यार्थी बीड़ी, सिगरेट, भाँग, तंबाकू आदि मादक वस्तुओंका भी कभी सेवन न करे। ऊपर बतलाये हुए विषयोंके सेवनसे धन, चरित्र, आयु, बल, बुद्धि, आरोग्य तथा इस लोक और परलोककी हानि होती है, इसलिये इन सबका कतई त्याग कर देना चाहिये ।

विद्यार्थी हिंसा, द्रोह, ईर्ष्या, झूठ, कपट, छल-छिद्र, चोरी, बेईमानी, काम, क्रोध, लोभ, मोह आदिका भी सर्वथा त्याग कर दे; क्योंकि इनसे इस लोकमे निन्दा होती है और उसका लोग विश्वास नहीं करते तथा मरनेपर परलोकमे दुर्गति होती है। दुराचार आदि दोषोसे प्रत्यक्षमें ही मनुष्यका पतन हो जाता है ।

मनुजीने कहा है—

दुराचारो हि पुरुषो लोके भवति निन्दितः।
दुःखभागी च सततं व्याधितोऽल्पायुरेव च ॥

(मनु० ४ । १५७)

'दुराचारी पुरुष सदा ही लोकमे निन्दित और दुःख भोगनेवाला तथा रोगी एवं अल्पायु भी होता है ।'

दूसरा कोई गाली दे या निन्दा करे तो बदलेमे न तो गाली देनी चाहिये, न उसका अनिष्ट करना चाहिये, न उसकी निन्दा ही

करनी चाहिये; क्योंकि जो हमारी सच्ची निन्दा करता है, वह तो हमारे गुणोंको ढककर हमे शिक्षा देता है, उससे हमे लाभ ही है, कोई हानि नहीं और यदि कोई हमारी झूठी निन्दा करता है या गाली देता है तो उसके निन्दा करने या गाली देनेसे हमारी इस लोक या परलोकमे कही किंचित् भी हानि हो नहीं सकती; क्योंकि न्यायकारी भगवान्‌के यहाँ अंधेर नहीं है। इसलिये समझदार बालकको दु:ख, चिन्ता, भय, उद्वेग कुछ भी नही करना चाहिये, बल्कि सहन करना चाहिये, जिससे क्षमा, तितिक्षा और आत्मबल बढ़कर अन्तमे परम शान्तिकी प्राप्ति होती है। इसी प्रकार मान और अपमानके विषयमे समझना चाहिये। कल्याणकामी मनुष्यको चाहिये कि वह मानको विषके समान और अपमानको अमृतके समान समझे। मनुजी कहते है—

सम्मानाद् ब्राह्मणो नित्यमुद्विजेत विषादिव।
अमृतस्येव चाकाङ्क्षेदवमानस्य सर्वदा॥
(मनु० २। १६२)

'ब्राह्मणको चाहिये कि सम्मानसे विषके समान नित्य डरता रहे (क्योंकि सम्मानसे अभिमानकी वृद्धि होती है और अभिमान बढ़नेसे बहुत हानि है) और अमृतके समान सदा अपमानकी इच्छा करता रहे अर्थात् तिरस्कार होनेपर खेद न करे।'

परेच्छा या अनिच्छासे कोई भी दु:ख आकर प्राप्त हो, उसमे प्रसन्न ही होना चाहिये। उसमे दु:ख, द्वेष और द्रोह नहीं करना चाहिये। मनुस्मृति कहती है—

नारुन्तुदः स्यादार्तोऽपि न परद्रोहकर्मधीः।
ययास्योद्विजते वाचा नालोक्यां तामुदीरयेत् ॥
(२।१६१)

'आर्त्त होनेपर भी दुखी न हो और न दूसरेसे द्रोह करनेमे बुद्धि लगावे। जिस वाणीसे दूसरेको उद्वेग हो, ऐसी लोकनिन्दित वाणी न बोले।'

कितने ही बालक परीक्षामे अनुत्तीर्ण (फेल) होनेके कारण तथा घरके कलहके कारण एवं देश-विदेशमे घूमनेकी इच्छासे और घरवालोंको तंग करनेके उद्देश्यसे मूर्खतावश घर छोड़कर भाग जाते हैं, इससे उन बालकोंको तो तकलीफ होती ही है, घरवालोको भी बड़ी परेशानी उठानी पड़ती है, रुपये भी खर्च होते है। इसके सिवा बालकोंको घर लौटनेमे घरवालोंका संकोच तथा भय हो जानेसे घर लौटनेमे हिचकिचाहट हो जाती है, जिससे उन्हे भयानक परेशानी उठानी पड़ती है। यह उनकी बेसमझी है। इसलिये कही जाना हो तो घरवालोकी आज्ञा लेकर ही जाना चाहिये। यदि आज्ञा लेकर न जाय तो कम-से-कम घरवालोंको सूचना तो अवश्य ही दे देनी चाहिये। कोई-कोई बेसमझ बालक तो परीक्षामे फेल हो जाने अथवा घरके कलह आदिके दु:खोके कारण आत्महत्या कर बैठते है, जिससे उनके लोक-परलोक दोनों नष्ट हो जाते है तथा मनुष्यका अमूल्य जीवन व्यर्थ चला जाता है। ऐसा करना महामूर्खता है। उनको विचारना चाहिये कि जो दु:ख इस समय है, उससे बहुत अधिक दु:ख विष खाने, जलमें डूबने, आगमे प्रवेश करने और फाँसी लगाकर मरनेमें होता है और मरनेके बाद परलोकमें तो इससे भी भयानक

अतिशय दुःख होता है । शुक्लयजुर्वेदके ४० वे अध्यायके तीसरे मन्त्रमे बतलाया है—

असुर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसाऽऽवृताः ।
ताꣳस्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति ये के चात्महनो जनाः ॥

'असुरोके जो प्रसिद्ध नाना प्रकारकी योनियाँ एवं नरकरूप लोक है, वे सभी अज्ञान तथा अन्धकारसे आच्छादित हैं । जो कोई भी आत्माकी हत्या करनेवाले मनुष्य है, वे मरकर उन्हीं भयंकर लोकोंको बार-बार प्राप्त होते है ।'

अतएव किसीको चाहे जितना भी दुःख हो, किसी भी हालतमें कभी भी आत्महत्या नहीं करनी चाहिये और न घरसे भागना ही चाहिये; बल्कि माता, पिता, गुरुजन और मित्रोंके स्वभाव, रुचि और परिस्थितिको समझकर सहनशील बनना चाहिये; क्योकि मनके विपरीत कार्य उपस्थित होनेपर उसे सहन करनेसे आत्मबल तो बढ़ता ही है, इस लोकमे कीर्ति और परलोकमे उत्तम गति भी मिलती है ।

बालकको चाहिये कि जो कार्य माता-पिता और गुरुजन बतलावें, उसे अवश्यमेव ही करना है—इस प्रकार कर्तव्य-बुद्धिसे उस कार्यको करनेका अपनेपर उत्तरदायित्व समझे और उसे भलीभाँति करे । जो अपने कर्तव्यके विषयमें अपना दायित्व नहीं समझता, उसकी इस लोक और परलोकमे इज्जत नहीं है और उसका कोई विश्वास भी नही करता, इसलिये उसका जीवन व्यर्थ है ।

बालकोंको निष्कामभावसे कुटुम्ब, जाति और देशकी सेवा करनी चाहिये तथा हो सके तो मन, तन, धनसे प्राणिमात्रकी सेवा

करनी चाहिये, किंतु दुःख तो किंचिन्मात्र भी कभी किसीको देना ही नहीं चाहिये। श्रीतुलसीदासजी कहते हैं—

पर हित सरिस धर्म नहिं भाई। पर पीड़ा सम नहिं अधमाई॥
पर हित बस जिन्ह के मन माहीं। तिन्ह कहँ कछु दुर्लभ जग नाहीं॥

स्वयं भगवान् गीतामें कहते हैं—'जो सारे भूतोंके हितमें रत हैं, वे मुझको ही प्राप्त होते हैं।'

'ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रताः।'
(१२।४)

अतएव यथाशक्ति मन, वाणी, शरीर और धनके द्वारा बड़े उत्साहके साथ निःस्वार्थभावसे सब प्राणियोंकी सेवा करनी चाहिये।

सत्यके पालनपर बालकोंको विशेष ध्यान देना चाहिये। जैसा देखा, सुना और समझा हो, उसीके अनुसार निष्कपटभावसे कहना, न उससे अधिक और न कम ही कहना—यही सत्य है तथा वह वाणी सत्यके साथ-साथ मधुर और प्रिय हो। मधुर और प्रिय वही है, जो परिणाममें हितकर हो। मनुजीने कहा है—

सत्यं ब्रूयात् प्रियं ब्रूयान्न ब्रूयात् सत्यमप्रियम्।
प्रियं च नानृतं ब्रूयादेष धर्मः सनातनः॥
(मनु० ४।१३८)

'सत्य बोले, प्रिय बोले, ऐसी वाणी न बोले, जो सत्य तो हो पर अप्रिय हो और न ऐसी ही वाणी बोले, जो प्रिय तो हो किंतु असत्य हो, यही सनातन धर्म है।'

श्रीभगवान्‌ने श्रीमद्भगवद्गीताके सतरहवें अध्यायके १५वें श्लोकमें वाणीका तप बतलाते हुए यह आदेश दिया है—

अनुद्वेगकरं वाक्यं सत्यं प्रियहितं च यत्।

'जो उद्वेग न करनेवाला, प्रिय और हितकारक एवं यथार्थ भाषण है (वह वाणीका तप कहा जाता है)।'

जो बालक असत्य बोलता है, उसका कोई विश्वास नहीं करता, न उसकी इस लोक और परलोकमें प्रतिष्ठा ही होती है। अतएव सत्य, प्रिय, मित और हितभरे वचन बोलना चाहिये तथा सबका विश्वासपात्र बनना चाहिये। जो किसीको धोखा नहीं देता, अपना दायित्व समझता है, कर्तव्यच्युत नहीं है, समय व्यर्थ नहीं बिताता है और गुरुजनोंके इच्छानुसार कार्य करके उनको अपनी आवश्यकता पैदा कर देता है, वही बालक विश्वासपात्र समझा जाता है। ये सब बातें स्वार्थत्यागपूर्वक सेवा करनेसे स्वाभाविक ही हो जाती है। इसलिये हरेक कार्यमें स्वार्थत्याग करके सबकी सेवा करनी चाहिये।

विद्याका अभ्यास

बालक-बालिकाओंके माता-पिता तथा अभिभावकोंको चाहिये कि वे बालकोंको विषय-सुखोंमें आसक्त होनेका अवसर न दें; क्योंकि विषयोंमें सुखकी इच्छा उत्पन्न हो जानेपर बालक यथार्थ विद्याके लाभसे वञ्चित रह जाता है। बुद्धिमान् तरुण-तरुणियोंको भी ऐसा ही समझना तथा करना चाहिये। इस समय अनेक प्रकारकी भाषा और लिपिके ज्ञानकी भी बहुत आवश्यकता हो गयी है। हिंदी, संस्कृत, बँगला, गुजराती, मराठी, गुरुमुखी तथा अपनी प्रान्तीय एवं अंग्रेजी, रूसी और चीनी आदि विदेशी—अनेकों भाषाओं और लिपियोंमेंसे जितनीका ज्ञान हो, उतना ही अच्छा है।

कॉलेज-स्कूलोंकी सहशिक्षा अर्थात् लड़के-लड़कियोका एक साथ पढ़ना बड़ा ही खतरनाक और हानिकारक है। इससे चरित्रनाशकी बहुत आशङ्का है। सहशिक्षाके बहुत अधिक दुष्परिणाम प्रत्यक्ष हो चुके है। इसलिये सहशिक्षाको सर्वथा बंद करके लड़के-लड़कियोको अलग-अलग पाठशालाओमे पढ़ाना चाहिये। तेरह-चौदह वर्षकी या उससे अधिक आयुवाली अविवाहित या विवाहित युवतियोंको तो अपने घरमे रहते हुए ही गृहकार्यके साथ-साथ विद्याका अभ्यास करना चाहिये। वे चाहे नैहर (पीहर) मे रहती हों या ससुरालमे, उनके लिये घरसे बाहर जाकर स्कूलो, कॉलिजोमें पढ़ाई करना सर्वथा हानिकर है; क्योकि उच्च कक्षाओंमे अध्यापक प्रायः पुरुष ही रहते है, इसलिये भी उनके संसर्गसे उच्छृङ्खलताकी वृद्धि और चरित्रहीनताकी सम्भावना है। ऐसी अनेक घटनाएँ हुई भी सुनी जाती है।

बालक-बालिकाओको ऐसा शृङ्गार भी नही करना चाहिये, जिसे देखकर मनमे विकार उत्पन्न हो; सौन्दर्य, सजावट, शौकीनी आदि शृङ्गारकी भावनाओके उत्पन्न होनेसे मनोविकार बढ़ता है और चरित्रका नाश हो जाता है।

पाठ्यक्रममें भी शृङ्गार, अश्लीलता, अभक्ष्यभक्षण तथा नास्तिकताका वर्णन करनेवाली तथा इनको प्रोत्साहित करनेवाली पुस्तके नही रखनी चाहिये और नही पढनी चाहिये; इससे सभी प्रकारकी बड़ी भारी हानि है। अतः जिन पुस्तकोंके अध्ययनसे बालक-बालिकाओंकी भौतिक, बौद्धिक, व्यावहारिक, सामाजिक, धार्मिक, नैतिक और आध्यात्मिक उन्नति हो, उनमे सभ्यता, शिष्टाचार, विनय, सेवा, संयम, बल, तेज, सद्गुण-सदाचार, विवेक और ज्ञान बढ़े तथा बुद्धि तीक्ष्ण

हो, ऐसी उत्तम शिक्षासे युक्त पुस्तकें ही पढ़ानी चाहिये।

यह विद्याका अभ्यास लड़कियोंको चौदह वर्ष तथा लड़कोंको अठारह वर्षकी आयु होनेके तथा विवाहके पूर्व ही कर लेना चाहिये। आजकलके असंयमपूर्ण विलासी वातावरणमें विवाहके लिये विलम्ब करनेसे बालिकाओं और बालकोंके चरित्र कुसङ्गके कारण बिगड़ जाते हैं, अतः इस समय अठारह वर्षके बाद बालकका और चौदह वर्षके पूर्व ही लड़कीका विवाह कर देना चाहिये। लड़का ब्रह्मचर्यपालनके लिये आग्रह करे और विवाह करनेका घोर विरोध करे तो ऐसी स्थितिमें बीस वर्षके बाद भी लड़केका विवाह किया जाय तो कोई हानि नहीं। आजकल स्कूल-कॉलेजोंमें वर्षमें प्रायः छः महीने छुट्टियोंमें चले जाते हैं, जिनमें विद्यार्थियोंका समय नष्ट होता है और वे व्यर्थ इधर-उधर भटकते हैं। यह समय यदि पढ़ाईमें लगाया जाय तो इस समय जो पढ़ाई २० वर्षकी अवस्थामें पूरी होती है, वही १६ वर्षकी अवस्थामें पूरी हो सकती है। ऐसा करनेपर अठारह वर्षतक काफी पढ़ाई होना सम्भव है। बालकोंको अठारह वर्षकी आयु होनेके बाद न्याययुक्त व्यवसायका कार्य, अपनी जातिके अनुसार जीविकाका कार्य मन लगाकर अवश्य करना चाहिये। काम करते हुए ही साथमें विद्याका अभ्यास भी किया जाय तो और भी उत्तम है; क्योंकि विवाह होनेके पश्चात् विद्याध्ययनमें मन विशेष नहीं लगता, इसलिये न्याय-युक्त जीविकाके काममें मन लगाना चाहिये। जो किसी विशेष प्रकारकी उच्च शिक्षा प्राप्त करना चाहें, वे विवाहके अनन्तर भी कर सकते हैं; पर साधारणतया जीविकाके कार्यमें ही लगना उत्तम है।

जो बाल्य-अवस्थामें विद्याका अभ्यास नहीं करता, उसको सदा-

के लिये पश्चात्ताप करना पड़ता है। शास्त्रोंने विद्याकी बड़ी भारी महिमा गायी है। श्रीभर्तृहरिजी कहते हैं—

विद्या नाम नरस्य रूपमधिकं प्रच्छन्नगुप्तं धनं
विद्या भोगकरी यशःसुखकरी विद्या गुरूणां गुरुः।
विद्या बन्धुजनो विदेशगमने विद्या परा देवता
विद्या राजसु पूज्यते न हि धनं विद्याविहीनः पशुः॥

(नीतिशतक १६)

'विद्या ही मनुष्यका अधिक-से-अधिक रूप और ढका हुआ गुप्त धन है, विद्या ही भोग, यश और सुखको देनेवाली है तथा विद्या गुरुओंकी भी गुरु है। विदेशमें गमन करनेपर विद्या ही बन्धुके समान सहायक हुआ करती है। विद्या परा देवता है, राजाओंके यहाँ भी विद्याकी ही पूजा होती है, धनकी नहीं। इसलिये जो मनुष्य विद्यासे हीन है, वह पशुके समान है।'

चाणक्यनीतिमें कहा है—

कामधेनुगुणा विद्या ह्यकाले फलदायिनी।
प्रवासे मातृसदृशी विद्या गुप्तं धनं स्मृतम्॥

(४।५)

'विद्यामें कामधेनुके समान गुण है, यह अकालमें भी फल देनेवाली है; यह विद्या मनुष्यका गुप्त धन समझी गयी है। विदेशमें यह माताके समान (मदद करती) है।'

किसी अन्य कविने कहा है—

न चौरहार्यं न च राजहार्यं
न भ्रातृभाज्यं न च भारकारि।
व्यये कृते वर्धत एव नित्यं
विद्याधनं सर्वधनप्रधानम्॥

'विद्याको चोर या राजा नहीं छीन सकते। भाई इसका बँटवारा नही करा सकते, इसका कुछ बोझा भी नहीं लगता तथा दान करनेसे यानी दूसरोंको पढ़ानेसे यह विद्या नित्य बढ़ती ही रहती है; अतः विद्यारूपी धन सब धनोंमे प्रधान है।'

बालक-बालिकाओंको पढ़नेके समय झुककर या पसरकर नहीं पढ़ना चाहिये तथा रात्रिमे बिजलीकी तेज रोशनीके सामने भी नहीं पढ़ना चाहिये; क्योंकि इन सबसे नेत्रोंकी ज्योतिकी हानि होती है। इसी कारण वर्तमानमे स्कूल-कॉलिजोमे पढ़नेवाले बहुत-से बालक-बालिकाओं-मे नेत्रदोष आ जाता है और उन्हें अकालमे ही चश्मे लगाने पड़ते हैं।

ब्रह्मचर्यका पालन

वास्तवमे ब्रह्मचर्य शब्दका अर्थ है—ब्रह्मके स्वरूपमें विचरण करना यानी ब्रह्मके स्वरूपका मनन करना। जिसका मन नित्य-निरन्तर सच्चिदानन्द ब्रह्ममे विचरण करता है, वही सच्चा ब्रह्मचारी है। इसमे प्रधान आवश्यकता है—शरीर, इन्द्रियाँ, मन और बुद्धिके बलकी। यह बल प्राप्त होता है—वीर्यकी रक्षासे। इसलिये सब प्रकारसे वीर्यकी रक्षा करना ही ब्रह्मचर्यव्रतका पालन करना कहा जाता है। अतः बालकोंको चाहिये कि न तो ऐसी कोई क्रिया करें, न ऐसा सङ्ग ही करे तथा न ऐसे पदार्थोंका सेवन ही करे कि जिससे वीर्यकी हानि हो।

सिनेमा-थियेटरोमे प्रायः कुत्सित दृश्य दिखाये जाते है, इस-लिये बालक-बालिकाओको सिनेमा-थियेटर कभी नहीं देखना चाहिये और सिनेमा-थियेटरमे नट-नटी तो कभी बनना ही नहीं चाहिये।

इस विषयके साहित्य, विज्ञापन और चित्रोंको भी नहीं देखना-पढ़ना चाहिये; क्योंकि इसके प्रभावसे स्वास्थ्य और चरित्रकी बड़ी भारी हानि होती है और दर्शकका घोर पतन हो सकता है।

लड़के-लड़कियोंका परस्परका संसर्ग भी ब्रह्मचर्यमे बहुत घातक है। अतः इस प्रकारके संसर्गका भी त्याग करना चाहिये तथा लड़के भी दूसरे लड़को तथा अध्यापकोके साथ गंदी चेष्टा, संकेत, हँसी-मजाक और बातचीत करके अपना पतन कर लेते है, इससे भी लड़कोंको बहुत ही सावधान रहना चाहिये। लड़के-लड़कियोंको न तो परस्परमे किसीको देखना चाहिये, न कभी अश्लील बातचीत ही करनी चाहिये और न हँसी-मजाक ही करना चाहिये; क्योकि इससे मनोविकार उत्पन्न होता है। प्रत्यक्षकी तो बात ही क्या, सुन्दरताकी दृष्टिसे चित्रमे लिखी हुई स्त्रीके चित्रको पुरुष और पुरुषके चित्रको कन्या कभी न देखे। पुरुषको चाहिये कि माता-बहिन और पुत्री ही क्यों न हो, एकान्तमे तो कभी उनके साथ रहे ही नही। श्रीमनुजी कहते है—

मात्रा स्वस्रा दुहित्रा वा न विविक्तासनो भवेत्।
बलवानिन्द्रियग्रामो विद्वांसमपि कर्षति॥

(मनु० २। २१५)

'माता, बहिन या लड़कीके साथ भी एकान्तमें न बैठे; क्योकि इन्द्रियोंका समूह बड़ा बलवान् है, वह विद्वान्‌को भी अपनी ओर खीच लेता है।' ऐसे ही स्त्रीको भी अपने पिता, भाई और युवा पुत्रके पास भी एकान्तमे नही बैठना चाहिये।

बालकोको आठ प्रकारके मैथुनोका सर्वथा त्याग कर देना

चाहिये । शास्त्रोंमें आठ प्रकारके मैथुन इस प्रकार बतलाये हैं—

स्मरणं कीर्तनं केलिः प्रेक्षणं गुह्यभाषणम् ।
संकल्पोऽध्यवसायश्च क्रियानिष्पत्तिरेव च ॥

'स्त्रीका स्मरण, स्त्रीसम्बन्धी बातचीत, स्त्रियोंके साथ खेलना, स्त्रियोंको देखना, स्त्रीसे गुप्त भाषण करना, स्त्रीसे मिलनेका निश्चय करना और संकल्प करना तथा स्त्रीसङ्ग करना—ये आठ प्रकारके मैथुन माने गये हैं ।'

जिस प्रकार बालकोंके लिये बालिका या स्त्रियोंका स्मरण आदि त्याज्य है, वैसे ही बालिकाओंके लिये पुरुषों और बालकोंके स्मरण आदि त्याज्य है । यदि कहें कि 'इनमें और सब बातोंका तो परहेज किया जा सकता है; किंतु समयपर बातचीत तो करनी ही पड़ती है' सो ठीक है । लड़कीका कर्तव्य है कि किसी पुरुष या बालकसे आवश्यक बात करनेका काम पड़े तो नीची दृष्टि करके उसे पिता या भाईके समान समझकर शुद्ध भावसे बात करे तथा बालकको चाहिये कि किसी स्त्री या लड़कीसे आवश्यक बात करनेका काम पड़े तो नीची दृष्टि करके उसे माता या बहिनके समान समझकर शुद्ध भावसे बात करे ।

मनमें विकार पैदा करनेवाले वेषभूषा, साज-शृङ्गार, तेल-फुलैल, केश-विन्यास, गहने-कपड़े, फैशन आदिका विद्यार्थी बालक-बालिका सर्वथा त्याग कर दें । ऐसी संस्थाओं, स्थानों, नाट्य-गृहों, उत्सवस्थलों, क्लबों, पार्टियों, भोजों, भोजनालयों, होटलों और उद्यानोंमें भी न जायँ, जहाँ विकार उत्पन्न होनेकी तथा खान-पान और चरित्र भ्रष्ट

होनेकी जरा भी आशङ्का हो। सदा सादगीसे रहे और पवित्र सादा भोजन करे। इस प्रकार बालक-बालिकाओंको ऊपर बताये हुए नियमोंका आचरण करते हुए ब्रह्मचर्यका पालन करना चाहिये।

श्रीहनुमान्‌जीने आजीवन ब्रह्मचर्यका पालन किया, जिसके प्रभावसे वे बड़े ही धीर, वीर, तेजस्वी, ज्ञानी, विरक्त, भगवान्‌के भक्त, विद्वान् और बुद्धिमान् हुए। वाल्मीकीय रामायणके किष्किन्धाकाण्डमें आया है, जब श्रीहनुमान्‌जीकी श्रीराम-लक्ष्मणसे भेंट हुई, उस समय श्रीहनुमान्‌जीकी बातें सुनकर श्रीरामचन्द्रजीका मुख प्रसन्नतासे खिल उठा और वे लक्ष्मणसे कहने लगे—'लक्ष्मण! ये वानरराज सुग्रीवके मन्त्री है और उन्हीके हितकी इच्छासे यहाँ मेरे समीप आये है। ये वाक्यरचनाको जाननेवाले है। ये व्याकरणके भी पण्डित हैं, क्योंकि बहुत-सी बातें बोल जानेपर भी इनके शब्दोंमें कही अशुद्धि नहीं आयी।' श्रीहनुमान्‌जी बहुत ही बुद्धिमान्, पण्डित, छन्द और काव्यके ज्ञाता तथा उच्चकोटिके विद्वान् थे। महान् संगीतज्ञ थे। वे योगकी सिद्धियोंके भी ज्ञाता थे, जिनके प्रभावसे वे महान्-से-महान् और सूक्ष्म-से-सूक्ष्म रूप धारण कर लिया करते थे। यह बात उनके चरित्रसे सिद्ध होती है। लङ्का जाते समय उन्होने विशाल रूप धारण किया और सौ योजनके समुद्रको लाँघकर लङ्कापुरीमे प्रवेश करते समय मच्छरके समान सूक्ष्म रूप धारण कर लिया। वे बड़े भारी वीर और बलवान् भी थे। इसे बतानेवाले बहुत-से उदाहरण संसारमे प्रसिद्ध है। अक्षयकुमारको मार देना, रावणको मूर्छित कर देना, संजीवनी बूटीके लिये सूर्योदयके पूर्व ही द्रोणगिरिको उखाड़कर ले आना आदि घटनाएँ रामायणादि

ग्रन्थोंमें मिलती है। श्रीरामजीके यज्ञीय अश्वकी रक्षाके समय, राजा वीरमणिके दोनों पुत्रोंको रथसहित पूँछमें लपेटकर पृथ्वीपर पटक देना, शिवजीके त्रिशूलको तोड़ डालना और उनको अपनी पूँछमें लपेटकर मारने लगना, वीरभद्रके द्वारा मारे हुए पुष्कलको द्रोणपर्वतसे संजीवनी लाकर जिला देना आदि श्रीहनुमान्‌जीके वीरतापूर्ण लोकोत्तर कार्योंका वर्णन पद्मपुराणके पातालखण्डमें मिलता है। हनुमान्‌जी श्रीभगवान्‌के अलौकिक भक्त हैं, यह तो सर्वप्रसिद्ध है ही। हनुमान्‌जीकी इस लोकोत्तर प्रतिभामें भगवान्‌की अनन्य भक्ति और ब्रह्मचर्य ही सर्वप्रधान कारण है। आज भी बल-वर्द्धनके लिये व्यायाम करनेवाले लोग 'महावीर' के नामका स्मरण करते हैं और 'महावीर' के नामसे दल बनाते और अखाड़े खोलते हैं।

भीष्मपितामहने आजीवन ब्रह्मचर्यका पालन किया था, यह बात महाभारतके आदिपर्वसे सिद्ध होती है। दासराजके यहाँ जाकर अपने पिताके लिये सत्यवतीको लानेके समय भीष्मने अपने राज्यके अधिकारका त्याग किया और आजीवन विवाह न करनेकी प्रतिज्ञा करके आजीवन ब्रह्मचर्यका पालन किया, इससे संतुष्ट होकर उनके पिता शान्तनुने उनको वरदान दिया कि 'तुम्हारी इच्छाके बिना तुम्हें मृत्यु नहीं मार सकेगी।' भीष्मजी अपने भाई विचित्रवीर्यके लिये काशिराजकी सभामें जाकर सब राजाओंको पराजितकर स्वयंवरसे राजकन्या अम्बा, अम्बिका और अम्बालिकाका हरण कर लाये। यह दुष्कर कर्म केवल अकेले भीष्मने किया और जब अम्बाका पक्ष लेकर परशुरामजी आये, तब उनके साथ तेईस दिन घोर युद्ध करके परशुरामजीको युद्धमें छका दिया। परशुरामजी-जैसे

महान् अस्त्रधर त्रैलोक्यविजयी वीर भी दुर्धर्ष भीष्मको पराजित न कर सके। अर्जुनद्वारा बाणसे भीष्मका पृथ्वीपर गिराया जाना—यह केवल भीष्मकी इच्छासे ही हुआ। वास्तवमे भीष्मको पराजित करनेवाला शास्त्रोमें कहीं देखने-सुननेमे नहीं आया। भीष्म केवल वीर ही नहीं थे, वे शास्त्रोके ज्ञाता, पण्डित और उच्चकोटिके अनुभवी सद्गुणी सदाचारी ज्ञानी महात्मा महापुरुष थे, जिन्होने भगवान् श्रीकृष्णके आग्रह करनेपर शरशय्यापर पड़े हुए ही धर्मराज युधिष्ठिरको राजनीति, धर्म और अध्यात्म आदि विषयोंका विस्तारपूर्वक उपदेश किया। महाभारतके शान्ति और अनुशासनपर्व इसी भीष्मोपदेशसे भरे हुए है।

भीष्मजी भगवान् श्रीकृष्णके अनन्यप्रेमी परम भक्त भी थे। महाभारतके शान्तिपर्वके ४५ और ४६ वें अध्यायोमे यह बात आती है कि जब वे शरशय्यापर शयन किये हुए थे, उस समय वे भगवान् श्रीकृष्णका ध्यान कर रहे थे तो इधर श्रीकृष्ण भी इनका ध्यान कर रहे थे।

इसमे ब्रह्मचर्यपालन एक प्रधान कारण है। यदि आजीवन ब्रह्मचर्यका पालन न हो सके तो आजकलके समयके अनुसार अठारह वर्षतक तो बालकोंको अवश्य ही ब्रह्मचर्यका पालन करना चाहिये। इससे पूर्व ब्रह्मचर्य खण्डित होनेसे शीघ्र ही बल, बुद्धि, तेज, आयु और स्मृतिका क्षय हो जाता है और रोगोंका शिकार होकर शीघ्र ही कालके मुखका ग्रास बनना पड़ता है। यह बात शास्त्रसङ्गत तो है ही, युक्तिसङ्गत भी है; गम्भीरतासे

सोचनेपर प्रत्यक्ष अनुभवमें भी आती है। अतएव ब्रह्मचर्यका कभी खण्डन न हो, इसके लिये विशेष ध्यान देना चाहिये; क्योंकि ब्रह्मचर्यके पालनसे बल, बुद्धि, वीर्य, तेज, स्मृति, धीरता, वीरता और गम्भीरताकी वृद्धि होकर उत्तम कीर्ति होती है तथा ईश्वरकी कृपासे ज्ञान, वैराग्य, भक्ति और सद्गुण-सदाचारकी तथा परम शान्ति और परमानन्दकी प्राप्ति भी हो सकती है। प्राचीन कालमें परमात्माकी प्राप्तिके लिये ब्रह्मचारीगण ब्रह्मचर्यका पालन करते थे। कठोपनिषद्में बतलाया है—

यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति तत्ते पदं संग्रहेण ब्रवीम्योमित्येतत्॥
(१।२।१५)

'जिस परमपदकी इच्छा रखनेवाले ब्रह्मचारी ब्रह्मचर्यका पालन करते हैं, उसको मैं तुम्हें संक्षेपसे बताता हूँ—'ओम्' यही वह पद है।'

इसलिये बालकोंको ब्रह्मचर्यके पालनपर विशेष ध्यान देना चाहिये।

माता-पिताकी सेवा

बालकोंके लिये अपने माता-पिताकी सेवा करना परम कर्तव्य और अत्यन्त आवश्यक है। इनकी सेवा करनेसे महान् लाभ और न करनेसे महान् हानि है। जिनके माता-पिता जीवित हैं, चाहे उनकी कितनी ही उम्र क्यों न हो, माता-पिताके आगे वे बालक ही हैं।

अतः सबको माता-पिताकी सेवाका लाभ उठाना चाहिये। सेवासे अभिप्राय है—तन, मन, धनद्वारा आदरसे सेवा-शुश्रूषा-पूर्वक उनको सुख पहुँचाना, उनकी आज्ञाका पालन करना, उनके संकेत और मनकी रुचिके अनुसार आचरण करना तथा उनके चरणोंमें नमस्कार करना; क्योंकि बालकके पालन-पोषण और विवाह

(शादी) आदि कार्योंमें माता-पिता महान् क्लेश सहते है तथा मरनेपर अपना सर्वस्व पुत्रोंको देकर जाते है; ऐसे परम हितैषी माता-पिताको जो त्याग देता है अथवा उनकी सेवा नहीं करता, वह घोर नरकमें जाता है। पद्मपुराणके भूमिखण्डमें बतलाया है—

पितरौ विकलौ दीनौ वृद्धौ दुःखितमानसौ॥
महागदेन संतप्तौ परित्यजति पापधीः।
स पुत्रो नरकं याति दारुणं कृमिसंकुलम्॥
वृद्धाभ्यां यः समाहूतो गुरुभ्यामिह साम्प्रतम्।
न प्रयाति सुतो भूत्वा तस्य पापं वदाम्यहम्॥
विष्ठाशी जायते मूढो ग्रामघोणी न संशयः।
यावज्जन्मसहस्रं तु पुनः श्वा चाभिजायते॥
पितरौ कुत्सते पुत्रः कटुकैर्वचनैरपि।
स च पापी भवेद् व्याघ्रः पश्चादृक्षः प्रजायते॥
मातरं पितरं पुत्रो न नमस्यति पापधीः।
कुम्भीपाके वसेत्तावद्यावद्युगसहस्रकम्॥

(६३। ४—७, ११, १२)

'जो किसी अङ्गसे हीन, दीन, वृद्ध, दुखी तथा महान् रोगसे पीड़ित माता-पिताको त्याग देता है, वह पापात्मा पुत्र कीड़ोसे भरे हुए दारुण नरकमे पड़ता है। जो पुत्र होकर बूढ़े मा-बापके बुलानेपर भी उनके पास नहीं जाता, उसके पापका परिणाम बताता हूँ। वह मूर्ख अवश्य विष्ठा खानेवाला ग्रामसूकर होता है तथा फिर हजार जन्मोतक उसे कुत्तेकी योनिमे जन्म लेना पड़ता है। जो पुत्र कड़वे वचनोद्वारा भी माता-पिताकी भर्त्सना करता है, वह पापी बाघकी योनिमे जन्म लेता है, तत्पश्चात् रीछ होता है। जो पापबुद्धि पुत्र

माता-पिताको प्रणाम नहीं करता, वह हजार युगोंतक कुम्भीपाक नरकमें निवास करता है।'

इसलिये मनुष्यको अपने आत्माके सुधार और कल्याणके लिये जितनी भी बन पड़े, अधिक-से-अधिक उनकी सेवा और आज्ञा-पालन करना चाहिये तथा उनके चरणोंमें नित्य नमस्कार करना चाहिये।

माता-पिताकी सेवाके विषयमे शास्त्रोंमें बड़ा भारी माहात्म्य लिखा है। केवल माता-पिताकी सेवासे ही मनुष्य परमात्माको प्राप्त हो जाता है। कहीं-कहीं तो यह बात आती है कि उसे तीनों कालोंका ज्ञान भी हो जाता है। पद्मपुराणके सृष्टिखण्डके ४७ वें अध्यायमें एक बड़ी सुन्दर कथा आती है, वह यहाँ लिखी जाती है—

पूर्वकालमें नरोत्तम नामके एक ब्राह्मण थे। वे अपने माता-पिताका अनादर करके तीर्थसेवनके लिये चल दिये। सब तीर्थोंमें घूमते हुए उनके वस्त्र तपके प्रभावसे प्रतिदिन आकाशमें ही सूखते थे। इससे उनके मनमे बड़ा भारी अहंकार हो गया। वे समझने लगे, मेरे समान पुण्यात्मा और महायशस्वी दूसरा कोई नहीं है। एक दिन वे मुख ऊपर किये यही बात कह रहे थे कि इतनेमें एक बगुलेने उनके मुँहपर बीट कर दी। तब ब्राह्मणने क्रोधमे आकर उसे शाप दे दिया, जिससे बेचारा बगुला भस्म होकर जमीनपर गिर पड़ा। बगुलेकी मृत्यु होते ही नरोत्तमके मनमे बड़ा भारी मोह व्याप्त हो गया। उसी पापके कारण तबसे उनके वस्त्र आकाशमें नहीं ठहरते थे। यह जानकर उन्हे बड़ा दुःख हुआ। तब आकाशवाणीने

भक्त पुण्डलीककी मातृ-पितृ-भक्ति

कहा—'ब्राह्मण ! तुम परम धर्मात्मा मूक चाण्डालके पास जाओ । वहाँ जानेसे तुम्हें धर्मका ज्ञान होगा । उसका वचन तुम्हारे लिये कल्याणकारी होगा ।'

यह आकाशवाणी सुनकर ब्राह्मण मूक चाण्डालके घर गये । वहाँ जाकर उन्होने देखा कि वह चाण्डाल सब प्रकारसे अपने माता-पिताकी सेवामें लगा है । जाड़ेके दिनोंमें वह अपने मा-बापको स्नानके लिये गरम जल देता, उनके शरीरमे तेल मलता, तापनेके लिये अँगीठी जलाता, भोजनके बाद पान खिलाता और रूईदार कपड़े पहननेको देता था । प्रतिदिन भोजनके लिये मिष्टान्न परोसता और वसंत-ऋतुमें सुगन्धित माला पहनाता था । इनके सिवा, और भी जो भोग-सामग्रियाँ प्राप्त होतीं, उन्हे देता और भाँति-भाँतिकी आवश्यकताएँ पूर्ण किया करता था । ग्रीष्मकालमे प्रतिदिन माता-पिताको पंखा झलता था । इस प्रकार नित्यप्रति उनकी सेवा करके उनको भोजन कराकर ही वह भोजन करता था । माता-पिताकी थकावट और कष्टका निवारण करना उसका सदाका नियम था । इन पुण्यकर्मोंके कारण चाण्डालका घर बिना किसी आधार और खम्भेके ही आकाशमे स्थित था । उसके घरमे त्रिभुवनके स्वामी भगवान् श्रीहरि मनोहर ब्राह्मणका रूप धारण किये नित्य विराजते थे । यह सब देखकर नरोत्तम ब्राह्मणको बड़ा विस्मय हुआ । उन्होने मूक चाण्डालसे कहा—'तुम मेरे पास आओ, मै तुमसे सम्पूर्ण लोकोंके सनातन हितकी बात पूछता हूँ, उसे ठीक-ठीक बताओ ।'

मूक चाण्डाल बोला—'विप्र ! इस समय मै माता-पिताकी सेवा

कर रहा हूँ। आपके पास कैसे आऊँ? इनकी पूजा करके आपकी आवश्यकता पूर्ण करूँगा, तबतक मेरे दरवाजेपर ठहरिये।' चाण्डालके इतना कहते ही ब्राह्मण देवता क्रोधमे भर गये और बोले—'मुझ ब्राह्मणकी सेवा छोड़कर तुम्हारे लिये कौन-सा कार्य बड़ा हो सकता है?'

चाण्डालने कहा—'आप कोप क्यो करते हैं, मै बगुला नहीं हूँ। अब आपकी धोती न तो आकाशमे सूखती है और न ठहर ही पाती है। अतः आकाशवाणी सुनकर आप मेरे घरपर आये है। थोड़ी देर ठहरिये तो मै आपके प्रश्नका उत्तर दूँगा; अन्यथा पतिव्रता स्त्रीके पास जाइये।'

तदनन्तर चाण्डालके घरसे ब्राह्मणरूपधारी भगवान् विष्णुने निकलकर नरोत्तम ब्राह्मणसे कहा—'चलो, मै पतिव्रता देवीके घर चलता हूँ।' नरोत्तम कुछ सोचकर उनके साथ चल दिये।

इस कथासे माल्रूम होता है कि मूक चाण्डाल माता-पिताका महान् भक्त था। माता-पिताकी सेवाके प्रभावसे उसे तीनों कालोंका ज्ञान था और वह अन्तमे स्वयं तो माता-पिताके सहित परम धाममें चला ही गया, उसके घरमे बसनेवाले जीव-जन्तु भी परम धाममे चले गये।

मर्यादापुरुषोत्तम स्वयं भगवान् श्रीरामचन्द्रजीने माता-पिताकी सेवा करके जीवोंके कल्याणके लिये एक उच्च कोटिका आदर्श उपस्थित किया है; जिनकी कथा तुलसीकृत, अध्यात्म और वाल्मीकीय रामायणोंमे तथा पद्मपुराण और महाभारत आदि शास्त्रोंमे प्रसिद्ध है।

पिताको दुखी देखकर जब श्रीरामजीने माता कैकेयीसे उनके दुःखका कारण पूछा, तब उसने कहा कि 'राजाके मनमे एक बात

है, परंतु वे तुम्हारे डरसे कहते नहीं, तुम इन्हे बहुत प्यारे हो, तुम्हारे प्रति इनके मुखसे अप्रिय वचन नहीं निकलते। इन्होंने जिस कार्यके लिये मुझसे प्रतिज्ञा की है, तुमको वह अवश्य ही करना चाहिये। यदि तुम उनकी आज्ञाका पालन कर सको तो मै तुम्हे सारी बाते बता दूँ। इसके उत्तरमे श्रीरामने कहा—

अहो धिङ् नार्हसे देवि वक्तुं मामीदृशं वचः।
अहं हि वचनाद् राज्ञः पतेयमपि पावके॥
भक्षयेयं विषं तीक्ष्णं पतेयमपि चार्णवे।
(वा० रा० २।१८।२८-२९)

'अहो! मुझे धिक्कार है। हे देवि! आपको ऐसी बात मुझे नहीं कहनी चाहिये; क्योंकि मै महाराजा पिताकी आज्ञासे आगमे कूद सकता हूँ, तीक्ष्ण विष भी खा सकता हूँ और समुद्रमे भी कूद सकता हूँ!'

अध्यात्मरामायणमे तो यहाँतक कह दिया कि—

पित्रर्थे जीवितं दास्ये पिबेयं विषमुल्बणम्॥
सीतां त्यक्ष्येऽथ कौसल्यां राज्यं चापि त्यजाम्यहम्।
अनाज्ञप्तोऽपि कुरुते पितुः कार्यं स उत्तमः॥
उक्तः करोति यः पुत्रः स मध्यम उदाहृतः।
उक्तोऽपि कुरुते नैव स पुत्रो मल उच्यते॥
अतः करोमि तत् सर्वं यन्मामाह पिता मम।
सत्यं सत्यं करोम्येव रामो द्विर्नाभिभाषते॥
(२।३।५९—६२)

'पिताजीके लिये मै जीवन दे सकता हूँ, हलाहल जहर पी सकता हूँ। राज्यको तो मै त्याग ही रहा हूँ, पत्नी सीताको और माता कौसल्याको भी त्याग सकता हूँ। जो पुत्र आज्ञा न मिलनेपर भी

पिताके मनके और संकेतके अनुकूल कार्यको करता है, वह उत्तम और जो कहनेपर करता है, वह मध्यम कहा गया है; किंतु जो कहनेपर भी नहीं करता, वह पुत्र तो 'मल' ही कहा जाता है। इसलिये मेरे पिताजीने मेरे लिये जो कुछ कहा है, वह सभी मैं करूँगा। आपसे मैं सत्य-सत्य कहता हूँ, मैं उसे अवश्य करूँगा। राम कभी दो बात नहीं कहता।'

इसके बाद श्रीराम माता कौसल्याके भवनमें गये और उनसे प्रसन्नतापूर्वक अपने वन जानेका वृत्तान्त कहा। उनके वचन सुनकर माता कौसल्याको बहुत दुःख और उद्वेग हुआ। वे बोलीं—

पिता गुरुर्यथा राम तवाहमधिका ततः।
पित्राऽऽज्ञप्तो वनं गन्तुं वारयेयमहं सुतम्॥
यदि गच्छसि मद्वाक्यमुल्लङ्घ्य नृपवाक्यतः।
तदा प्राणान् परित्यज्य गच्छामि यमसादनम्॥
(अध्यात्म० २। ४। १२-१३)

'राम! जिस प्रकार तुम्हारे लिये पिता बड़े हैं, उनसे भी बढ़कर मैं तुम्हारे लिये बड़ी हूँ। वन जानेकी पिताने आज्ञा दी है तो मैं तुझ पुत्रको मना कर रही हूँ। यदि तुम मेरे वचनोंका उल्लङ्घन करके राजाके वाक्यसे वनको जाओगे तो मैं प्राण त्याग करके मर जाऊँगी।'

वाल्मीकीय रामायणमें कहा है—

यदि त्वं यास्यसि वनं त्यक्त्वा मां शोकलालसाम्।
अहं प्रायमिहासिष्ये न च शक्ष्यामि जीवितुम्॥
ततस्त्वं प्राप्स्यसे पुत्र निरयं लोकविश्रुतम्।
(२। २१। २७-२८)

'यदि तुम शोकविह्वल मुझको छोड़कर वन चले जाओगे तो मै यहाँ आहार नहीं करूँगी, जिससे जीवित नहीं रह सकूँगी। पुत्र! तब तुम लोकप्रसिद्ध (स्थानविशेष) नरकको प्राप्त होओगे।'

इसपर भगवान् श्रीरामने कहा—

नास्ति शक्तिः पितुर्वाक्यं समतिक्रमितुं मम।
प्रसादये त्वां शिरसा गन्तुमिच्छाम्यहं वनम्॥

(वा० रा० २ । २१ । ३०)

'माताजी! मै सिर नवाकर आपसे क्षमा माँगता हूँ, मुझमें पिताकी आज्ञाका उल्लङ्घन करनेकी सामर्थ्य नहीं है; अतः मै वनको ही जाना चाहता हूँ।' (आप प्रसन्नतापूर्वक मुझे आज्ञा दें।)

यहाँ श्रीतुलसीकृत रामायणमे माता कौसल्या धर्मशास्त्रके अनुसार केवल पिताकी आज्ञा ही हो तो वनमें न जानेके लिये कह रही है और यदि पिता दशरथ और माता कैकेयी दोनोंकी आज्ञा हो तो वन जानेकी अनुमति दे रही है—

जौं केवल पितु आयसु ताता। तौ जनि जाहु जानि बडि माता॥
जौं पितु मातु कहेउ बन जाना। तौ कानन सत अवध समाना॥

फिर वे कहने लगीं—'रघुनन्दन! अब मै तुम्हे रोक नहीं सकती। तुम इस समय जाओ, सत्पुरुषोके मार्गपर स्थिर रहो और शीघ्र ही वनसे लौट आओ। तुम नियमपूर्वक प्रसन्नतासे जिस धर्मका पालन करते हो, वही तुम्हारी रक्षा करे। महर्षियोके साथ सब देवता तुम्हारी रक्षा करें।'

इस प्रकार माताकी आज्ञा और आशीर्वाद लेकर भगवान्

श्रीराम प्रसन्नवदन हो वनमे चले गये । धन्य है, उनकी मातृ-पितृ-सेवा और आज्ञापालन ! जो मनुष्य उनका अनुकरण करता है, वह भी धन्य है; उसके उद्धारमे कोई भी शङ्का नहीं । भगवान्‌के तो नाम और स्वरूपके स्मरणसे ही कल्याण हो जाता है, फिर उनके अनुकरणसे कल्याण हो जाय इसमे तो कहना ही क्या है ?

अतएव बालकोंको उचित है कि माता-पिताकी सेवाको परम धर्म मानकर उनकी सेवामे सब प्रकारसे सदा तत्पर रहें । मन, वाणी और शरीरसे सदा उनके अनुकूल चेष्टा करना, नित्य नमस्कार और परिक्रमा करना, चरणोंका प्रक्षालन करना और उनकी आज्ञाका पालन करना आदि सेवाकी शास्त्रोंमे बड़ी भारी महिमा बतलायी है ।

पद्मपुराणमे कहा है—

सर्वतीर्थमयी माता सर्वदेवमयः पिता ।
मातरं पितरं तस्मात् सर्वयत्नेन पूजयेत् ॥
मातरं पितरं चैव यस्तु कुर्यात् प्रदक्षिणम् ।
प्रदक्षिणीकृता तेन सप्तद्वीपा वसुन्धरा ॥
जानुनी च करौ यस्य पित्रोः प्रणमतः शिरः ।
निपतन्ति पृथिव्यां च सोऽक्षयां लभते दिवम् ॥

(सृष्टिखण्ड ४७ । ११—१३)

‘माता सर्वतीर्थमयी है और पिता सम्पूर्ण देवताओंका स्वरूप है; इसलिये सब प्रकारसे यत्नपूर्वक माता-पिताका पूजन करना चाहिये । जो माता और पिताकी प्रदक्षिणा करता है, उसने सातों द्वीपोंसे युक्त समूची पृथ्वीकी परिक्रमा कर ली । माता-पिताको

प्रणाम करते समय जिसके घुटने, हाथ और मस्तक पृथ्वीपर टिकते हैं, वह अक्षय स्वर्गको प्राप्त होता है ।'

मातापित्रोस्तु यः पादौ नित्यं प्रक्षालयेत् सुतः ।
तस्य भागीरथीस्नानमहन्यहनि जायते ॥
(भूमिखण्ड ६२ । ७४)

'जो पुत्र प्रतिदिन माता और पिताके चरण पखारता है और उस चरणोदकको सिरपर धारण करता है, उसका नित्यप्रति गङ्गास्नान हो जाता है ।'

पतितं क्षुधितं वृद्धमशक्तं सर्वकर्मसु ।
व्याधितं कुष्ठिनं तातं मातरं च तथाविधाम् ॥
उपाचरति यः पुत्रस्तस्य पुण्यं वदाम्यहम् ।
विष्णुस्तस्य प्रसन्नात्मा जायते नात्र संशयः ॥
प्रयाति वैष्णवं लोकं यदप्राप्यं हि योगिभिः ।
(भूमिखण्ड ६३ । २—४)

'यदि पिता पतित, भूखसे व्याकुल, वृद्ध, सब कार्योंमें असमर्थ, रोगी और कोढी हो गये हो तथा इसी प्रकार माताकी भी वही अवस्था हो, उस समयमे भी जो पुत्र उनकी सेवा करता है, उसके पुण्यका माहात्म्य मै कहता हूँ—उसपर निस्संदेह भगवान् श्रीविष्णु प्रसन्न होते है । वह योगियोके लिये भी दुर्लभ श्रीविष्णुभगवान्‌के परम धामको प्राप्त होता है ।'

नास्ति मातुः परं तीर्थं पुत्राणां च पितुस्तथा ।
नारायणसमावेताविह चैव परत्र च ॥
(भूमिखण्ड ६३ । १३)

'पुत्रोंके लिये माता तथा पितासे बढ़कर दूसरा कोई भी तीर्थ

नहीं है। माता-पिता—ये दोनो इस लोकमें और परलोकमें भी निस्संदेह नारायणके समान है।'

शास्त्रोंमे माता-पिताकी सेवाके और भी बहुत-से उदाहरण मिलते है। पद्मपुराणके भूमिखण्डमे आता है कि द्वारकावासी शिवशर्माके यज्ञशर्मा, वेदशर्मा, धर्मशर्मा, विष्णुशर्मा और सोमशर्मा-नामक पाँचों पुत्रोने मातृ-पितृ-भक्तिसे परमपदकी प्राप्ति कर ली। मनुष्यकी तो बात ही क्या है, कुञ्जल नामके तोतेके चारों पुत्र उज्ज्वल, समुज्ज्वल, विज्वल और कपिज्वल (पक्षी) भी माता-पिताके बड़े भक्त हुए है। माता-पिताकी सेवाके विषयमे पद्मपुराण भूमिखण्डमे कुण्डलपुत्र सुकर्माका, वाल्मीकीय रामायणके अयोध्याकाण्डके ६३ और ६४ वें सर्गमे श्रवणका और महाभारतके वनपर्वके २०७ वें अध्यायमें धर्मव्याधका इतिहास मिलता है। समस्त स्मृतियाँ भी एक स्वरसे माता-पिताकी सेवाके महत्त्वको बतलाती है। शास्त्रोंमे गुरु, उपाध्याय और आचार्य-की सेवासे भी माता-पिताकी सेवाका महत्त्व अधिक बतलाया है; क्योंकि माता-पिता बालकके पालन-पोषणमे जो कष्ट सहते है, उसका बदला किसी भी हालतमे बालक चुका नहीं सकता। मनुस्मृतिमें बतलाया है—

यं मातापितरौ क्लेशं सहेते सम्भवे नृणाम्।
न तस्य निष्कृतिः शक्या कर्तुं वर्षशतैरपि॥

(२। २२७)

'मनुष्यकी उत्पत्तिके समयमे जो क्लेश माता-पिता सहते है, उसका बदला सौ वर्षोंमे भी सेवादि करके नहीं चुकाया जा सकता।'

इसलिये—

उपाध्यायान् दशाचार्य आचार्याणां शतं पिता ।
सहस्रं तु पितॄन् माता गौरवेणातिरिच्यते ॥

(२ । १४५)

'बड़प्पनमे दस उपाध्यायोंसे एक आचार्य, सौ आचार्योंसे एक पिता और हजार पिताओसे भी एक माता बड़ी है ।'

इस कलियुगमे भी अनेकों मातृ-पितृभक्त पुरुष हो गये है । उनमेसे एककी संक्षिप्त घटना यहाँ लिखी जाती है—

दक्षिणमे चन्द्रभागाके तटपर श्रीविट्ठल (विठोबा) भगवान्‌के मन्दिरके पास ही प्रायः पॉच सौ गज दूरपर 'पुण्डलीक' का मन्दिर है और वहाँ इसका बड़ा माहात्म्य है । ये पुण्डलीक पहले माता-पिताके भक्त नहीं थे । एक बार वे पत्नीसहित काशी गये थे, वहाँ उन्होंने काशीसे तीन कोसपर मातृ-पितृभक्त महात्मा कुक्कुटके आश्रममे मूर्तिमान् गङ्गा-यमुना-सरस्वतीको सेवा करते देखा । पुण्डलीक जब उनके चरण-स्पर्श करनेको बढ़े, तब वे यह कहकर दूर हट गयीं कि 'तुम पापी हो, हमे छूना मत ।' पुण्डलीकके बहुत अनुनय-विनय करनेपर गङ्गा आदिने बताया कि 'तुम-सरीखे पापी हममे स्नान करके जो पापराशि छोड़ जाते है, उस पापराशिको धोकर पूर्ववत् विशुद्ध होनेके लिये हमलोग पुण्यपुरुषोके आश्रमोंमें आकर उनकी सेवा करती है ।' यह सुनकर पुण्डलीकने उनसे अपने उद्धार-का उपाय पूछा । उन्होने कुक्कुट ऋषिके पास जाकर उनसे पूछने-की सम्मति दी । तदनुसार पुण्डलीकने कुक्कुट ऋषिके पास जाकर अपनी सारी कथा सुनायी और उद्धारका उपाय पूछा । इसपर परम

मातृ-पितृभक्त कुक्कुट ऋषिने कहा कि 'पुण्डलीक ! तू बड़ा मूर्ख है, जो माता-पिताको छोड़कर यहाँ काशी-यात्राको आया है। तुझे यहाँ क्या फल मिलेगे ! माता-पिताकी सेवा काशी-यात्राकी अपेक्षा कहीं श्रेष्ठ है। जा, माता-पिताकी सेवा कर।' यह सुनकर पुण्डलीक वहाँसे लौट आये और अनन्यभावसे माता-पिताकी सेवा करने लगे। वे फिर माता-पिताके साथ पण्ढरीमें आकर रहे। एक दिन उन्हें दर्शन देनेके लिये स्वयं भगवान् पधारे। उस समय ये माता-पिताकी सेवामें लगे थे। इन्होंने भगवान्‌के आदरातिथ्यकी अपेक्षा माता-पिताकी सेवाको श्रेष्ठ समझा और भगवान्‌की भी उपेक्षा न हो, इसलिये भगवान्‌की ओर एक ईंट फेंककर प्रार्थना की कि आप इसपर खड़े रहें। भगवान् भक्तवत्सल है। पुण्डलीककी मातृ-पितृ-भक्तिसे संतुष्ट होकर उसी ईंटपर खड़े हो गये। माता-पिताकी सेवा कर चुकनेपर भगवान्‌की पुण्डलीकने स्तुति की। भगवान्‌ने प्रसन्न होकर जब वर माँगनेको कहा, तब पुण्डलीकने यही वर माँगा कि 'मेरी मातृ-पितृभक्ति सदा बनी रहे और आप इसी रूपमे यहीं विराजें।' पुण्डलीकको 'तथास्तु' कहकर भगवान् पुण्डलीकके इच्छानुसार श्रीविग्रहके रूपमे ईंटपर ही खड़े हो गये और आजतक उन्हीं श्रीविग्रहकी पूजा होती है। लाखो नर-नारी 'पुण्डलीक वरदे हरि विट्ठल'की जय-घोष करते हुए भगवान्‌के दर्शन करते है। पुण्डलीककी पूजा होती है और पुण्डलीकके माता-पिताकी समाधि भी उन्हींके मन्दिरके पास ही विद्यमान है।

इससे यह बात सिद्ध होती है कि केवल माता-पिताकी सेवासे भी मनुष्यका कल्याण हो सकता है। यदि कहे कि माता-पिताकी

सेवासे कल्याण होनेकी बात शास्त्रमे आती है, यह तो ठीक है; किंतु यह बात युक्तिसे समझमें नहीं आती, तो इसका उत्तर यह है कि यह युक्तिसङ्गत भी है। कोई कार्य माता-पिताके तो अनुकूल है, पर पुत्रके प्रतिकूल है, तो उस समय वह आज्ञाकारी पुत्र अत्यन्त प्रसन्नतापूर्वक अपने माता-पिताके अनुकूल ही कार्य करता है तथा जो कार्य पुत्रके तो अनुकूल है, किंतु माता-पिताके प्रतिकूल होनेके कारण वे उसे नहीं चाहते तो उस परिस्थितिमें वह पुत्र उस कार्यको माता-पिताके प्रतिकूल समझकर उसे तुरंत त्याग देता है। इस प्रकारकी अनुकूल-प्रतिकूल परिस्थिति प्रतिदिन ही प्राप्त होती रहती है। इसका परिणाम यह होता है कि पुत्रकी अनुकूल-प्रतिकूल वृत्तियोंपर नित्य आघात पड़ते रहनेसे उसकी अनुकूल और प्रतिकूल दोनों वृत्तियाँ नष्ट हो जाती है और वह माता-पिताकी अनुकूलतामे ही अपनी अनुकूलता तथा उनकी प्रतिकूलतामे ही अपनी प्रतिकूलताका समावेश कर देता है; उसकी अपनी न कहीं अनुकूलता रहती है और न प्रतिकूलता ही। तब अनुकूलतामे होनेवाले राग और प्रतिकूलतामे होनेवाले द्वेषका अत्यन्त अभाव हो जाता है। अन्तःकरणमे होनेवाले सुख-दुःखादि सारे विकारोंके मूल राग-द्वेष ही है। इनका अत्यन्त अभाव होनेसे अन्तःकरण शुद्ध हो जाता है। अन्तःकरणकी शुद्धिसे समता और चित्तमे प्रसन्नता होती है और प्रसन्नतासे परमात्माके स्वरूपमे स्थिति हो जाती है, जिससे परमात्माका यथार्थ ज्ञान होकर परमात्माकी प्राप्ति हो जाती है। अतएव माता-पिताकी सेवासे कल्याण होना शास्त्रसङ्गत तो है ही, युक्तिसङ्गत भी है।

गुरु-सेवा

माता-पिताकी भाँति आचार्य या गुरुकी सेवा करना भी परम कर्तव्य और अत्यन्त आवश्यक है। ऋषिकुल, गुरुकुल, पाठशाला, विद्यालय, महाविद्यालय, विश्वविद्यालय आदिमें पढ़नेवाले विद्यार्थियोंको अपने आचार्य, अध्यापक, प्रोफेसर, प्रिन्सिपल आदि गुरुजनोंका सत्कार, सम्मान, उनकी आज्ञाका पालन, वर्णाश्रमानुसार यथोचित सेवा अवश्य करनी चाहिये।

इसी प्रकार आत्मोद्धारके लिये उपदेश करनेवाले गुरुकी विशेष सेवा करनी चाहिये। ऐसे सद्गुरुकी सेवासे ज्ञानकी प्राप्ति होकर परम कल्याण हो जाता है। भगवान्‌ने भी गीतामें कहा है—

तद् विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः॥
(४। ३४)

'उस ज्ञानको तू तत्त्वदर्शी ज्ञानियोंके पास जाकर समझ, उनको भलीभाँति दण्डवत् प्रणाम करनेसे, उनकी सेवा करनेसे और कपट छोड़कर सरलतापूर्वक प्रश्न करनेसे वे परमात्मतत्त्वको भलीभाँति जाननेवाले ज्ञानी महात्मा तुझे उस तत्त्वज्ञानका उपदेश करेंगे।'

उपनिषदोंमें भी गुरुभक्तोंकी अनेक कथाएँ मिलती हैं। सत्यकाम और उपकोसल आदिको गुरुकी सेवासे ही परमात्माका यथार्थ ज्ञान हो गया था। गुरुभक्तिकी महिमाके प्रसङ्गमें पद्मपुराणके भूमिखण्डमें बतलाया है कि 'गुरुके अनुग्रहसे शिष्यको लौकिक आचार-व्यवहारका ज्ञान होता है, विज्ञानकी प्राप्ति होती है और वह मोक्ष प्राप्त कर लेता है। जैसे सूर्य सम्पूर्ण लोकोंको प्रकाशित करते

है, उसी प्रकार गुरु शिष्योंको उत्तम बुद्धि देकर उनके अन्तर्जगत्‌को प्रकाशपूर्ण बनाते है।* वे शिष्यके अज्ञानमय अन्धकारका नाश करते है, अतः शिष्योंके लिये गुरु ही सबसे उत्तम तीर्थ है। यह समझकर शिष्यको उचित है कि वह सब तरहसे गुरुको प्रसन्न रक्खे; गुरुको पुण्यमय जानकर मन, वाणी और शरीर—तीनोंसे उनकी सेवा करे।'

इसलिये बालकोंको नित्य अपने गुरुजनोंके चरणोंमे दाहिने हाथसे उनके दाये पैरको और बायें हाथसे बायें पैरको छूकर प्रणाम करना चाहिये। श्रीमनुजी कहते है—

व्यत्यस्तपाणिना कार्यमुपसंग्रहणं गुरोः।
सव्येन सव्यः स्प्रष्टव्यो दक्षिणेन च दक्षिणः॥
(मनु० २। ७२)

'हाथोंको हेर-फेर करके गुरुको प्रणाम करना चाहिये। बाये हाथसे बायाँ चरण और दाहिने हाथसे दाहिना चरण छूना चाहिये।' तथा सदा गुरुके साथ बहुत ही आदरपूर्वक व्यवहार करना चाहिये। श्रीमनुजीने बतलाया है—

हीनान्नवस्त्रवेषः स्यात् सर्वदा गुरुसंनिधौ।
उत्तिष्ठेत् प्रथमं चास्य चरमं चैव संविशेत्॥
आसीनस्य स्थितः कुर्यादभिगच्छंस्तु तिष्ठतः।
प्रत्युद्गम्य त्वाव्रजतः पश्चाद्धावंस्तु धावतः॥

---

* सर्वेषामेव लोकानां यथा सूर्यः प्रकाशकः।
गुरुः प्रकाशकस्तद्वच्छिष्याणां बुद्धिदानतः॥
(८५। ८)

नीचं शय्यासनं चास्य सर्वदा गुरुसंनिधौ ।
गुरोस्तु चक्षुर्विषये न यथेष्टासनो भवेत् ॥

(२ । १९४, १९६, १९८)

'गुरुके सामने सदा साधारण अन्न, वस्त्र और वेषसे रहे तथा गुरुसे पहले तो उठे और पीछे सोवे । बैठे हुए गुरुसे खड़े होकर और खड़े हुएसे उनके सामने जाकर तथा अपनी ओर आते हुएसे कुछ पद आगे जाकर एवं दौड़ते हुएसे उनके पीछे दौड़कर (बातचीत) करे । गुरुके समीप शिष्यकी शय्या और आसनादि सदा नीचा रहना चाहिये । गुरुकी आँखोंके सामने शिष्यको मनमाने आसनसे नहीं बैठना चाहिये ।'

गुरुके साथ कभी असद्व्यवहार नहीं करना चाहिये । असद्-व्यवहार करनेसे दुर्गति होती है । श्रीमनुजी कहते हैं—

परीवादात् खरो भवति श्वा वै भवति निन्दकः ।
परिभोक्ता कृमिर्भवति कीटो भवति मत्सरी ॥

(मनु० २ । २०१)

'गुरुको झूठा दोष लगानेवाला गधा होता है, उनकी निन्दा करनेवाला निस्सन्देह कुत्ता होता है, अनुचित रीतिसे उनके धनको भोगनेवाला कृमि होता है और उनके साथ डाह रखनेवाला कीट होता है ।'

अतएव इस प्रकार कभी भी गुरुके साथ बुरा बर्ताव न करे, बल्कि उनकी आज्ञाका पालन करे और उनकी इच्छाके अनुसार कार्य करे । उनकी इच्छाका पता न लगे तो उनके संकेतके अनुसार करे, संकेतका पता न लगे तो उनकी आज्ञाके अनुसार करे तथा

मन, वाणी और शरीरसे सदा-सर्वदा उनकी सेवामे तत्पर रहे। इस प्रकार नित्य नमस्कार, सेवा और आज्ञापालन करनेसे शिष्यका कल्याण हो जाता है।

माता-पिता और गुरुकी सेवाका महत्त्व जितना कहा जाय उतना ही थोड़ा है। श्रीमद्भगवद्गीताके १७ वे अध्यायके चौदहवे श्लोकमे शारीरिक तपका वर्णन करते हुए श्रीभगवान्‌ने जो 'देवद्विजगुरुप्राज्ञ-पूजनम्' कहा है, उसका अभिप्राय यही है कि देवता, ब्राह्मण, गुरु यानी माता-पिता, आचार्य आदि तथा प्राज्ञ यानी ज्ञानवान्—इनका पूजन अर्थात् सेवा-सत्कार और आदर करना चाहिये।

श्रीमनुजीने बतलाया है—

त एव हि त्रयो लोकास्त एव त्रय आश्रमाः।
त एव हि त्रयो वेदास्त एवोक्तास्त्रयोऽग्नयः॥
त्रिष्वप्रमाद्यन्नेतेषु त्रीँल्लोकान् विजयेद् गृही।

(मनु० २। २३०, २३२)

'माता-पिता और आचार्य—ये ही तीनों भूः, भुवः और स्वः लोक है, ये ही तीनों ब्रह्मचर्य, गृहस्थ और वानप्रस्थ आश्रम है, ये ही तीनो ऋक्, यजुः और सामवेद हैं तथा ये ही तीनों गार्हपत्य, दक्षिणाग्नि और आहवनीय अग्नि है। इन तीनोकी सावधानीपूर्वक सेवासे गृहस्थी मनुष्य तीनो लोकोको जीत लेता है।' श्रीमनुजी कहते है—

त्रिष्वेतेष्वितिकृत्यं हि पुरुषस्य समाप्यते।
एष धर्मः परः साक्षादुपधर्मोऽन्य उच्यते॥

(मनु० २। २३७)

'इन तीनोकी सेवासे ही पुरुषका सब कृत्य समाप्त हो जाता है,

यानी उसे कुछ भी करना शेष नही रहता । यही साक्षात् परमधर्म है, इसके अतिरिक्त अन्य सब उपधर्म कहे जाते है ।'

इसी प्रकार वेदोमे भी इसकी बड़ी महिमा मिलती है । तैत्तिरीयोपनिषद्के १ । ११ मे बतलाया है—

मातृदेवो भव । पितृदेवो भव । आचार्यदेवो भव ।

'माताको देव माननेवाला हो, पिताको देव माननेवाला हो, आचार्यको देव माननेवाला हो अर्थात् इन सबको परमात्मदेव माननेवाला हो ।'

ईश्वर-भक्ति

ईश्वरकी भक्तिके प्रभावसे दुर्गुण, दुराचार, आलस्य, प्रमाद, दुर्व्यसनरूप आसुरी सम्पदाका तथा दुःखोका स्वाभाविक अपने-आप ही अत्यन्त अभाव हो जाता है और उसमे सद्गुण-सदाचाररूप दैवी सम्पदाके लक्षण अपने-आप ही आ जाते है, जिससे सदाके लिये परम शान्ति और परम आनन्दकी प्राप्ति हो जाती है । इसमे न तो पैसे खर्च होते है, न कोई समय व्यय होता है और न कोई परिश्रम ही । जैसे रात्रिके समय लेटनेके बाद कोई कार्य तो है ही नहीं, समय केवल सोनेमे ही जाता है और स्वप्न भी वैसे ही आते है, जैसे कि सोनेके आरम्भसमयमे संकल्प होते है । इसलिये शयनके समयमे सांसारिक संकल्पोके प्रवाहको हटाकर परमात्मविषयक संकल्प करते हुए अर्थात् परमात्माके नाम, रूप, गुण, प्रभावका स्मरण करते हुए शयन करनेसे रात्रिमें परमात्मविषयक ही संकल्प होते रहेगे, इससे बुद्धि सात्त्विक होगी और हम परमात्माके निकट पहुँचेगे । बतलाइये, इसमे हमको क्या परिश्रम है ? एवं

न तो इसमें पैसोंका खर्च है और न समयका ही। फिर इसके न होनेमे कारण श्रद्धा-प्रेमकी ही कमी है। श्रद्धा और प्रेम हमलोगोंका स्वाभाविक संसारमें है, उसको भगवान्‌की ओर कर देनेसे महान् लाभ है और संसारकी ओर रखनेसे बड़ी हानि है। 'भगवान् है और मिलते है तथा वे अन्तर्यामी, परमदयालु और सर्वशक्तिमान् है'—इस प्रकारका जो भक्तिपूर्वक विश्वास है, इसीका नाम श्रद्धा है। इस प्रकार परमात्मामें विश्वास होनेपर उसके द्वारा कोई भी दुराचाररूप पाप नहीं बन सकते; क्योंकि उसको यह विश्वास है कि भगवान् है और वे सब जगह व्यापक है तथा सब जगह उनकी आँखें है और सब जगह ही उनके कान है। अतः हम जो कुछ कर रहे है, भगवान् उसे देख रहे है और जो कुछ हम बोल रहे है, उसे वे सुन रहे है। भगवान्‌ने गीतामे भी कहा है—

सर्वतःपाणिपादं तत्सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम्।
सर्वतःश्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति॥
(१३।१३)

'वह सब ओर हाथ-पैरवाला, सब ओर नेत्र, सिर और मुखवाला तथा सब ओर कानवाला है; क्योंकि वह संसारमे सबको व्याप्त करके स्थित है।'

जब बालकको इस प्रकार विश्वास हो जाता है, तब फिर वह दुराचार, दुर्व्यसन और प्रमादरूप पापको, जो कि परमात्मासे विपरीत कार्य है, कैसे कर सकता है?

ईश्वरके अस्तित्वमे विश्वास करके उनकी शरण होनेपर मनुष्यमे निर्भयता आ जाती है तथा उसमे धीरता, वीरता, गम्भीरता ईश्वरकृपासे

स्वाभाविक ही आ जाती है । अस्त्र-शस्त्रोंके द्वारा दूसरोंकी हिंसा करनेवाला वीर नहीं कहलाता । वीर पुरुष वही है, जो अपने ऊपर भारी-से-भारी आपत्ति पड़नेपर भी भक्त प्रह्लादकी भाँति अपने सिद्धान्त-को, कर्तव्यको नहीं छोड़ता, वरं उसपर दृढ़ताके साथ डटा रहता है, जरा भी विचलित नहीं होता । ईश्वरके सगुण और निर्गुण स्वरूपकी प्राप्ति या ज्ञान न होनेके कारण उसका यथार्थ चिन्तन न हो तो कोई हानि नहीं, किंतु जीव ईश्वरका अंश होनेसे उसका भगवान्‌में प्रेम स्वाभाविक ही होना चाहिये । अतः भगवान्‌के साथ आत्मीयता दृढ़ होनेके लिये भगवान्‌से दास्य, सख्य आदिमेंसे किसी भावका सम्बन्ध, उसकी सत्तामें विश्वास, उसका भरोसा तथा नामकी स्मृति अवश्य और दृढ़ होनी चाहिये । फिर उसके द्वारा कोई भी पाप नहीं हो सकता ।

दुराचार आदि पापोंके संस्कार ही दुर्गुणके रूपमें हृदयमें जमते हैं । जब उसके द्वारा कोई बुरा काम नहीं होगा, तब दुर्गुण कैसे जम सकते हैं, बल्कि पहलेके संचित दुर्गुणोंके संस्कार भी भगवान्‌की भक्तिके प्रभावसे नष्ट हो सकते हैं । उपर्युक्त प्रणालीके अनुसार शयन करनेका अभ्यास करनेसे शयनकाल भी साधनमें परिणत हो सकता है । विचारना चाहिये, यह कितने उत्तम लाभकी बात है । यह सब समझकर भी यदि हम इसके लिये चेष्टा न करें तो हमारे समान कौन मूर्ख होगा ?

इसी प्रकार विद्याभ्यास करते, चलते-फिरते, खाते-पीते, उठते-बैठते और खेल-कूदके समय भी भगवान्‌के गुण-प्रभावसहित नाम, रूप और चरित्रको याद रखते हुए ही उपर्युक्त सारी क्रियाएँ करनी

चाहिये । जैसे व्रजकी गोपियाँ वाणीके द्वारा भगवान्‌के नाम-गुणोंका कीर्तन और मनसे भगवान्‌का स्मरण करती हुई ही घरका सब काम किया करती थीं । श्रीमद्भागवतमें कहा गया है—

> या दोहनेऽवहनने मथनोपलेप-
> प्रेङ्खेङ्खनार्भरुदितोक्षणमार्जनादौ ।
> गायन्ति चैनमनुरक्तधियोऽश्रुकण्ठ्यो
> धन्या व्रजस्त्रिय उरुक्रमचित्तयानाः ॥
> (१० । ४४ । १५)

'जो गौओंका दूध दुहते समय, धान आदि कूटते समय, दही बिलोते समय, आँगन लीपते समय, बालकोंको पालनेमे झुलाते समय, रोते हुए बच्चोको लोरी देते समय, घरोमे जल छिड़कते समय और झाड़ू देने आदि कर्मोंको करते समय, प्रेमपूर्ण चित्तसे आँखोमें आँसू भरकर गद्गदवाणीसे श्रीकृष्णका गान किया करती है, इस प्रकार सदा श्रीकृष्णमें ही चित्त लगाये रखनेवाली वे व्रजवासिनी गोपियाँ धन्य है ।'

अतएव बालकोको इस प्रकार वाणीके द्वारा भगवान्‌के नाम-गुणोंका प्रेमपूर्वक कीर्तन तथा मनसे उनका स्मरण करते हुए ही सब चेष्टा करनी चाहिये । ऐसा करनेपर स्वाभाविक ही दुर्गुण-दुराचारों-का नाश तथा सद्गुण-सदाचारोंका आविर्भाव होकर परम शान्ति और परम आनन्द मिल सकते है । ऐसा करनेमे न तो समयका खर्च है, न पैसोंका ही और न कोई परिश्रम ही है । यह अलौकिक परम लाभ स्वाभाविक ही मिल सकता है, जिसके फलस्वरूप भगवान्‌में प्रेम होकर भगवान्‌की प्राप्ति हो सकती है ।

प्रातःकाल और सायंकाल जो नित्यकर्मके लिये समय निकाला

जाता है, उसको विशेष सार्थक बनाना चाहिये। उस समय भजन, ध्यान, पूजा-पाठ, स्तुति-प्रार्थना आदि जो कुछ भी किया जाता है, अर्थ और भावकी ओर खयाल रखकर करना चाहिये। इस प्रकार श्रद्धा-भक्ति और आदरपूर्वक नियमितरूपसे किया हुआ नित्यकर्म भी बहुत दामी हो जाता है; किंतु जो बिना आदर और बिना मनके साधन किया जाता है, वह विशेष दामी नहीं होता।

भक्त ध्रुवने बड़े आदरपूर्वक साधन किया था, जिसके फलस्वरूप साढ़े पाँच महीनोंमें ही उन्हें भगवान् मिल गये। सौतेली माता सुरुचि-के आक्षेपभरे वचनोंने भी उनके हृदयमें उपदेशका काम कर दिया। और जन्म देनेवाली माता सुनीति तथा श्रीनारदजीका उपदेश पाकर ध्रुव जप, ध्यान और तपश्चर्यामे संलग्न हो गये, जिससे वे शीघ्र ही परम पदको प्राप्त हो गये।

इसी प्रकार श्रीनारदजीका उपदेश पाकर भक्त प्रह्लादने निष्काम-भावसे भक्ति करके उत्तम-से-उत्तम गति प्राप्त की। प्रह्लादने पाठशालामे पढते समय भारी-से-भारी अत्याचारोंको सहते हुए भी भगवान्‌की भक्ति करते और बालकोंको कराते हुए भगवद्दर्शन प्राप्त किया। उनकी भक्तिका प्रभाव देखिये, जहरीले सर्पोंके विष तथा अग्निकी लपटोंका भी उनपर कोई असर नहीं हुआ। इसके सिवा उनपर और भी बहुत-से अत्याचार हुए; किंतु प्रह्लादका बाल भी बाँका नहीं हुआ। प्रह्लाद मनसे सर्वत्र भगवान्‌को ही देखते और भगवान्‌के नाम-गुणोंका कीर्तन किया करते थे। हिरण्यकशिपुके भय, लोभ और त्रास देने-पर भी प्रह्लाद अपनी भक्तिपर डटे ही रहे तथा प्रेमपूर्वक अत्याचारोंको

सहते रहे। अतः किसी अत्याचारका प्रतीकार बिना किये ही भक्तिके प्रभावसे सब अत्याचार निष्फल हो गये। यह समझकर बालकोंको बड़े उत्साहके साथ भगवान्‌के नाम और रूपको याद रखते हुए ही सब काम करते रहना चाहिये। भगवान्‌ने अर्जुनको भी यही आदेश दिया है कि—

तस्मात्सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्मामेवैष्यस्यसंशयम्॥

(गीता ८।७)

'इसलिये हे अर्जुन! तू सब समयमे निरन्तर मेरा स्मरण कर और युद्ध भी कर। इस प्रकार मुझमे अर्पण किये हुए मन-बुद्धिसे युक्त होकर तू निस्संदेह मुझको ही प्राप्त होगा।'

सर्वकर्माण्यपि सदा कुर्वाणो मद्व्यपाश्रयः।
मत्प्रसादादवाप्नोति शाश्वतं पदमव्ययम्॥

(गीता १८।५६)

'मेरे परायण हुआ कर्मयोगी तो सम्पूर्ण कर्मोंको सदा करता हुआ भी मेरी कृपासे सनातन अविनाशी परमपदको प्राप्त हो जाता है।'

अतएव बालकोंको भी सब समय भगवान्‌का आश्रय लेकर ही सब काम करना चाहिये।

यहाँ बालकोंके सम्बन्धमे जो बातें कही गयी है, वही तरुणोंके और प्रायः बड़ी उम्रवालोंके लिये भी समझनी चाहिये। मेरा ऐसा विश्वास है कि इस प्रकारसे यदि वास्तवमे बालकोंका और तरुणों, प्रौढ़ोंका जीवन बन जाय तो मनुष्य-जीवनकी सर्वाङ्गीण सार्थकता हो सकती है।
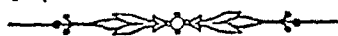
श्रीरामचरितमानस और श्रीमद्भगवद्गीताकी शिक्षासे अनुपम लाभ

बालकोंके चरित्रनिर्माणके लिये आरम्भसे ही उनको ऐसी शिक्षा दी जानी चाहिये, जिससे उनका चारित्रिक पतन तो हो ही नहीं; प्रत्युत उत्तरोत्तर उन्नति होती रहे। इसके लिये सदाचारकी और सर्वकल्याणकारी धर्मकी शिक्षा आवश्यक है। ऐसी सर्वोपयोगी धार्मिक शिक्षाके बिना न तो चरित्रनिर्माण होगा और न देश, जाति एवं समाजका हित करनेवाले बालक ही बनेंगे। इस प्रकारके सदाचार और उदार धर्मकी शिक्षाके लिये हमारे यहाँ बहुत ही उत्तम दो ग्रन्थ हैं— एक हिंदीका श्रीरामचरितमानस और दूसरा संस्कृतका श्रीमद्भगवद्गीता। हमारी भारतीय आर्यसंस्कृति और धर्मकी शिक्षा अमृतके तुल्य है। यह शिक्षा इन दोनों ग्रन्थोंमें भरपूर है। जैसे अमृतका पान करनेवालेपर विषका असर नहीं हो सकता, उसी प्रकार इन ग्रन्थोंके द्वारा भारतीय उदार आर्य हिंदू-संस्कृति और धार्मिक आदर्शसे अनुप्राणित, शिक्षासे शिक्षित और तदनुसार व्यवहारमें निपुण होनेपर विदेशी और विधर्मियोंकी अनेकों प्रकारकी शिक्षाओंमें जो कहीं-कहीं विष भरा हुआ है, उसका प्रभाव नहीं पड़ सकता। अतएव बालकोंके लिये श्रीरामचरितमानस और श्रीमद्भगवद्गीताके आधारपर आदर्श शिक्षाकी व्यवस्था अवश्य करनी चाहिये। श्रीरामचरितमानस और श्रीमद्भगवद्गीता—ये दो ग्रन्थ हमारे साहित्यके भी अनुपम रत्न हैं और विश्वसाहित्यके भी महान् आभूषण हैं। संसारके अनुभवी बड़े-बड़े प्रायः सभी विद्वानोंने इन दोनों ग्रन्थोंकी भूरि-भूरि प्रशंसा की है।

अतः इन दोनों ग्रन्थोंको बालकोंके पाठ्यक्रममे अनिवार्यरूपसे रख दिया जाय तो बालकोंका सुधार होकर परम हित हो सकता है।

दुःख और शोककी बात है कि हमारे देशमे ऐसे अमूल्य ग्रन्थ-रत्नोंके रहते हुए भी बालकोंको अत्यन्त हानिकर पुस्तकें पढ़ा-पढ़ाकर उनके मस्तिष्कमे व्यर्थ बातें भरी जाती हैं। जब अंग्रेजोंका राज्य था, तब तो हमारा कोई उपाय नहीं था। पर अब तो हमारा अपना राज्य है, हमे अपनी इस स्वतन्त्रताका विशेष लाभ उठाना चाहिये। जो अश्लीलता और नास्तिकतासे भरी हुई सदाचारका नाश करनेवाली तथा धर्मविरोधी गंदी पुस्तके है, जिनके अध्ययनसे सिवा हानिके कुछ भी लाभ नहीं है, उन पुस्तकोंको हटाकर जिनमे राष्ट्र, देश, जाति और समाजकी तथा शरीर, मन, बुद्धि और आचार-व्यवहारकी उन्नति हो, ऐसे शिक्षाप्रद ग्रन्थ बालकोंको पढ़ाने चाहिये। बात बनानेके लिये तो बहुत लोग है, परंतु बालकोंका जिसमे परम हित हो, इस ओर बहुत ही कम लोगोंका ध्यान है। किन्हीं-किन्हींका इस ओर ध्यान है भी तो परिश्रमशील और विद्वान् न होनेके कारण उनके भाव उनके मनमे ही रह जाते है। इस कारण हमारे बालक उस लाभसे वञ्चित ही रह जाते है। कितने ही शिक्षित, सदाचारी, अच्छे विद्वान् भी है, किंतु वे मान-बड़ाईके फंदेमे फँसकर या अन्य प्रकारसे विवश होकर अपने भावोंका प्रचार नहीं कर सकते और कितने ही अच्छे शिक्षित पुरुष इस विषयमे किंकर्तव्यविमूढ़ हो रहे है!

अतः अनुभवी विद्वान् सदाचारी देशहितैषी पुरुषोंसे तथा शिक्षा-विभागके संचालकोंसे और वर्तमान स्वतन्त्र सरकारसे हमारी सविनय प्रार्थना है कि वे पाठ्य-प्रणालीके सुधारपर शीघ्र ही ध्यान देकर

उसका समुचित सुधार करें, जो कि हमारी भावी संतानके जीवनका आधार है। देशकी उन्नति और उसका सुधार भविष्यमे होनेवाले बालकोंपर ही निर्भर है। आज तो हमारे बालक विद्याके नामपर दिन-प्रतिदिन अविद्याके घोर अन्धकारमय गड्ढेमे ढकेले जा रहे हैं। बालकोंमे आलस्य, प्रमाद, उच्छृङ्खलता, अनुशासनहीनता, निर्लज्जता, अकर्मण्यता, विलासिता, उद्दण्डता, विषयलोलुपता और नास्तिकता आदि अनेक दुर्गुण बढ़ रहे है। दुर्गुणोंकी इस बढ़ती हुई बाढ़को यदि शीघ्र नही रोका जायगा तो आगे जाकर यह भयङ्कर रूप धारण कर सकती है। तब इसका रुकना अत्यन्त कठिन हो जायगा। इस बाढ़को रोकनेमे श्रीरामचरितमानस और श्रीमद्भगवद्गीता बहुत सहायक है। इसलिये बालकोंको इनका अभ्यास अवश्य ही कराना चाहिये।

श्रीरामचरितमानस

बालकोंके पाठ्यक्रममें आरम्भसे ही श्रीरामचरितमानसको शामिल कर देना उचित है; जिससे बालकोंके जीवनपर मर्यादापुरुषोत्तम भगवान्‌के आदर्श चरित्रका प्रभाव पड़े और उनका सुधार हो सके। श्रीरामचरितमानसमे सात काण्ड है। पहली-दूसरी कक्षाके बालकोंको भाषाका ज्ञान नहीं होता, अतः उन्हें मौखिकरूपसे श्रीरामचरित्रका ज्ञान कराना उत्तम होगा। इसके बादकी तीसरी-चौथी कक्षाओंमें बालकाण्ड, पाँचवीं तथा छठीमे अयोध्याकाण्ड, सातवीमे अरण्य, किष्किन्धा और सुन्दरकाण्ड, आठवींमें लङ्काकाण्ड और नवी तथा दसवीं कक्षाओंमे उत्तरकाण्ड—इस प्रकार विभाग करके सम्पूर्ण रामायणका अर्थसहित अभ्यास करा दिया जाय तो मर्यादापुरुषोत्तम

श्रीरामचन्द्रजीके सम्पूर्ण आदर्श चरित्रोंका और हिंदी साहित्यका भी ज्ञान प्रत्येक बालकको सहज ही हो सकता है। यदि इस प्रकार न रुचे तो शिक्षक अपनी इच्छाके अनुसार क्रम रख ले। गीताप्रेस-की ओरसे रामायण-परीक्षा-समिति बहुत पहलेसे ही परीक्षाकी पद्धति-से रामायणके अध्ययनका प्रचार कर रही है। उसका निर्धारित पाठ्यक्रम भी अच्छा है, उसके अनुसार भी क्रम रखकर बालकोंको परीक्षामे सम्मिलित किया जा सकता है,जिससे उनको मानसका ज्ञान हो सके। (परीक्षासमितिके पाठ्यक्रमकी विशेष जानकारीके लिये पाठकगण 'गीता-रामायण-परीक्षा-समिति, ऋषिकेश' को पत्र लिखकर नियमावली मँगा सकते है।) यदि पूरी रामायण न पढ़ा सके तो सरकार और शिक्षक, जितने अंशको विशेष लाभप्रद समझें, उतने अंशको ही पाठ्यक्रममे शामिल करे, परंतु रामायणका अध्ययन अवश्य कराना चाहिये; क्योंकि रामायणसे हिंदी भापाका, साहित्यिक शब्दों-का और कविता (छन्द-रचना) का ज्ञान तो होता ही है, साथ ही किसके साथ कैसा व्यवहार करना चाहिये—इस भारतीय संस्कृति-का ज्ञान भी हो जाता है, जो कि विशेष लाभप्रद है। रामचरित-मानसके दोहे, चौपाइयाँ, सोरठे, छन्द और श्लोक बड़े ही मधुर, सरल एवं काव्यके अलङ्कारादिके सभी गुणोंसे और प्रेमरससे ओत-प्रोत है तथा उनका अर्थ और भाव तो इतना लाभदायक है कि जिसकी प्रशंसा करनेमे हम सर्वथा असमर्थ है। यह महान् अनुपम ग्रन्थ आर्थिक, सामाजिक, भौतिक, नैतिक, व्यावहारिक और पारमार्थिक आदि सभी दृष्टियोंसे सब प्रकारसे उपादेय है। इसीलिये अनुभवी विद्वानोंने, संतोने तथा महात्मा गॉधीजीने भी इसकी भूरि-

भूरि प्रशंसा की है। हिंदी भाषामें ऐसा सब प्रकारसे सुन्दर और लाभप्रद ग्रन्थ दूसरा कोई नहीं है—यह कहना कोई अतिशयोक्ति न होगा। अतः सभी भाइयोंसे हमारी प्रार्थना है कि तन-मन-धनसे इसका यथाशक्ति अपने कुटुम्ब, गाँव, जिले और देशमें सब प्रकारसे प्रचार करें और स्वयं इसका यथाशक्ति अध्ययन करने तथा इसके उपदेशोंका पालन करनेकी भी चेष्टा करें। जो स्वयं पालन करता है, वही प्रचार भी कर सकता है और उसीका असर होता है। जो स्वयं पालन नहीं करता, उसको न तो इसके अमृतमय रहस्यका अनुभव ही हो सकता है, न वह प्रचार ही कर सकता है और न उसका लोगोंपर असर ही होता है।

महात्मा तुलसीदासजीद्वारा वर्णित भगवान् श्रीरामके परम पवित्र, शिक्षाप्रद, अनुपम, अति प्रशंसनीय, अमित प्रभावयुक्त चरित्रका यत्किञ्चित् सारभूत अंश बालकों तथा पाठकोंके लाभके लिये नीचे दिया जा रहा है, जिसका अनुकरण करके लाभ उठाना चाहिये।

बाल-अवस्थामें जब श्रीरामचन्द्रजी महाराज अपने भाइयोंके साथ खेला करते थे, उस समय वे अपने भाइयोंको जिता दिया करते और स्वयं हार जाया करते थे। अयोध्याकाण्डमें श्रीभरतजी कहते हैं—

मैं प्रभु कृपा रीति जियँ जोही। हारेहुँ खेल जितावहिं मोही॥

श्रीतुलसीदासजीने विनय-पत्रिकाके १०० वें पदमें कहा है—

खेलत संग अनुज बालक नित जोगवत अनट अपाउ।
जीति हारि चुचुकारि दुलारत देत दिवावत दाउ॥

इस प्रकार श्रीराम अपनी जीतमे भी हार मान लेते थे और छोटे भाइयोको प्रसन्न करनेके लिये उन्हें प्रेमसे दॉव दिया करते थे। मर्यादापुरुषोत्तम श्रीरामकी ऐसी स्वार्थत्यागपूर्ण पद्धति बालकोंको सीखनी चाहिये।

जब श्रीरामके सामने युवराजपदकी प्राप्तिका अवसर आया तो उस समय वे कितनी उदारताका व्यवहार करते है। अयोध्याकाण्डमें वे कहते है—

जनमे एक संग सब भाई। भोजन सयन केलि लरिकाई॥
करनबेध उपबीत बिआहा। संग संग सब भए उछाहा॥
बिमल बंस यहु अनुचित एकू। बंधु बिहाइ बडेहि अभिषेकू॥

'हम सब भाई एक साथ ही जन्मे, खाना-पीना, सोना, खेल-कूद, कर्णवेध, यज्ञोपवीत और विवाह आदि सब उत्सव साथ-साथ ही हुए; किंतु और भाइयोको छोड़कर अकेले मुझे युवराजपद दिया जाता है, यह निर्मल रघुकुलकी कैसी अनुचित रीति है।'

इससे हमे यह शिक्षा लेनी चाहिये कि हम भाइयोंके साथ समान व्यवहार ही करे।

कैकेयीद्वारा भरतको राजगद्दी और चौदह वर्षके लिये रामको वनवास देनेका वर मॉगनेपर महाराज दशरथ अत्यन्त व्याकुल हो गये। उस सयय कैकेयीकी आज्ञासे सुमन्त्र श्रीरामको बुलाने गये और शीघ्र ही उन्हे साथ लेकर आ गये। श्रीरामने आते ही पिताजीके मुखको मलिन देखकर उनकी व्याकुलताका कारण पूछा। इसपर माता कैकेयीने आदिसे अन्ततक सारी घटनाका विवरण बतलाते हुए कहा—'बेटा! तुम्हारे पिता तुम्हे वन

जानेकी आज्ञा देनेमें संकोच करते हैं, इसी कारणसे दुःखी हैं; और कोई दुःखका कारण नहीं है। तू माता-पिताका भक्त है, अतः पिताकी आज्ञाका पालन करके पिताको क्लेशसे बचा।' इसपर श्रीराम बोले—'इसमें तो मेरा सब प्रकारसे हित-ही-हित भरा है। वनमें मुनियोंसे मिलना, पिताकी आज्ञा, आपकी सम्मति और प्राणप्यारे भाई भरतको राजगद्दी मिलना—इससे बढ़कर मेरे लिये लाभकी और क्या बात होगी? ऐसे मौकेपर भी मैं 'ना' कर दूँगा तो मूर्खोंकी श्रेणीमें मैं सर्वप्रथम गिना जाऊँगा।' मानसमें भगवान्‌के वचन इस प्रकार हैं—

मुनिगन मिलनु बिसेषि बन सबहि भाँति हित मोर।
तेहि महँ पितु आयसु बहुरि संमत जननी तोर॥
भरतु प्रानप्रिय पावहिं राजू। बिधि सब बिधि मोहि सनमुख आजू॥
जौं न जाउँ बन ऐसेहु काजा। प्रथम गनिअ मोहि मूढ़ समाजा॥

मर्यादापुरुषोत्तम श्रीरामका कितना उच्चकोटिका स्वार्थत्यागपूर्ण विनययुक्त आदर्श व्यवहार है। इससे हमें विशेष शिक्षा लेनी चाहिये।

भगवान् श्रीराम वन जाते समय माता कौसल्याके साथ जो व्यवहार कर रहे हैं, उसमें नीति, धर्म और स्वार्थत्यागका अनुपम भाव भरा है। माता कौसल्या धर्म-शास्त्रके अनुसार, केवल पिताकी आज्ञा ही हो तो वनमें न जानेके लिये कह रही हैं और यदि पिता दशरथ तथा माता कैकेयी—दोनोंकी आज्ञा हो तो वन जानेके लिये आज्ञा दे देती हैं—

जौं केवल पितु आयसु ताता। तौ जनि जाहु जानि बड़ि माता॥
जौं पितु मातु कहेउ बन जाना। तौ कानन सत अवध समाना॥

वनगमनके समय श्रीसीताजी भगवान् रामके साथ चलनेकी आज्ञा माँग रही है; किंतु भगवान्‌ने वनके भयानक कष्टोंका खयाल करके उन्हें अयोध्यामें ही रहनेके लिये कहा। वे कहते है—

आपन मोर नीक जौं चहहू। बचनु हमार मानि गृह रहहू ॥
आयसु मोर सासु सेवकाई। सब बिधि भामिनि भवन भलाई ॥

... ...

काननु कठिन भयंकरु भारी। घोर घामु हिम बारि बयारी ॥
कुस कंटक मग काँकर नाना। चलब पयादेहिं बिनु पदत्राना ॥

इसपर पतिव्रताशिरोमणि सीताने वनके दु:खोंसे भी पतिवियोगजनित दु:खको अधिक मानकर प्रेमपूर्वक वन जानेके लिये ही आग्रह किया। तब भगवान् श्रीरामने सोचा—यदि मै इसे वनमे साथ न ले चलूँगा तो यह प्राणोका त्याग कर देगी, किंतु साथ चलनेका आग्रह नही छोड़ेगी। यह सोचकर भगवान्‌ने उन्हें साथ चलनेकी आज्ञा दे दी। मानसमे वर्णित सीताजी और श्रीरामका यह प्रेमपूर्ण संवाद आचरणमे लानेके लिये ध्यान देने योग्य है। सीताजी कहती है—

ऐसेउ बचन कठोर सुनि जौं न हृदउ बिलगान।
तौ प्रभु बिषम बियोग दुख सहिहहिं पावँर प्रान ॥

अस कहि सीय बिकल भइ भारी। बचन बियोगु न सकी सँभारी ॥

जब सीताकी इस प्रकारकी अधीर अवस्था हो गयी, तब—

देखि दसा रघुपति जियँ जाना। हठि राखें नहिं राखिहि प्राना ॥
कहेउ कृपाल भानुकुलनाथा। परिहरि सोचु चलहु बन साथा ॥

इसी प्रकार भगवान् श्रीराम भाई लक्ष्मणको भी माता-पिताकी सेवा करनेके लिये अयोध्या रहनेको कहते है—

मातु पिता गुरु स्वामि सिख सिर धरि करहिं सुभायँ ।
लहेउ लाभु तिन्ह जनम कर नतरु जनमु जग जायँ ॥

अस जियँ जानि सुनहु सिख भाई । करहु मातु पितु पद सेवकाई ॥
भवन भरतु रिपुसूदन नाहीं । राउ बृद्ध मम दुखु मन माहीं ॥
... ...

रहहु तात असि नीति बिचारी । सुनत लखनु भए ब्याकुल भारी ॥
... ...

इसपर लक्ष्मणजीने कहा—

दीन्हि मोहि सिख नीकि गोसाईं । लागि अगम अपनी कदराईं ॥
... ...

मोरें सबइ एक तुम्ह स्वामी । दीनबंधु उर अंतरजामी ॥
... ...

मन क्रम बचन चरन रत होई । कृपासिंधु परिहरिअ कि सोई ॥

जब लक्ष्मणजीका ऐसा प्रेमपूर्ण अत्यन्त आग्रह देखा, तब भगवान्‌ने लक्ष्मणकी प्रसन्नताके लिये माता सुमित्राकी आज्ञा लेकर साथ चलनेकी आज्ञा दे दी—

माँगहु बिदा मातु सन जाई । आवहु बेगि चलहु बन भाई ॥

यहाँ भगवान् श्रीराम और लक्ष्मण दोनोंका स्वार्थत्यागपूर्वक भ्रातृ-प्रेम सराहनीय है । उपर्युक्त वनगमनके प्रसंगमे श्रीरामका भ्रातृ-प्रेम और माता-पिताकी आज्ञाका पालन, राज्यपद-जैसे महान् स्वार्थका त्याग और वनवास-जैसे कष्टको आनन्दका रूप देना आदि आदर्श व्यवहार है । इनसे बालकोको विशेषरूपसे शिक्षा ग्रहण करनी चाहिये ।

भगवान् श्रीराम सीता और लक्ष्मणके साथ वनमे चले गये

और पिता दशरथने श्रीरामवियोगमे प्राणोंका परित्याग कर दिया। जब भरतजी ननिहालसे अयोध्या आये, तब वे वहाँका ऐसा हाल देखकर अत्यन्त दुःखित हुए। उन्होने धैर्यपूर्वक पिताकी और्ध्वदैहिक क्रिया की। तदनन्तर माताओं तथा वसिष्ठ आदि गुरुजनोंने राजतिलकके लिये बहुत आग्रह किया, किंतु भरतजीने स्वीकार नही किया और कहा—

मोहि उपदेसु दीन्ह गुरु नीका। प्रजा सचिव संमत सबही का॥
मातु उचित धरि आयसु दीन्हा। अवसि सीस धरि चाहउँ कीन्हा॥
गुर पितु मातु स्वामि हित बानी। सुनि मन मुदित करिअ भलि जानी॥
... ...

अब तुम्ह बिनय मोरि सुनि लेहू। मोहि अनुहरत सिखावनु देहू॥
ऊतरु देउँ छमब अपराधू। दुखित दोष गुन गनहिं न साधू॥

पितु सुरपुर सिय रामु बन करन कहहु मोहि राजु।
एहि तें जानहु मोर हित कै आपन बड़ काजु॥

तत्पश्चात् भरत मन्त्री, गुरुजन और माताओके साथ चित्रकूट गये और भरतने भगवान् श्रीरामसे बड़े ही विनीत-भावसे राजतिलकके लिये प्रार्थना की। चित्रकूटमे श्रीराम और भरतका जो परस्पर मिलन और वार्तालाप है, वह स्वार्थत्यागपूर्वक भ्रातृप्रेमका एक उज्ज्वल उदाहरण है। वे दोनो ही भाई राज्य-पद-जैसे स्वार्थको एक-दूसरेके लिये त्याग रहे है! श्रीराम-भरतकी प्रेममयी मिलनावस्थाका वर्णन करते हुए श्रीतुलसीदासजी कहते है—

पाहि नाथ कहि पाहि गोसाईं। भूतल परे लकुट की नाईं॥
... ...

बरबस लिए उठाइ उर लाए कृपानिधान ।
भरत राम की मिलनि लखि बिसरे सबहि अपान ॥
... ...

फिर निषादराजने भगवान्‌से बतलाया—

नाथ साथ मुनिनाथ के मातु सकल पुर लोग ।
सेवक सेनप सचिव सब आए बिकल बियोग ॥

तदनन्तर, गुरु वसिष्ठने भरत-शत्रुघ्नके लिये यह प्रस्ताव रक्खा—

तुम्ह कानन गवनहु दोउ भाई । फेरिअहिं लखन सीय रघुराई ॥

इसपर श्रीभरतजी बड़े प्रसन्न हुए और बोले—

सुनि सुबचन हरषे दोउ भ्राता । भे प्रमोद परिपूरन गाता ॥
कानन करउँ जनम भरि बासू । एहि तें अधिक न मोर सुपासू ॥
अंतरजामी रामु सिय तुम्ह सरबग्य सुजान ।
जौं फुर कहहु त नाथ निज कीजिअ बचनु प्रवान ॥
... ...

भगवान् श्रीरामने भरतजीसे अपनी असमञ्जसता व्यक्त करते हुए कहा—

राखेउ रायँ सत्य मोहि त्यागी । तनु परिहरेउ पेम पन लागी ॥
तासु बचन मेटत मन सोचू । तेहि ते अधिक तुम्हार सँकोचू ॥
... ...

श्रीभरतजीने राजतिलकके लिये प्रार्थना की—

देव एक बिनती सुनि मोरी । उचित होइ तस करब बहोरी ॥
तिलक समाजु साजि सबु आना । करिअ सुफल प्रभु जौं मनु माना ॥
सानुज पठइअ मोहि बन कीजिअ सबहि सनाथ ।
न तरु फेरिअहिं बंधु दोउ नाथ चलौं मैं साथ ॥

भरतको पादुकादान

प्रभु करि कृपा पाँवरी दीन्हीं । सादर भरत सीस धरि लीन्हीं ॥

इस प्रकरणसे हमें भ्रातृ-प्रेम और स्वार्थत्यागकी अपूर्व शिक्षा मिलती है। बालकोंको इसे सीखकर लाभ उठाना चाहिये।

भगवान् श्रीराम जब चित्रकूटसे पञ्चवटी पधारे, तब मार्गमें अनेक मुनियोंसे भेट हुई। उन मुनियोंके साथ भगवान् श्रीरामने बड़ा ही रहस्यमय, मर्यादा, शिक्षा, नीति, धर्म, दया, प्रेम और विनयसे युक्त स्वार्थरहित, अनुकरणीय आदर्श व्यवहार किया।

अरण्यकाण्डमे भगवान्‌का अत्रिमुनिके साथ कितना रहस्यपूर्ण संवाद है—

संतत मो पर कृपा करेहू। सेवक जानि तजेहु जनि नेहू॥
धर्मधुरंधर प्रभु कै बानी। सुनि सप्रेम बोले मुनि ग्यानी॥
जासु कृपा अज सिव सनकादी। चहत सकल परमारथ बादी॥
ते तुम्ह राम अकाम पिआरे। दीनबंधु मृदु बचन उचारे॥

आगे चलकर भगवान्‌ने मुनियोकी हड्डियोके ढेरको देखकर कहा—

निसिचर हीन करउँ महि भुज उठाइ पन कीन्ह।
सकल मुनिन्ह के आश्रमन्हि जाइ जाइ सुख दीन्ह॥

सुतीक्ष्ण मुनिसे मिलनेपर जब मुनिने भगवान्‌से स्तुति-प्रार्थना की, तब—

सुनि मुनि बचन राम मन भाए। बहुरि हरषि मुनिबर उर लाए॥
परम प्रसन्न जानु मुनि मोही। जो बर मागहु देउँ सो तोही॥
मुनि कह मैं बर कबहुँ न जाचा। समुझि न परइ झूठ का साचा॥
तुम्हहि नीक लागै रघुराई। सो मोहि देहु दास सुखदाई॥

जब भगवान् श्रीराम अगस्त्य ऋषिके पास जाने लगे, तब सुतीक्ष्णजी बोले—

अब प्रभु संग जाउँ गुर पाहीं। तुम्ह कहँ नाथ निहोरा नाहीं॥
देखि कृपानिधि मुनि चतुराई। लिए संग बिहसे द्वौ भाई॥

और अगस्त्यमुनिके आश्रमपर पहुँचनेपर—

मुनि पद कमल परे द्वौ भाई। रिषि अति प्रीति लिए उर लाई॥
... ...

तब रघुबीर कहा मुनि पाहीं। तुम्ह सन प्रभु दुराव कछु नाहीं॥
तुम्ह जानहु जेहि कारन आयउँ। ताते तात न कहि समुझायउँ॥
अब सो मंत्र देहु प्रभु मोही। जेहि प्रकार मारौं मुनिद्रोही॥

सीताहरणके बाद जटायुके साथ श्रीरामका कृतज्ञता, दया और प्रेमसे भरा हुआ जो बर्ताव है, वह बहुत ही प्रशंसनीय और अनुकरणीय है। श्रीतुलसीदासजी कहते हैं—

कर सरोज सिर परसेउ कृपासिंधु रघुबीर।
निरखि राम छबि धाम मुख बिगत भई सब पीर॥
... ...

राम कहा तनु राखहु ताता। मुख मुसुकाइ कही तेहिं बाता॥
जा कर नाम मरत मुख आवा। अधमउ मुकुत होइ श्रुति गावा॥
सो मम लोचन गोचर आगें। राखौं देह नाथ केहि खाँगें॥
जल भरि नयन कहहिं रघुराई। तात कर्म निज ते गति पाई॥
परहित बस जिन्ह के मन माहीं। तिन्ह कहुँ जग दुर्लभ कछु नाहीं॥
तनु तजि तात जाहु मम धामा। देउँ काह तुम्ह पूरनकामा॥
... ...

अबिरल भगति मागि बर गीध गयउ हरिधाम।
तेहि की क्रिया यथोचित निज कर कीन्ही राम॥
कोमल चित अति दीन दयाला। कारन बिनु रघुनाथ कृपाला॥
गीध अधम खग आमिष भोगी। गति दीन्ही जो जाचत जोगी॥
सुनहु उमा ते लोग अभागी। हरि तजि होहिं बिषय अनुरागी॥

इसके बाद भगवान् श्रीरामका शबरीके साथ जो प्रेमका बर्ताव है, वह बहुत ही प्रशंसा और आदरके योग्य है। भक्तोंके साथ भगवान् कैसा प्रेमपूर्ण व्यवहार करते है, इस बातको यहाँके बर्तावसे जानकर हमे भगवान्‌मे अनन्य श्रद्धा और प्रेम करना चाहिये। श्रीगोसाईंजी कहते है—

कंद मूल फल सुरस अति दिए राम कहुँ आनि।
प्रेम सहित प्रभु खाए बारंबार बखानि॥

... ...

कह रघुपति सुनु भामिनि बाता। मानउँ एक भगति कर नाता॥
जाति पाँति कुल धर्म बड़ाई। धन बल परिजन गुन चतुराई॥
भगति हीन नर सोहइ कैसा। बिनु जल बारिद देखिअ जैसा॥

किष्किन्धाकाण्डमें श्रीराम-लक्ष्मणका श्रीहनुमान्‌के साथ मिलनका प्रसङ्ग है, वह एक अद्भुत आदर्श है। उससे हमे भगवान् रामकी विनय, निरभिमानता, कुशलता और प्रेम तथा श्रीहनुमान्‌की श्रद्धा, भक्ति, विनय और प्रेमका पाठ सीखना चाहिये।

श्रीतुलसीदासजी कहते है—

बिप्र रूप धरि कपि तहँ गयऊ। माथ नाइ पूछत अस भयऊ॥
को तुम्ह स्यामल गौर सरीरा। छत्री रूप फिरहु बन बीरा॥

... ...

की तुम्ह तीनि देव महँ कोऊ। नर नारायन की तुम्ह दोऊ॥
जग कारन तारन भव भंजन धरनी भार।
की तुम्ह अखिल भुवन पति लीन्ह मनुज अवतार॥

इसपर भगवान् रामने कहा—

कोसलेस दसरथ के जाए। हम पितु बचन मानि बन आए॥

नाम राम लछिमन दोउ भाई। संग नारि सुकुमारि सुहाई॥
इहाँ हरी निसिचर बैदेही। बिप्र फिरहिं हम खोजत तेही॥
आपन चरित कहा हम गाई। कहहु बिप्र निज कथा बुझाई॥
... ...

इसपर श्रीहनुमान्‌जीने कहा—

मोर न्याउ मैं पूछा साईं। तुम्ह पूछहु कस नर की नाईं॥
तव माया बस फिरउँ भुलाना। ता ते मैं नहिं प्रभु पहिचाना॥
एकु मैं मंद मोहबस कुटिल हृदय अग्यान।
पुनि प्रभु मोहि बिसारेउ दीनबंधु भगवान॥
... ...

अस कहि परेउ चरन अकुलाई। निज तनु प्रगटि प्रीति उर छाई॥
तब रघुपति उठाइ उर लावा। निज लोचन जल सींचि जुड़ावा॥
... ...

तथा भगवान् श्रीरामने कहा—

समदरसी मोहि कह सब कोऊ। सेवक प्रिय अनन्यगति सोऊ॥
सो अनन्य जाकें असि मति न टरइ हनुमंत।
मैं सेवक सचराचर रूप स्वामि भगवंत॥

तदनन्तर, सुग्रीवसे मित्रता हुई। मित्रके साथ कैसा व्यवहार करना चाहिये, इस विषयमे भगवान्‌का उपदेश बड़ा अलौकिक है। केवल कथन ही नहीं, कथनके अनुसार उनका व्यवहार भी है। भगवान् सुग्रीवको आश्वासन देते हुए उनसे कहते है—

सुनु सुग्रीव मारिहउँ बालिहि एकहिं बान।
ब्रह्म रुद्र सरनागत गएँ न उबरिहिं प्रान॥
जे न मित्र दुख होहिं दुखारी। तिन्हहि बिलोकत पातक भारी॥

निज दुख गिरि सम रज करि जाना। मित्रक दुख रज मेरु समाना॥
कुपथ निवारि सुपंथ चलावा। गुन प्रगटै अवगुनन्हि दुरावा॥
देत लेत मन संक न धरई। बल अनुमान सदा हित करई॥
बिपति काल कर सतगुन नेहा। श्रुति कह संत मित्र गुन एहा॥
सखा सोच त्यागहु बल मोरें। सब बिधि घटब काज मैं तोरें॥

फिर, जब वालिसे भेट हुई, तब उसके साथ भी भगवान्‌का नीति, धर्म, दया और प्रेमका बड़ा सुन्दर व्यवहार है। इससे तथा बालिके बर्तावसे भी हमें भक्तिके तत्त्व-रहस्यकी शिक्षा ग्रहण करनी चाहिये।

श्रीरामचरितमानसमे बतलाया है—

हृदयँ प्रीति मुख बचन कठोरा। बोला चितइ राम की ओरा॥
धर्म हेतु अवतरेहु गोसाईं। मारेहु मोहि व्याध की नाईं॥
मैं बैरी सुग्रीव पिआरा। अवगुन कवन नाथ मोहि मारा॥

तब श्रीरामचन्द्रजीने कहा—

अनुज बधू भगिनी सुत नारी। सुनु सठ कन्या सम ए चारी॥
इन्हहि कुदृष्टि बिलोकइ जोई। ताहि बधें कछु पाप न होई॥
मूढ़ तोहि अतिसय अभिमाना। नारि सिखावन करसि न काना॥
मम भुज बल आश्रित तेहि जानी। मारा चहसि अधम अभिमानी॥

तब बालिने विनय और प्रेमपूर्वक कहा—

सुनहु राम स्वामी सन चल न चातुरी मोरि।
प्रभु अजहूँ मैं पापी अंतकाल गति तोरि॥

इसपर भगवान् रामका व्यवहार देखिये—

सुनत राम अति कोमल बानी। बालि सीस परसेउ निज पानी॥
अचल करौं तनु राखहु प्राना। .... ॥

इसपर वालिने कहा—कृपानिधान भगवन् ! मेरी बात सुनिये—

जन्म जन्म मुनि जतनु कराहीं। अंत राम कहि आवत नाहीं॥
जासु नाम बल संकर कासी। देत सबहि सम गति अविनासी॥
मम लोचन गोचर सोइ आवा। बहुरि कि प्रभु अस बनिहि बनावा॥

भगवान्‌ने यहाँ वालिके नीतियुक्त वचनोंको सुनकर नीतियुक्त जवाब दिया तथा फिर श्रद्धा, प्रेम और रहस्ययुक्त तात्त्विक वचनोंको सुनकर अपार दया और प्रेमका व्यवहार किया है। ये दोनों ही व्यवहार अलौकिक हैं। इसको देखकर हमलोगोंको भगवान्‌में श्रद्धा-प्रेम करना चाहिये। भगवान्‌ने वालि-जैसे पापीको भी उत्तम गति दी, भगवान्‌के ऐसे विरदसे हमलोगोंको भी आश्वासन मिलता है। अतः कभी निराश नहीं होना चाहिये, वरं भगवत्प्राप्तिके लिये परम उत्साहित होकर भगवान्‌में प्रेम करना चाहिये।

अपने साथ प्रेम करनेवालेके प्रति श्रीराम किस प्रकार प्रेम करते हैं, यह देखकर हमें केवल भगवान्‌में ही अनन्य प्रेम करना चाहिये। इस विषयमें श्रीसीताजीका प्रेम आदर्श है। सुन्दरकाण्डमें श्रीहनुमान्‌जी श्रीसीताजीसे श्रीरामका संवाद सुनाते हुए कहते हैं—

रघुपति कर संदेसु अब सुनु जननी धरि धीर।
अस कहि कपि गदगद भयउ भरे बिलोचन नीर॥

... ...

तत्व प्रेम कर मम अरु तोरा। जानत प्रिया एकु मनु मोरा॥
सो मनु सदा रहत तोहि पाहीं। जानु प्रीति रसु एतनेहि माहीं॥
प्रभु संदेसु सुनत बैदेही। मगन प्रेम तन सुधि नहिं तेही॥

भगवान्‌का कितना उच्चकोटिका प्रेम है। ऐसे प्रेम करनेवाले भगवान्‌को छोड़कर जो दूसरेको भजते है, उनको धिक्कार है।

चौदह वर्षकी अवधि समाप्त होनेपर भगवान् श्रीरामको भरतकी स्मृति हुई, क्योकि भगवान्‌के विरहमे व्याकुल हुए भरत भगवान् श्रीरामको याद कर रहे थे; अतः श्रीराम भक्त विभीषणके आग्रह करनेपर भी लङ्कामे नहीं गये। उस समय भगवान् रामके हृदयमे भरतके प्रति अलौकिक प्रेम दिखायी पड़ता था। लङ्काकाण्डमे जब विभीषणने यह प्रार्थना की कि—

सब बिधि नाथ मोहि अपनाइअ। पुनि मोहि सहित अवधपुर जाइअ॥

तब—

सुनत बचन मृदु दीनदयाला। सजल भए द्वौ नयन बिसाला॥

फिर भगवान् भरतको याद करते हुए विभीषणसे बोले—

तापस बेष गात कृस जपत निरंतर मोहि।
देखौं बेगि सो जतनु करु सखा निहोरउँ तोहि॥
बीतें अवधि जाउँ जौं जियत न पावउँ बीर।
सुमिरत अनुज प्रीति प्रभु पुनि पुनि पुलक सरीर॥

इस प्रकारके उत्कट प्रेमको देखकर स्वाभाविक ही मनुष्यके हृदयमे भगवान्‌से प्रेम करनेका भाव जाग्रत् होना चाहिये।

इसके अनन्तर, जो भरतजीकी विनयपूर्वक विरहकी व्याकुलता है, वह बहुत ही प्रशंसनीय तथा हमलोगोंके लिये अनुकरणीय है। उनकी उस दशाको देखकर श्रीहनुमान्‌का शरीर पुलकित हो गया। भरतका भगवान् राममे केवल भ्रातृप्रेम ही नही था, वे भगवद्भावसे

भी भावित थे और उनमें भगवान्‌के विरहकी व्याकुलता और भगवान्‌में श्रद्धा-प्रेमकी पराकाष्ठा थी। श्रीरामचरितमानसके उत्तरकाण्डमें उनकी उस प्रेमावस्थाका वर्णन करते हुए श्रीगोसाईंजी कहते हैं—

रहेउ एक दिन अवधि अधारा। समुझत मन दुख भयउ अपारा॥
कारन कवन नाथ नहिं आयउ। जानि कुटिल किधौं मोहि बिसरायउ॥
अहह धन्य लछिमन बड़भागी। राम पदारबिंदु अनुरागी॥

... ...

राम बिरह सागर महँ भरत मगन मन होत।
बिप्र रूप धरि पवनसुत आइ गयउ जनु पोत॥
बैठे देखि कुसासन जटा मुकुट कृस गात।
राम राम रघुपति जपत स्रवत नयन जलजात॥

देखत हनूमान अति हरषेउ। पुलक गात लोचन जल बरषेउ॥

इसके बाद जब भगवान् श्रीराम अयोध्याके निकट पुष्पक विमानपरसे भूमिमें उतर गये, तब भरतजी वहाँ आये और—

गहे भरत पुनि प्रभु पद पंकज। नमत जिन्हहि सुर मुनि संकर अज॥
परे भूमि नहिं उठत उठाए। बर करि कृपासिंधु उर लाए॥
स्यामल गात रोम भए ठाढ़े। नव राजीव नयन जल बाढ़े॥

भरतजीके इस प्रसङ्गसे हमें भगवान्‌के विरहमें व्याकुलता, श्रद्धा, प्रेम, विनय, दैन्य-भाव और निरभिमानताकी शिक्षा लेनी चाहिये।

तत्पश्चात् भगवान्‌ने सब प्रजाजनोंके साथ कैसा उच्च कोटिका बर्ताव किया कि सबके साथ एक साथ यथायोग्य मिले। श्रीगोस्वामीजी कहते हैं—

प्रेमातुर सब लोग निहारी। कौतुक कीन्ह कृपाल खरारी॥
अमित रूप प्रगटे तेहि काला। जथाजोग मिले सबहि कृपाला॥

... ...

छन महिं सबहि मिले भगवाना। उमा मरम यह काहुँ न जाना॥

इसके अनन्तर भगवान्‌का जो प्रजाजनोंके साथ राज्यशासनका बर्ताव है, उसकी तो उपमा भी नहीं दे सकते। आज कहीं भी उत्तम-से-उत्तम व्यवस्था-प्रबन्ध होता है तो उसके लिये यह कहावत चली आती है कि वहाँ तो 'रामराज्य' है। भगवान् श्रीरामके राज्यका वर्णन करते हुए गोस्वामीजीने बतलाया है—

राम राज बैठे त्रैलोका। हरषित भए गए सब सोका॥
बयरु न कर काहू सन कोई। राम प्रताप बिषमता खोई॥

बरनाश्रम निज निज धरम निरत बेद पथ लोग।
चलहिं सदा पावहिं सुखहि नहिं भय सोक न रोग॥

नहिं दरिद्र कोउ दुखी न दीना। नहिं कोउ अबुध न लच्छन हीना॥

राम राज नभगेस सुनु सचराचर जग माहिं।
काल कर्म सुभाव गुन कृत दुख काहुहि नाहिं॥

राम राज कर सुख संपदा। बरनि न सकइ फनीस सारदा॥
एक नारि ब्रत रत सब झारी। ते मन बच क्रम पति हितकारी॥
खग मृग सहज बयरु बिसराई। सबन्हि परस्पर प्रीति बढाई॥

इससे हमें, आश्रित जनोंके साथ कैसा बर्ताव करे—यह शिक्षा मिलती है। इसके बाद, भगवान्‌ने प्रजाको उपदेश दिया है। भगवान्‌के वचनोमे नीति, धर्म, विनय और प्रेम भरा हुआ है। भगवान् कहते है—

सुनहु सकल पुरजन मम बानी। कहउँ न कछु ममता उर आनी ॥
नहिं अनीति नहिं कछु प्रभुताई। सुनहु करहु जो तुम्हहि सोहाई ॥
जौं अनीति कछु भाषौं भाई। तौ मोहि बरजहु भय बिसराई ॥
बड़ें भाग मानुष तनु पावा। सुर दुर्लभ सब ग्रंथन्हि गावा ॥
साधन धाम मोच्छ कर द्वारा। पाइ न जेहिं परलोक सँवारा ॥

सो परत्र दुख पावइ सिर धुनि धुनि पछिताइ।
कालहि कर्महि ईस्वरहि मिथ्या दोस लगाइ ॥

एहि तन कर फल बिषय न भाई। स्वर्गउ स्वल्प अंत दुखदाई ॥
नर तनु पाइ बिषयँ मन देहीं। पलटि सुधा ते सठ बिष लेहीं ॥

सभी पाठक-पाठिकाओंसे तथा जनतासे प्रार्थना है कि श्रीभगवान्‌के उपर्युक्त चरित्र और वचनोंके अनुसार अपना जीवन बनावें। सरकारसे और विद्वान् अनुभवी शिक्षकोंसे एवं धनी-दानी सज्जनोंसे हमारा सविनय निवेदन है कि वे श्रीरामचरितमानसका स्वयं अध्ययन और अनुभव करें तथा जनताके हितके लिये स्कूल, कालेज, पाठशाला आदि शिक्षा-संस्थाओंके पाठ्यक्रममें रखवाकर इसका प्रचार करें। बालकोंके लिये रामचरितमानसकी शिक्षा बहुत ही आदर्श है। धार्मिक दृष्टिके सिवा काव्य, साहित्य और इतिहासकी दृष्टिसे तथा नैतिक, सामाजिक और व्यावहारिक दृष्टिसे भी यह ग्रन्थ बहुत ही अनुपम, सब प्रकारसे उपयोगी, सरल और मधुर है तथा चित्तको आकर्षण करनेवाला और सब प्रकारकी शिक्षा प्रदान करनेवाला है। अतः इसका हरेक प्रकारसे प्रचार करना चाहिये। हरेक भाई-बहिनको उचित है कि अपने घरमें भी यह ग्रन्थ मँगाकर रक्खें और इसको पढ़ने-पढ़ानेकी कोशिश करें।

श्रीमद्भगवद्गीता

जिस प्रकार बालकोके लिये पाठ्यक्रममे रामचरितमानसकी उपयोगिता है, उससे भी बढ़कर गीताकी उपयोगिता है। गीताकी संस्कृत बहुत सरल और मधुर है। श्लोकोके भाव हृदयग्राही और पक्षपातरहित है। उसमे थोड़ेमे ही परमात्माका तत्त्व, रहस्य तथा शिक्षाका सार भरा हुआ है। गीता नित्य-नवीन जीवन पैदा करनेवाली तथा मनुष्यमे मनुष्यत्वका भाव लानेवाली है। इसमे गागरमे सागरकी भाँति ज्ञान, वैराग्य, योग, सद्गुण, सदाचार आदि अध्यात्मविषय तो है ही, इसके सिवा शारीरिक, बौद्धिक, व्यावहारिक तथा नैतिक शिक्षा और उपदेश भी भरा हुआ है।

शारीरिक शिक्षाका अभिप्राय है शरीर-विषयकी उन्नतिकी शिक्षा। सतरहवें अध्यायके आठवें, नवें और दसवे श्लोकोमे जो सात्त्विक, राजस और तामस आहार बतलाया है, उनमेसे राजस-तामसका त्याग करके सात्त्विकका सेवन करना शारीरिक उन्नतिका भी हेतु है तथा छठे अध्यायके १६ वे और १७ वें श्लोकोमे योगके प्रकरणमे जो अनुचित आहार-विहारके त्याग और उचित सेवनकी बात है, वह शारीरिक आरोग्य और संगठनकी दृष्टिसे भी उपयोगी है। इसी प्रकार अन्य जहाँ-कही शरीर-संगठन, आरोग्य और आयु-वृद्धिके भाव है, वे सब शारीरिक उन्नतिमे लिये जा सकते है।

बौद्धिक शिक्षासे अभिप्राय है बुद्धिको तीक्ष्ण, निर्मल और सात्त्विक बनानेवाली शिक्षा। तेरहवें अध्यायके तीसरे और चौथे श्लोकोंमे अर्जुनको दार्शनिक विषय सुननेकी प्रेरणा करके उसके बाद जो आदेश दिया है, वह बुद्धिको तीक्ष्ण और निर्मल करनेवाला है।

इसी प्रकार अठारहवें अध्यायके २० वे, २१ वे और २२ वें श्लोकोंमें सात्त्विक, राजस, तामस ज्ञानका तथा ३० वें, ३१ वे और ३२ वें श्लोकोंमें बुद्धिका वर्णन है। उनमेसे राजसी-तामसी ज्ञान और बुद्धिका त्याग करके सात्त्विक ज्ञान और सात्त्विक बुद्धिका ग्रहण करनेसे बुद्धि तीक्ष्ण और निर्मल होती है। भगवान्‌ने कहा है—

सर्वभूतेषु येनैकं भावमव्ययमीक्षते।
अविभक्तं विभक्तेषु तज्ज्ञानं विद्धि सात्त्विकम्॥

(१८। २०)

'जिस ज्ञानसे मनुष्य पृथक्-पृथक् सब भूतोंमे एक अविनाशी परमात्मभावको विभागरहित समभावसे स्थित देखता है, उस ज्ञानको तो तू सात्त्विक जान।'

प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च कार्याकार्ये भयाभये।
बन्धं मोक्षं च या वेत्ति बुद्धिः सा पार्थ सात्त्विकी॥

(१८। ३०)

'हे पार्थ! जो बुद्धि प्रवृत्तिमार्ग और निवृत्तिमार्गको, कर्तव्य और अकर्तव्यको, भय और अभयको तथा बन्धन और मोक्षको यथार्थ जानती है, वह बुद्धि सात्त्विकी है।'

यह बौद्धिक शिक्षा है। इसी प्रकार जहाँ-कहीं भी बुद्धिके तीक्ष्ण, निर्मल और सात्त्विक होनेका प्रकरण है, वह सब बौद्धिक शिक्षाका विषय समझना चाहिये।

जिस व्यवहारसे मनुष्यकी उन्नति हो, वास्तवमे वही असली व्यवहार है। इस प्रकारकी शिक्षा व्यावहारिक शिक्षा है। भगवान्‌ने अर्जुनको दूसरे अध्यायके ३१ वेसे ३८ वे और अठारहवे अध्यायके ४१ वेसे ४८ वे तकके श्लोकोंमे जो उपदेश दिया है, उसमे व्यवहारको

लेकर शिक्षाकी बातें है। इसी प्रकार गीतामे जहाँ-कहीं व्यवहारकी बाते है, उनसे व्यावहारिक शिक्षा भी लेनी चाहिये।

न्याययुक्त बर्ताव करना नीति है और इस विषयकी शिक्षा नैतिक शिक्षा है। पहले अध्यायके तीसरेसे ग्यारहवेंतक द्रोणाचार्यके प्रति दुर्योधनके वचनोमे राजनीति भरी है। दुर्योधन कहता है—

पश्यैतां पाण्डुपुत्राणामाचार्य महतीं चमूम्।
व्यूढां द्रुपदपुत्रेण तव शिष्येण धीमता॥

(१।३)

'हे आचार्य! आपके बुद्धिमान् शिष्य द्रुपदपुत्र धृष्टद्युम्नके द्वारा व्यूहाकार खड़ी की हुई पाण्डुपुत्रोंकी इस बड़ी भारी सेनाको देखिये।'

यहाँ 'हे आचार्य! व्यूहाकार खड़ी की हुई पाण्डुपुत्रोंकी इस बड़ी भारी सेनाको देखिये'—इस कथनका यह भाव है कि यद्यपि हमारी सेना महान् है, तथापि पाण्डवोने व्यूहकी रचना इस प्रकार की है कि उनकी सेना अल्प होनेपर भी महान् दीखती है। आप देखिये तो सही, उनकी कैसी अद्भुत चातुरी है।

और 'आपके शिष्य—'यह कहनेका आशय है कि हमारी सेनाकी व्यूह-रचना तो इससे भी बढ़कर होनी चाहिये; क्योकि उनकी सेनाकी व्यूह-रचना करनेवाला धृष्टद्युम्न आपका शिष्य है, आप उसके आचार्य है; जब आपके शिष्यकी ऐसी रचना है तो फिर आपकी रचना तो उससे भी विशेष होनी चाहिये तथा धृष्टद्युम्नको द्रुपदपुत्र कहकर दुर्योधन द्रुपदके साथ जो द्रोणाचार्यका वैर था, उस वैरको याद दिलाते हुए युद्धके लिये आचार्यको जोश दिला रहा है, जिससे कि वे तेजीके साथ युद्ध करे।

एवं धृष्टद्युम्नको बुद्धिमान् कहनेका अभिप्राय यह है कि वह यद्यपि आपके मारनेके लिये उत्पन्न हुआ था तो भी आपका शिष्य बनकर उसने आपसे ही युद्धविद्या सीखी, यह उसकी कैसी बुद्धिमत्ता है!

नीतिकुशल दुर्योधनके वचनोंमें इसी प्रकार आगे भी चौथेसे ग्यारहवेंतकके श्लोकोंमें राजनीति भरी हुई है तथा तीसरे अध्यायके १० वेंसे १२ वें तक जो ब्रह्माजीके वचन हैं, उनमें शिक्षाप्रद नीतिके वचन हैं। और भी जहाँ-कहीं गीतामें नीतिकी बात है, उससे नीतिकी शिक्षा लेनी चाहिये।

गीतामें ऐसी रहस्यमयी शिक्षा भरी हुई है कि जिससे मनुष्य इस लोकमें न्याययुक्त अर्थकी सिद्धि करके अपना शरीर-निर्वाह और मरनेपर परलोकमें उत्तम-से-उत्तम गति लाभ कर सकता है। ऐसा उपदेशप्रद ग्रन्थ संस्कृत भाषामें भी दूसरा कोई देखनेमें नहीं आता, फिर अन्य भाषाओंकी तो बात ही क्या है! इसकी संस्कृतभाषा और कविताका लालित्य आकर्षक है। जो सदाचारी विद्वान् इसकी गम्भीरतामें गोता लगाते हैं, उनको इसमेंसे नये-नये उपदेशरत्न मिलते ही रहते हैं। गीता सब शास्त्रोंका सार है। इसकी महिमा जितनी गायी जाय, उतनी ही थोड़ी है। स्वयं श्रीवेदव्यासजीने कहा है—

गीता सुगीता कर्तव्या किमन्यैः शास्त्रसंग्रहैः।
या स्वयं पद्मनाभस्य मुखपद्माद्विनिःसृता॥

(महा० भीष्म० ४३। १)

'गीताका ही भली प्रकारसे श्रवण, कीर्तन, पठन-पाठन, मनन और धारण करना चाहिये, अन्य शास्त्रोंके संग्रहकी क्या आवश्यकता है; क्योंकि वह स्वयं पद्मनाभ भगवान्‌के साक्षात् मुख-कमलसे निकली हुई है।'

जिस प्रकार दर्शनशास्त्रके अवलोकनसे बुद्धि तीक्ष्ण होती है, उससे भी बढ़कर इस गीताशास्त्रके अनुशीलनसे बुद्धि तीक्ष्ण और निर्मल होती है; क्योंकि गीतामें दार्शनिक विषय भी उच्चकोटिका है। योग, सांख्य, वेदान्त आदि दर्शन-ग्रन्थोमें जो लाभप्रद बातें है, उनका तथा श्रुति-स्मृतियोंका भी सार इस गीताशास्त्रमे भगवान्‌ने कहा है। तेरहवें अध्यायके तीसरे-चौथे श्लोकोमे भगवान् अर्जुनको सुननेके लिये सचेत करते हुए कहते है—

तत्क्षेत्रं यच्च यादृक्च यद्विकारि यतश्च यत्।
स च यो यत्प्रभावश्च तत्समासेन मे शृणु॥

'वह क्षेत्र जो और जैसा है तथा जिन विकारोंवाला है और जिस कारणसे जो हुआ है तथा वह क्षेत्रज्ञ भी जो और जिस प्रभाव-वाला है—वह सब संक्षेपमें मुझसे सुन।'

ऋषिभिर्बहुधा गीतं छन्दोभिर्विविधैः पृथक्।
ब्रह्मसूत्रपदैश्चैव हेतुमद्भिर्विनिश्चितैः॥

'यह क्षेत्र और क्षेत्रज्ञका तत्त्व ऋषियोंद्वारा बहुत प्रकारसे कहा गया है और विविध वेद-मन्त्रोद्वारा भी विभागपूर्वक कहा गया है तथा भलीभाँति निश्चय किये हुए युक्तियुक्त ब्रह्मसूत्रके पदोंद्वारा भी कहा गया है।'

गीताके रहस्य और तत्त्वको जाननेवाले सदाचारी विद्वान्, साधु-महात्माओं तथा शिक्षकोंने एवं महात्मा गाँधीजीने भी इसकी भूरि-भूरि महिमा गायी है। अतएव बालकोंके लिये पाठ्यक्रममें गीताका अध्ययन अवश्य रखना चाहिये।

ऋषिकेशमें गीता-परीक्षा-समिति भी कार्य कर रही है,

उसके अनुसार पाठशालाओं और स्कूलोंमे बालकोंको गीताकी परीक्षा दिलायी जा सकती है।

तीसरी श्रेणीके बालकोंको गीताकी प्रवेशिका-परीक्षा दिला सकते है, जिसमे केवल दूसरे तथा तीसरे अध्यायको साधारण अर्थ-सहित कण्ठस्थ करना होता है। चौथी श्रेणीके बालकोंको गीताकी प्रथमा परीक्षा दिलावे, जिसमे गीताके प्रथमसे छठे अध्यायतक है, जिसका सालभरमे अर्थसहित कण्ठस्थ होना सहज है; क्योंकि यदि प्रतिदिन एक श्लोक भी कण्ठस्थ किया जाय तो भी सालभरमे छः अध्याय कण्ठस्थ हो सकते है। पाँचवी कक्षामें गीताकी मध्यमाका प्रथम खण्ड दिलावे, जिसमे अध्याय १ से १२ तक अर्थसहित कण्ठस्थ करना तथा गीता-तत्त्वविवेचनीके आधारपर पहले अध्यायकी व्याख्याका अध्ययन करना होता है। इसमेसे १ से ६ तकका तो प्रथमामे अध्ययन किया ही जा चुका है, बाकी छः अध्याय ही रह जाते है, उनका सालभरमे अध्ययन करना कोई कठिन नही। छठी कक्षामे गीताकी मध्यमाका द्वितीय खण्ड दिलावें, जिसमे अ० १ से १८ तक अर्थसहित कण्ठस्थ करना तथा गीता-तत्त्वविवेचनी अ० २, ३, ४ की टीका है। इसमें भी १ से १२ तकका तो प्रथमा और मध्यमा प्रथम खण्डमे अध्ययन हो ही चुका है, बाकी छः अध्याय ही रह जाते है, उनका सालभरमे अध्ययन करना कोई कठिन नहीं। सातवी कक्षामे गीताकी मध्यमाका तृतीय खण्ड दिलावें, जिसमें प्रधानतया गीता-तत्त्वविवेचनी अ० ५ से ९ तककी टीका है। आठवीं कक्षामें गीताकी उत्तमा परीक्षा दिलावे, जिसमे प्रधानतया गीता-तत्त्वविवेचनी अध्याय १० से १८ तककी टीका है तथा नवी

और दसवीं कक्षाओंमे गीताविशारदकी परीक्षा दिलावें, जिसमे कई टीकाओंका तुलनात्मक अध्ययन विशेषरूपसे रक्खा गया है। गीता-परीक्षा-समितिके पाठ्य-क्रमकी विशेप जानकारीके लिये नियमावली ऋृपिकेशसे मँगाकर देख सकते है।

यदि ऐसा न हो सके तो साधारण तौरपर तो गीता अवश्य ही रखनी चाहिये। दूसरी कक्षामे अध्याय १, २; तीसरी कक्षामे अ० ३, ४; चौथी कक्षामे अध्याय ५, ६; पाँचवीं कक्षामे अध्याय ७, ८; छठी कक्षामे अध्याय ९, १०; सातवीं कक्षामे अध्याय ११, १२; आठवीं कक्षामे अध्याय १३, १४; नवीं कक्षामे अध्याय १५, १६ और दसवी कक्षामे अध्याय १७, १८—इस प्रकार क्रम रखकर भी पढ़ा सकते है। यह क्रम बहुत ही साधारण है; क्योंकि सालभरमे केवल दो अध्यायोंका ही अध्ययन करना होता है और इससे गीताका ज्ञान बहुत सहज ही हो सकता है। साथ-साथ अर्थ और भाव भी सिखलाना चाहिये, जिससे उनके जीवनपर अच्छा असर हो और उनके आचरणोका सुधार हो।

सरकारसे, शिक्षकोंसे और दानी सज्जनोसे हमारा निवेदन है कि वे गीताका पठन, अध्ययन, मनन और अनुभव करके स्वयं इसके उपदेशोंको धारण करे तथा दूसरोको धारण करानेके लिये इसका प्रचार करे एवं स्कूल, कालेज, पाठशाला आदि शिक्षा-संस्थाओंमे गीताकी पढ़ाईको भी अनिवार्य करने-करानेकी विशेपरूपसे कोशिश करे।

मनुष्य-जीवनकी दुर्लभता, भगवत्प्राप्तिमें कुछ सामयिक विघ्न और उनसे छूटनेके उपाय

मनुष्य-जीवनकी दुर्लभता और हमारा कर्तव्य

मनुष्य-जीवन बड़ा दुर्लभ है, बड़े पुण्य-संचयसे भगवान्‌की कृपा होनेपर ही यह प्राप्त होता है। इसका एक-एक क्षण भगवत्स्मरण-मे और भगवान्‌की सेवामे ही बिताना चाहिये। पर बड़े ही खेदकी बात है कि हमारा बहुत-सा समय यों ही बीत गया और अब भी बीता ही जा रहा है। इसलिये शीघ्र सचेत होकर हमें अपने कर्तव्यका पालन करते हुए मनुष्य-जीवनको सफल बनाना चाहिये, जिससे भविष्यमे पश्चात्ताप न करना पड़े।

अत. प्रतिक्षण क्षीण होनेवाले इस मनुष्य-जीवनके अमूल्य समयका हमने किस हदतक सदुपयोग किया, यह हमे विचारना चाहिये। केवल मनुष्यका ही शरीर ऐसा है, जिसमें यह जीव सदाके लिये जन्म-मरणसे छुटकारा पाकर परमात्माको प्राप्त कर सकता है। यदि हम अपनी असावधानीसे इस दुर्लभ मानव-जीवनको पशुओंकी भाँति आहार, निद्रा और मैथुनमे लगा दें तो हमारा जीवन पशु-जीवन ही समझा जायगा। श्रीचाणक्यने कहा है—

आहारनिद्राभयमैथुनानि
समानि चैतानि नृणां पशूनाम् ।
ज्ञानं नराणामधिको विशेषो
ज्ञानेन हीनाः पशुभिः समानाः ॥
(चाणक्यनीति १७ । १७)

'आहार, निद्रा, भय और मैथुन—ये मनुष्यों और पशुओंमें एक समान ही है । मनुष्योंमे केवल विशेषता यही है कि उनमें ज्ञान अधिक है, किंतु ज्ञानसे शून्य मनुष्य पशुओंके ही तुल्य है ।'

अतः हमलोगोंको अपने समयका सदुपयोग करना चाहिये, नहीं तो, अन्तमे हमको घोर पश्चात्ताप करना पड़ेगा । इस विषयमे श्रुति हमे चेतावनी देती हुई कहती है—

इह चेदवेदीदथ सत्यमस्ति
न चेदिहावेदीन्महती विनष्टिः ।
भूतेषु भूतेषु विचित्य धीराः
प्रेत्यास्माल्लोकादमृता भवन्ति ॥
(केनोपनिषद् २ । ५)

'यदि इस मनुष्य-शरीरमे परमात्म-तत्त्वको जान लिया जायगा तो सत्य है यानी उत्तम है और यदि इस जन्ममे उसको नहीं जाना तो बड़ी भारी हानि है । धीर पुरुष सम्पूर्ण भूतोमे परमात्माका चिन्तन कर—परमात्माको समझकर इस देहको छोड़ अमृतको प्राप्त होते है अर्थात् इस देहसे प्राणोंके निकल जानेपर वे अमृतस्वरूप परमात्माको प्राप्त हो जाते है ।'

इसलिये बुद्धिमान् मनुष्यको उचित है कि समस्त प्राणियोंमें

परमात्माके स्वरूपका चिन्तन करते हुए ही अपना जीवन सफल बनावें । मनुष्यका जन्म बहुत ही दुर्लभ है, वह ईश्वरकी कृपासे हमे प्राप्त हो गया है । ऐसा सुअवसर पाकर जीवनके महत्त्वपूर्ण समयका एक क्षण भी हमे व्यर्थ नहीं खोना चाहिये । जिस कामके लिये हम आये हैं, उसे सबसे पहले करना चाहिये । जो काम हमारे बिना हमारे जीवितावस्थामे दूसरे कर सकते है, वह काम उन्हींसे करा लेना चाहिये, उस काममे अपना अमूल्य समय नहीं लगाना चाहिये और जो काम हमारे मरनेके बाद हमारे उत्तराधिकारी कर सकते है, चाहे वह कैसा भी जरूरी क्यो न हो, उस काममे अपना अमूल्य समय नहीं लगाना चाहिये । पर जो काम हमारे बिना न हमारे जीवनकालमे और न मरनेपर ही, दूसरे किसीके द्वारा सम्पन्न हो सकता है तथा जो हमारे इस लोक और परलोकमे परम कल्याण करनेवाला है और जिस कामके लिये ही हमे यह मनुष्यशरीर मिला है एवं जिस काममे थोड़ी भी कमी रहनेपर हमे पुनः जन्म लेना पड़ सकता है, साथ ही, जिस कार्यकी पूर्ति हमारे बिना किसी दूसरेसे भी कभी हो ही नहीं सकती, उस कामको तो सबसे अधिक महत्त्वका और सबसे अधिक जरूरी समझकर तत्परताके साथ सबसे पहले हमें करना ही चाहिये । वह काम है—परमात्माकी प्राप्ति । उसकी प्राप्तिका उपाय है—ईश्वरकी भक्ति, उत्तम गुणोंका संग्रह, उत्तम आचरणोंका सेवन, संसारसे वैराग्य और उपरति, सत्पुरुषोंका सङ्ग और सत्-शास्त्रोंका स्वाध्याय, परमात्माके तत्त्वका यथार्थ ज्ञान, मन और इन्द्रियोंका संयम, दुखी और अनाथोंकी निष्काम सेवा आदि-आदि । अतः इन्हीं कामोमे अपना समय अधिक-से-अधिक लगानेकी चेष्टा करनी चाहिये ।

अधिकतर समयमे यह मन व्यर्थका ही चिन्तन करता रहता है, जो कि हमारे लिये बहुत ही खतरेकी चीज है। अतः मनको व्यर्थ चिन्तनसे हटाकर भगवान्‌के चिन्तनमे लगाना चाहिये तथा भगवान्‌के जप-ध्यानके समय हमे जो निद्रा और आलस्य घेर लेते हैं, उनको विवेक, विचार और हठसे हटाना चाहिये। नहीं तो, आगे जाकर घोर पश्चात्ताप करना पड़ेगा। श्रीतुलसीदासजी कहते है—

सो परत्र दुख पावइ सिर धुनि धुनि पछिताइ।
कालहि कर्महि ईस्वरहि मिथ्या दोस लगाइ॥

ईश्वरकी हमलोगोपर बड़ी भारी अहैतुकी दया है, जो कि हमें उसकी कृपासे मनुष्यका शरीर मिला है। श्रीरामचरितमानसमें कहा है—

आकर चारि लच्छ चौरासी। जोनि भ्रमत यह जिव अबिनासी॥
फिरत सदा माया कर प्रेरा। काल कर्म सुभाव गुन घेरा॥
कबहुँक करि करुना नर देही। देत ईस बिनु हेतु सनेही॥

इसपर हमे विचार करना चाहिये। पृथ्वीपर असंख्य जीव हैं, उनमें मनुष्य बहुत ही कम संख्यामे है—अत्यन्त परिमित है। ऐसे दुर्लभ मनुष्यशरीरको पाकर जो मनुष्य आलस्य, प्रमाद, पाप और भोगोंमे अपना जीवन बिताता है, उसकी मूर्खता नही तो और क्या है!

ईश्वरकी कृपासे हमे उत्तम धर्म, उत्तम काल, उत्तम देश, उत्तम जाति और उत्तम सङ्ग भी मिला है; क्योंकि वैदिक सनातन धर्म, जिसको हम हिंदू-धर्मके नामसे कहते है, सबसे पहलेका यानी अनादि है। अन्य जितने भी मत-मतान्तर धर्मके नामसे प्रसिद्ध है—सब इसके बादके है और इसीकी सहायतासे बने है। इसलिये यह

सबसे श्रेष्ठ भी है। तीनो लोकोंमे पृथ्वी श्रेष्ठ है और पृथ्वीमें आर्यावर्त (भारतवर्ष) श्रेष्ठ है, जिसे हम 'हिंदुस्थान' कहते हैं। कभी ऐसा था कि सारी पृथ्वीके लोग इस भारतवर्षसे ही धार्मिक शिक्षा पाया करते थे। मनुस्मृतिमे कहा है—

एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः ।
स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवाः ॥
(२ । २०)

'इसी देश (भारतवर्ष) मे उत्पन्न हुए ब्राह्मणोंके पाससे अखिल भूमण्डलके सभी मनुष्य अपने-अपने आचारकी शिक्षा ग्रहण करें।' अतः यह भारत देश अध्यात्मविषयमे सब देशोमें उत्तम माना गया है और अब भी अध्यात्मविषयमे उत्तम है।

यद्यपि कलियुग महान् अनर्थका मूल और पापोंकी जड़ है; किंतु इसमे एक बड़ा भारी गुण है कि केवल भगवान्‌की भक्ति करनेसे इसमे मनुष्यका उद्धार हो जाता है। श्रीतुलसीदासजी कहते हैं—

कलिजुग सम जुग आन नहिं जौं नर कर बिस्वास ।
गाइ राम गुन गन बिमल भव तर बिनहिं प्रयास ॥

अध्यात्मविषयक धार्मिक ग्रन्थोंका सङ्ग भी इस समय प्रायः बहुत ही सुलभ है। इस प्रकारकी सब सामग्री पाकर अपनी अकर्मण्यताके कारण हम यदि ईश्वर-प्राप्तिसे वञ्चित रहे तो यह हमारे लिये बहुत ही लज्जा और दुःखकी बात है। श्रीतुलसीदासजीने कहा है—

जो न तरै भवसागर नर समाज अस पाइ ।
सो कृतनिंदक मंदमति आत्माहन गति जाइ ॥

अतएव हमलोगोको आलस्य-निद्रा, पाप-प्रमाद, स्वाद-शौक,

ऐश-आराम, भोग-विलास, दुर्व्यसन-दुराचार और कलुष-कालिमा आदि-को विषके समान समझकर उनका त्याग करना चाहिये तथा भजन-ध्यान, सत्सङ्ग-स्वाध्याय, सेवा-संयम, सद्‌गुण-सदाचार, ज्ञान-वैराग्य आदिको अमृतके समान समझकर उनका श्रद्धा-भक्तिपूर्वक सदा-सर्वदा सेवन करना चाहिये। एवं भगवान्‌के नाम, रूप, गुण और प्रभावका तत्त्व-रहस्य जाननेके लिये उनका श्रवण, पठन, कीर्तन और स्मरण करते हुए मनुष्य-जीवनको सार्थक बनाना चाहिये।

यह याद रखना चाहिये कि मनुष्यका जीवन बहुत ही उपयोगी, दुर्लभ और सर्वोत्तम होनेपर भी है यह क्षणिक। अभी तो है, पर एक क्षणके बादका इसका भरोसा नहीं है। न मालूम काल कब आकर इसका कलेवा कर जाय! मनुष्यका शरीर केवल भोग भोगनेके लिये ही नहीं है—आहार, निद्रा और मैथुन आदि तो पशुशरीरमें भी मौजूद हैं। फिर मनुष्यके शरीरको पाकर जो आहार, निद्रा और मैथुनमे ही अपना समय बिताता है, वह मनुष्यके रूपमे पशु ही है। श्रीतुलसीदासजी कहते हैं—

एहि तन कर फल बिषय न भाई। स्वर्गउ स्वल्प अंत दुखदाई॥
नर तनु पाइ बिषयँ मन देहीं। पलटि सुधा ते सठ बिष लेहीं॥
ताहि कबहुँ भल कहइ न कोई। गुंजा ग्रहइ परस मनि खोई॥

इसलिये मनुष्य-शरीरको पाकर अपना जीवन, शीघ्रातिशीघ्र अपने आत्माका उद्धार हो, उसी काममे लगाना चाहिये। श्रीभगवान्‌ने गीतामे कहा है—

अनित्यमसुखं लोकमिमं प्राप्य भजस्व माम्॥
(९। ३३)

'इसलिये तू सुखरहित और क्षणभङ्गुर इस (दुर्लभ) मनुष्य-शरीरको प्राप्त होकर निरन्तर मेरा ही भजन कर।'

मनुष्यका जन्म इतना मूल्यवान् है कि यदि कोई लाख रुपये खर्च करे तो भी उसे एक क्षण भी नहीं मिल सकता। अतः मनुष्यजीवनके एक क्षणको भी अमूल्य समझकर व्यर्थ नहीं गँवाना चाहिये। समय बीता जा रहा है। ज्ञानियोंको ज्ञानके द्वारा, भक्तोंको भक्तिके द्वारा और योगियोंको योगके द्वारा तथा व्यापारियोंको शुद्ध व्यापारके द्वारा अपने आत्माका कल्याण शीघ्र हो, इसके लिये कटिबद्ध होकर पूर्ण प्रयत्न करना चाहिये।

आत्माके कल्याण अथवा परमात्माकी प्राप्तिके शास्त्रविहित अनेकों मार्ग हैं। असलमें मुख्य आवश्यकता है लक्ष्य ठीक रखनेकी। यदि लक्ष्यपर निरन्तर अचूक दृष्टि है तो फिर किसी भी मार्गसे चलकर साधक लक्ष्यतक पहुँच सकता है और अपने ध्येयको प्राप्त कर सकता है। लक्ष्यकी अचूक दृष्टि उसे मार्गभ्रष्ट होनेसे सदा बचाती रहती है। तुलाधार और नन्दभद्र नामक व्यापारियोंने व्यापारके द्वारा ही अपना उद्धार किया था। तुलाधारकी कथा पद्मपुराणके सृष्टि-खण्ड और महाभारतके शान्तिपर्वमें तथा नन्दभद्रकी कथा स्कन्द-पुराणके माहेश्वरखण्डान्तर्गत कुमारिकाखण्डमें आती है। इनका सत्य व्यापार था, सबके साथ समताका व्यवहार था, निष्कामभाव था और व्यापारके द्वारा ही परमात्माको प्राप्त करना इनका साधन था। आज भी यदि कोई इस प्रकारसे व्यापार करे तो उसे परमात्माकी प्राप्ति हो सकती है; क्योंकि ऐसे निष्कामी पुरुषमें लोभका सर्वथा त्याग होता है, वह कर्तव्यबुद्धिसे या भगवत्प्रीत्यर्थ ही व्यापार करता

है—जो भगवत्प्राप्तिका सहज हेतु होता है। जैसे लोभी मनुष्य धनके लोभसे व्यापार करता है, वैसे ही स्वार्थत्यागी सात्त्विक पुरुष संसारके हितको सावधानीके साथ सामने रखते हुए ही कर्तव्यबुद्धिसे या भगवान्‌की प्रसन्नताके लिये व्यापार करता है। जैसे लोभीके यह भाव रहता है कि रुपये अधिक कैसे पैदा हो, उसी प्रकार निष्कामीके यही भाव रहता है कि लोगोका अधिक-से-अधिक हित कैसे हो अथवा भगवान्‌मे प्रेम या भगवत्प्राप्ति कैसे हो। भगवान्‌की प्रीति और भगवत्प्राप्तिका जो उद्देश्य है, यह कामना होते हुए भी निष्काम ही है। जिस व्यापारमे कामना, आसक्ति, स्पृहा, अहंता, ममताका त्याग है, वही व्यापार या शास्त्रविहित कर्म निष्काम है और भगवत्प्राप्ति करानेवाला है। गीतामें भगवान् कहते है—

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि॥

(२।४७)

'तेरा कर्म करनेमें ही अधिकार है, उसके फलोंमें कभी नहीं। इसलिये तू कर्मोंके फलका यानी अहंता, ममता, वासना, आसक्ति आदिका हेतु मत हो तथा तेरी कर्म न करनेमे भी आसक्ति न हो।'

विहाय कामान् यः सर्वान् पुमांश्चरति निःस्पृहः।
निर्ममो निरहङ्कारः स शान्तिमधिगच्छति॥

(२।७१)

'जो पुरुष सम्पूर्ण कामनाओंको त्यागकर ममतारहित, अहङ्कार-रहित और स्पृहारहित हुआ विचरता है, वही शान्तिको प्राप्त होता है।'

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः॥
(१८।४६)

'जिस परमेश्वरसे सम्पूर्ण प्राणियोंकी उत्पत्ति हुई है और जिससे यह समस्त जगत् व्याप्त है, उस परमेश्वरकी अपने वर्णधर्मके अनुसार स्वाभाविक कर्मोंद्वारा पूजा करके मनुष्य परम सिद्धिको प्राप्त हो जाता है।'

परंतु आजकल कई प्रकारके ऐसे शास्त्रविपरीत भावोंकी आँधी-सी आ गयी है कि जिससे मनुष्य अपने जीवनके असली ध्येयको भूल-कर, लक्ष्य-भ्रष्ट-सा होकर अन्याय और अधर्मपर उतारू हो गया है। इसीसे समाजभरमें अनेकों प्रकारसे नैतिक और शारीरिक भ्रष्टाचारका विस्तार हो रहा है। बुरे कर्ममें बुराईकी भावना निकलकर उसमें गौरव-बुद्धि होने लगी है। ऐसे ही कुछ विषयोंकी चर्चा यहाँ की जाती है। इनमें पारमार्थिक हानि—साधनपथमें बड़ी भारी रुकावट तो हो ही रही है—सामाजिक पतन भी पराकाष्ठाको पहुँच रहा है तथा लोगोंके संताप-दुःखोंकी वृद्धि हो रही है। इन्हींमें एक विषय है—

व्यापारमें सत्य और समताका अभाव

अर्थोपार्जनके जितने साधन हैं—आजकल प्रायः सभी दूषित हो गये हैं। प्राचीन कालमें अर्थोपार्जनके साधनोंमें इतनी झूठ, कपट, चोरी, बेईमानी, धोखेबाजी नहीं थी। व्यवहारमें प्रायः सत्य और समभाव था। सत्य और सम व्यवहारका रूप संक्षेपमें यह है—

व्यापार करते समय वस्तुओंके खरीदने-बेचनेमें तौल, नाप और गिनती आदिसे कम दे देना या अधिक ले लेना और वस्तुको बदल-

कर या एक वस्तुमे दूसरी वस्तु मिलाकर अच्छीके बदले खराब दे देना या खराबके बदले अच्छी ले लेना; नफा, आढ़त, दलाली, कमीशन, व्याज और भाड़ा आदि ठहराकर उससे अधिक लेना या कम देना, इसी तरह किसी भी व्यापारमें झूठ, कपट, चोरी और जबरदस्तीका या अन्य किसी प्रकारके अन्यायका प्रयोग करके दूसरोंके स्वत्व (हक) को हड़प लेना—इन सब दोषोंसे रहित जो सत्य और न्याययुक्त पवित्र वस्तुओंका खरीदना और बेचना है, वही क्रय-विक्रयरूप सत्य-व्यवहार है ।

जैसे असली घीमे वेजिटेबल (जमाया तेल) मिलाना; सरसों, बादाम और नारियल आदिके तेलमे ह्वाइट ऑयल मिलाना; रूई, पाट, ऊन, सुपारी आदिमे जल दे देना अथवा दिखाये हुए नमूनेकी अपेक्षा खराब माल देना, जीरेमे कंकड़ और दाल आदिमे मिट्टी मिलाना, आटेमें खराब आटा या इमलीके बीजोका चूर्ण मिलाना और दूधमे जल मिला देना आदि भी असत्य-व्यवहार है । इन सबसे रहित जो व्यवहार है, वही पवित्र और सत्य-व्यवहार है ।

सबके साथ पक्षपातसे रहित होकर समतापूर्वक व्यवहार करना । एक चतुर व्यापारकुशल व्यक्तिको जिस भावमें वस्तु दी और ली जाय, उसी भावमे दूसरे भोले व्यापार-ज्ञानशून्य व्यक्तिको भी देना और लेना । सारांश यह कि वस्तुमे तथा मूल्यमें पक्षपात, विषमता या किसी प्रकारका भी भेदभाव न करना समव्यवहार है ।

आजकल धनलोलुपताके मोहमे प्रायः लोग केवल धन कमानेके लिये ही व्यापार करते हैं । उन लोभी मनुष्योके हृदयमे क्रय-विक्रयके

समय यही भाव रहता है कि अधिक-से-अधिक रुपये कैसे मिलें। लोभके दो भेद होते हैं—अनुचित और उचित। अनुचित लोभ तामसी है और उचित लोभ राजसी है। जिस लोभके वशीभूत होकर मनुष्य झूठ, कपट, चोरी, बेईमानी, दगाबाजी करके अन्यायसे धन-संचय करता है तथा न्यायसे प्राप्त हुए उचित कार्यपर भी खर्च नहीं करता, यह लोभ अनुचित और तामसी है। जो झूठ, कपट, बेईमानीसे तो धनोपार्जन नही करता और न न्याययुक्त कार्यके प्राप्त होनेपर खर्च करनेमें कंजूसी ही करता है, किंतु न्यायसे प्राप्त हुए रुपयोका खूब संग्रह करनेकी इच्छा रखता है, यह लोभ उचित और राजसी है। तामसी लोभके कारण व्यवहारमे सत्य और समता नहीं रही तथा राजसी लोभके कारण समता नही रही।

व्यापारियोंका कर्तव्य

व्यापारियोको चाहिये कि व्यापारमे सदा सचाईका ही व्यवहार करे। जो व्यापार सचाईके साथ किया जाता है, उससे व्यापारकी भी उन्नति होती है; क्योकि सचाईसे बड़ी अच्छी साख जमती है और सब लोग विश्वास करने लगते है। संसारकी ओर दृष्टि डालनेसे आज संसारभरमे अंग्रेजोका व्यापार अपेक्षाकृत सच्चा समझा जाता है। इसीलिये वे व्यापारमे बड़े कुशल माने जाते है। सचाईके कारण उनके व्यापारकी उन्नति भी काफी हुई है। जिस समय हिंदुस्थानमे अंग्रेजोका राज्य था, उस समय यहॉ अंग्रेजोका व्यापार भी बहुत था। आयात-निर्यातका तथा कुछ दिनो पहलेतक जूट आदि मिलोका अधिकांश व्यापार उन्हींके हाथमें था। उस समय उनकी व्यापारी-सचाईके पद-पदपर प्रमाण मिलते थे। कपड़े, सूत, रूई

आदिके, सरसों, तीसी, तिल आदि तेलहनके या गेहूँ, चावल आदि गल्लेके व्यापारमे बड़ी मंदी-तेजी होनेपर भी अंग्रेज व्यापारी बहुत बड़ा घाटा सहकर भी अधिकांशमें कभी बेईमानी नही करते थे। विलायतसे बहुत कपडा आता था, पर अत्यधिक बाजार तेज होनेपर भी वे न तो सूतमे खराब रूई देते थे, न कपड़ेमे सूत कम देते थे और न नापमे ही कम देते थे। कुछ भी खराबी होती या नापमे कपड़ा जरा भी कम होता था तो उसका तुरंत बट्टा कर देते। वे तेज बाजारमे मंदेमे बेचा हुआ माल देनेसे और मंदे बाजारमे तेजमे लिया हुआ माल लेनेसे कभी इन्कार नहीं करते थे। अंग्रेज मिलवाले इसका भी ध्यान रखते थे कि बाजार मंदा हो जानेपर लेनेवालोको नुकसान न हो। किसीको दलाली, एजेंसी या बेनियनशिपका काम दे देते तो फिर लोभके कारण कभी वे ऐसा मौका नही ढूँढ़ते थे कि थोड़ी-सी कोई भूल दीख पड़े तो उससे दलाली, एजेंसी या बेनियनशिपका काम छुड़ाकर स्वार्थवश किसी दूसरेको दे दे। इसी सचाई तथा सद्व्यवहारसे लोगोंपर उनका प्रभाव था। इस कारण लोगोंका उनमे इतना विश्वास था कि लोग अधिक दाम देकर या कम दाम लेकर भी उन्हींसे माल खरीदना-बेचना चाहते थे। अब भी अधिकांश यही बात है।

इन्कमटैक्सके विषयमे भी उनके बहीखाते तथा रजिस्टरोपर सरकार विश्वास करती थी। अब भी उनके बहीखाते और रजिस्टरो-के विषयमे हिंदुस्थानियोकी अपेक्षा जनता और सरकार अधिक विश्वास करती है। हमारे व्यापारी भाइयोको भी सत्य तथा परहितपर ध्यान देकर व्यापारका सुन्दर आदर्श रखना चाहिये। इसीमे सब

प्रकारसे गौरव है। यदि पूर्ण सचाईके व्यापारके साथ निष्कामभाव भी रहे तो अन्तःकरण शुद्ध होकर उस व्यापारके द्वारा ही अति शीघ्र परमात्माकी प्राप्ति भी हो सकती है।

इसी प्रकार सरकारी कर्मचारी तथा अन्य पेशेवाले सभी भाइयों-को यह ध्यान रखना चाहिये कि अन्याय, अधर्म तथा असत् कमाई-का पैसा कभी न आने दे तथा किसी भी निर्दोष पेशेको भगवत्पूजा-रूप कर्म बनाकर निष्कामभावसे उसे करते हुए परमात्माकी प्राप्तिरूप परमफल लाभ करके मानव-जीवनको सफल बनावे।

गंदा साहित्य और सिनेमा

इधर शारीरिक और मानसिक पवित्रताका नाश करनेवाले गंदे साहित्य और मनोरञ्जनके नामपर चलनेवाले गंदे चलचित्रों—सिनेमासे हमारे चरित्रका बड़ी बुरी तरहसे नाश हो रहा है। चरित्र ही नहीं—समय, अर्थ, स्वास्थ्य तथा धर्मका भी इनके कारण बड़ी तेजी-से ह्रास हो रहा है। इनसे समाजभरमें आध्यात्मिक, धार्मिक, नैतिक और सामाजिक पतन हो रहा है। बहुत-से लोग, जो घरकी स्त्रियों-को और बाल-बच्चोंको थियेटर-सिनेमा आदिमें साथ ले जाते हैं, वे बहुत भूल करते हैं। वे अभी इस परिणामको नहीं सोच रहे हैं कि सिनेमाके बीभत्स और अश्लील चरित्र और चित्रोंको देखकर सबकी बुद्धि विचलित और भ्रष्ट हो जाती है। कभी-कभी तो ऐसे अश्लील दृश्य आते हैं कि उन्हें देखकर बच्चे माता-पिताके सम्मुख और माता-पिता बच्चोंके सम्मुख लज्जित हो जाते हैं। इसका परिणाम यह होता है कि माता-पिता और बालकोंके परस्पर न्यायोचित शील-

संकोचका भी ह्रास हो जाता है। स्वास्थ्यपर भी बहुत बुरा असर पड़ता है। धन और मनुष्य-जन्मके अमूल्य समयका अपव्यय तो प्रत्यक्ष है ही।

यदि यह कहा जाय कि धार्मिक सिनेमा देखनेमे तो लाभ ही है तो ऐसी बात नही है। प्रथम तो सिनेमामे शुरूसे लेकर आखिर-तक प्राय: सभी लोगोंका उद्देश्य दर्शकोके चित्तको आकर्षित करके धन कमाना है। इसलिये उसमे सच्ची धार्मिकता कभी नहीं आ सकती। दूसरे, अभिनेता-अभिनेत्री चाहे कैसे भी हों, उनके लिये यह नहीं कहा जा सकता कि वे लोग सब इन्द्रियविजयी है और धार्मिक भावनासे ही सिनेमामे आये है। जवान उम्र, रात-दिन श्रृङ्गारके वातावरणमें रहना, वैसे ही अभिनय करना, शौकीनी तथा विलासके लिये स्वतन्त्रता, रूप-सौन्दर्यका विज्ञापन, धनकी अधिकता—ये सभी ऐसे कारण है, जो मनुष्यको कर्तव्यभ्रष्ट करके प्रमादमें नियुक्त कर सकते है। ऐसे वातावरणमे रहनेवाले नट-नटियोंसे शुद्ध धार्मिक भावनाकी प्राप्ति दर्शकोको होगी, यह आशा करना सर्वथा व्यर्थ है।

वड़े खेदकी बात तो यह है कि कोई-कोई माता-पिता तो धन-के लोभसे अपने तरुण बालक-बालिकाओको सिनेमाके नट-नटी बनानेमे भी सहमत हो जाते है; जो कि बहुत ही खतरनाक है। वे इस बातको भूल जाते है कि इसका परिणाम क्या होगा। सच्ची बात तो यह है कि जो तरुण-तरुणियाँ सिनेमा-क्षेत्रमे अभिनय करते है और इसमें धनलाभ तथा मान-सम्मान प्राप्त करके गौरव मानते हैं, वे अपने-आपको विषयभोगरूपी आगमे झोंककर स्वयं ही अपना नैतिक और धार्मिक पतन कर रहे है! जैसे सौन्दर्यके लोभी शलभ (फतिंगे)

दीपककी शिखा देखकर सुख-भोगकी दृष्टिसे उसके समीप जाते हैं और तड़प-तड़पकर मरते तथा जलकर भस्म हो जाते है, वैसी ही दशा यहाँ होती है। वे कीड़े तो भविष्यके दुष्परिणामका ज्ञान न होनेसे सहज ही कालके कलेवा बन जाते है, परंतु जो मनुष्य होकर भी भविष्यके दुष्परिणामको विना सोचे नाशवान् क्षणभङ्गुर सांसारिक सुख और भोगके लिये ऐसे कार्योंमे सम्मिलित होते है, उनके लिये क्या कहा जाय! ईश्वरने विवेक और बुद्धि दी है, मनुष्य होकर भी हम यदि उस विवेक-बुद्धिसे काम न ले तो यह हमारे लिये बहुत ही लज्जा, दुःख और परितापकी बात है।

रात-दिन जिस प्रकारके वातावरणमे मनुष्य रहता है और जैसा काम करता है, वैसा ही उसका मन बन जाता है। फिर उसके मनमें भी वही वातावरण छा जाता है और बार-बार वही दृश्य सामने आते रहते है। इस निश्चित सिद्धान्त तथा अनुभवके अनुसार गंदे सिनेमाके नट-नटियोके तथा उनके दर्शकोके मनमें भी वैसा ही जगत् बन जाता है और उनका सहज ही नैतिक, धार्मिक और सामाजिक पतन होता है। आजकल जो गली-गलीमे दीवालोंपर सिनेमाके शृङ्गारचित्र चिपके रहते है, दैनिक, साप्ताहिक तथा मासिक पत्रोमें सिनेमाओके सचित्र विज्ञापन रहते है तथा बड़े-बड़े शहरोंमे तो बड़ी बारातकी तरह बड़े समारोह और गाजे-बाजेके साथ घूम-घूमकर सिनेमाओंका विज्ञापन किया जाता है, इन सबको देख-सुनकर स्त्री-पुरुष और बालक-बालिकाओंपर बड़ा बुरा प्रभाव पड़ता है। उनके मनोमे दबे हुए दुर्भाव जाग्रत् हो जाते है और नये-नये बुरे भाव और बुरे संस्कार उत्पन्न होते और अपना घर कर लेते है, जिससे उनका

जीवन नष्ट हो जाता है। इस प्रकारकी हानिकारक मनोरञ्जनकी वृत्तिको, जो भविष्यमे विनाश करनेवाली है, तुरंत रोकनेकी चेष्टा करनी चाहिये, नही तो इनके बुरे संस्कार जमकर बहुत बुरा परिणाम होना सम्भव है। कला और मनोरञ्जनके नामपर लोगोंका इस प्रकारका पतन न तो वस्तुतः किसी सरकारको इष्ट होना चाहिये, न सिनेमा आदिमे अभिनय करनेवालोके हितैषी माता-पिता (अभिभावक) आदिको ही और न दर्शकोंको ही; पर इस समय तो सभी ओर मानो मोह-सा छाया है। देशका दुर्भाग्य है !

अभिनय करनेवाली लड़कियोंके अङ्गसंचालन और कामोत्तेजक दृश्योंसे युक्त चित्र और चरित्रोंको देखकर हजारों मनुष्य उनपर पाप-दृष्टि करते है। इस बातको समझकर उनके माता-पिताओंको लज्जा आनी चाहिये और अपमानका बोध होना चाहिये। यह प्रवृत्ति यों ही बढ़ती गयी तो पता नही आगे चलकर समाजकी क्या दशा होगी। व्यसनमें फँसे हुए लोगोंकी दुर्दशाकी भाँति गंदे सिनेमाके शौकीनोंका नैतिक, धार्मिक और सामाजिक पतन ही सम्भव है।

आजकल सिनेमाकी प्रवृत्ति इतनी अधिक बढ़ गयी है कि बहुत-से नर-नारी घर-द्वार फूँककर, धर्म-कर्म खोकर, माता-पितासे लड़-झगड़कर और शील-संकोच, लज्जा-मर्यादाका नाश करके भी सिनेमा देखते है। मजदूर लोग भी मनोरञ्जनके नामपर कठिन मजदूरीके पैसे सिनेमामे बरबाद करके अपना पतन करते है और बहुत-से बालक चोरी करके सिनेमा देखते है। मनोरञ्जनके नामपर समाजमे चौतरफा फैला हुआ यह रोग बड़ा ही भयानक है।

अंग्रेजी सिनेमाओमे तो पात्रोके अङ्गसंचालनके साथ नग्न स्वरूप भी दिखाये जाने लगे है। इनको देखकर कौन ऐसा संयमी पुरुप है, जिसके मनमे विकार उत्पन्न होकर पतन न हो। क्या यह वाञ्छनीय है कि मनोरञ्जनके नामपर सिनेमाके इस पापको यों ही उत्तरोत्तर वढ़ने दिया जाय और हमारा तरुणसमाज उसका बुरी तरह शिकार होकर अपने जीवनसे हाथ धो वैठे और हमारे राष्ट्रका भविष्य अन्धकारमय हो जाय ?

अतः सरकारसे हमारी प्रार्थना है कि इन वातोपर सरकारको ध्यान देना चाहिये और सेसर-वोर्डको बड़ी कड़ाईके साथ काम लेकर इस वुराईकी वाढ़को मजवूत वाँध वाँधकर तुरंत रोक देना चाहिये; जिससे जनता सामाजिक, नैतिक और आर्थिक हानिसे वच सके।

आजकल हमारे कुछ लेखक भी ऐसे साहित्यका निर्माण कर रहे है, जिसको पढ़नेपर पढ़नेवालेके मनमें विकार उत्पन्न हुए बिना नहीं रह सकता! ऐसे विकारोंसे बल, बुद्धि, स्मृति, ज्ञान, तेज और आयुका विनाश होना और नाना प्रकारके रोगोंका शिकार हो जाना अनिवार्य हो जाता है।

सिनेमाका असर हमलोगोंके वर्तमान जीवनपर वहुत ही वुरा पड़ रहा है। लोग अपने कपड़े और पोशाकपर भी सिनेमाके चित्र वनाने लगे है तथा जिन कपड़ोको पहननेमे भले घरकी महिलाएँ लज्जा करती है, उन्हीं कापड़ोको हमारी युवती वालिकाएँ पहनने लगी हैं। यह कितना भारी पतन है।

इतना ही नहीं, हमारे समाजमे इस समय नास्तिकताका भी जोरोसे प्रचार किया जा रहा है। इसके फलस्वरूप कुछ लोग धर्म,

कर्म, ईश्वर, ज्ञान, वैराग्य, हिंदू-संस्कृति, सदाचार और सद्गुणोको घृणाकी दृष्टिसे देखने लगे है तथा बिना सोचे-समझे ही प्राचीन कालसे चली आयी हुई आदर्श मर्यादाको आडम्बर कहने लगे है ! यही स्थिति बनी रही तो भविष्यमे उच्छृङ्खलता तथा धर्मविरोधी वातावरण और अराजकता उत्तरोत्तर बढ़ सकती है । अत. हमे सचेत होकर इस बढ़ती हुई गतिको रोकना चाहिये । इस प्रकारकी हानि देखकर भी यदि हमारी आँखे नहीं खुलेंगी तो फिर कब और कैसे खुलेंगी ?

जब मनुष्यकी बुद्धि भ्रष्ट हो जाती है और वह भलेको बुरा और बुरेको भला देखने लगता है, तब उसका सुधार होना कठिन हो जाता है; क्योंकि जो मनुष्य बुराईको बुराई मानता है, उसका तो सुधार हो सकता है; किंतु जो बुराईको भलाई मान बैठता है, उसका सुधार कठिन है । अतः लोक और परलोकमे कल्याण चाहने-वाले भाई-बहिनोंसे हमारी यह प्रार्थना है कि उन्हे न तो स्वयं ऐसे नाटक-सिनेमा देखने चाहिये और न अपने बालक-बालिकाओको ही दिखाने चाहिये । इनकी बुराइयोको समझकर स्वयं इनका त्याग करेगे, तभी अपने बालक-बालिकाओंको रोक सकेगे । बालक अनुकरणप्रिय तो होते ही है, पर बुरी बातोका असर उनपर जितना जल्दी होता है उतना अच्छी बातोका नहीं होता । जितनी बुराइयाँ है, आरम्भमे क्षणिक सुखकारक होनेसे अमृतके तुल्य दीखती है, पर उनका परिणाम विषके तुल्य है और जो भलाइयाँ है, वे साधनकालमे कठिन होनेसे विषके तुल्य दीखती है, पर परिणाममे वे अमृतके तुल्य है । इसलिये जो वर्तमानमें सुखदायी प्रतीत होती है, उसीको

लोग अज्ञानसे ग्रहण करते है । जैसे रोगी कुपथ्यका परिणाम न देखकर कुपथ्य कर लेता है, उसी तरह विषयासक्त पुरुष भी परिणाम-को नहीं देखते और विनाशकारी प्रवृत्तियोमे पड़कर अपने जीवनको पतनके गर्तमे डाल देते है; किंतु जब परिणाममे दुःख पाते हैं, तब घोर पश्चात्ताप करते है, पर फिर उस पश्चात्तापसे कोई कार्य सिद्ध नही होता ।

अतएव समस्त नर-नारियोंसे पुनः सविनय प्रार्थना है कि ऐसे सिनेमा-नाटक आदिको न तो देखना चाहिये और न किसीको दिखाना चाहिये तथा न इसके लिये अभिरुचि ही पैदा करनी चाहिये ।

विधवाओंके धनपर अनुचित लोभ

जब बुराई आती है, तब चारों ओरसे आया करती है । अन्यान्य पापोके साथ समाजमें एक पाप और बढ़ रहा है, जो सामाजिक और नैतिक दृष्टिसे तो महान् हानिकर है ही, परमार्थ-पथका भी महान् प्रतिबन्धक है । वह है—विधवा बहिनोके प्रति घरवालोका दुर्व्यवहार । सचमुच विधवा माता-बहिनोंकी आज बड़ी ही दयनीय दशा है । सभ्य, इज्जतदार और सुशील विधवा बहिनोंकी इस दुःखमय दुर्दशाको देखकर, जिसके हृदयमें थोड़ी भी दया होती है, उसका हृदय भी द्रवीभूत हो जाता है । बहुत-सी विधवाओंकी बाते सुनकर तथा उनकी दुर्दशाको स्वयं देखकर यहाँ आज उसका कुछ दिग्दर्शन कराया जा रहा है । गरीब घरोंकी तो बात ही क्या है, जो धनी कहलाते है और अपनेको इज्जतदार मानते है, उनमेंसे भी अधिकांश भाइयोंका विधवाओके साथ व्यवहार बहुत ही नीचे दर्जेका हो रहा है । विधवाओंपर जो अत्याचार हो रहे है, उनको

सुनकर प्रत्येक हृदयवान् प्राणीको वेदना होती है और उनके दुःखको देखकर रोंगटे खड़े हो जाते है। यहाँ मै कुल-शीलकी मर्यादाके खयालसे किसीका नाम नहीं बतलाकर विधवाओंपर होनेवाले अत्याचारोंकी कुछ बाते बतलाता हूँ।

विधवा स्त्रियोके आभूषण, पतिकी मृत्युके अवसरपर ससुराल और नैहरवाले शरीरनिर्वाहके लिये सहायताके रूपमें जो कुछ देते है वह धन तथा ससुराल और नैहरसे विवाह, द्विरागमन आदिके समय मिले हुए रुपये, जेवर और वस्त्र एवं जीवितावस्थामे पति अपनी जीवन-बीमा बेचकर उसका उत्तराधिकार अपनी स्त्रीको दे जाता है वह धन तथा इसके अतिरिक्त भी जो विधवा स्त्रीकी खास सम्पत्ति होती है, वह सभी स्त्रीधन है। इस सब धनके रहते हुए भी विधवा स्त्री अन्न और वस्त्रके लिये दुखी देखी जाती है। इसका कारण यह है कि विधवाकी यह सारी सम्पत्ति या तो विधवाके ससुरालवालोंके अधिकारमे रहती है या नैहरवालोंके। जिनमेसे कई ससुरालवाले तो बलपूर्वक विधवाकी सम्पत्तिपर अधिकार जमा लेते है। कुछ तो इतने दुष्ट होते है कि उसका इतना धन होनेपर भी, वह चाहे अन्न-वस्त्रके बिना दुःख पावे, कितनी रोवे-कलपे, वे उसे कुछ भी नहीं देते और कह देते है कि 'तेरा केवल खानेमात्रके लिये कुछ रुपये मासिक लेने भरका ही अधिकार है, धन-सम्पत्तिपर नहीं।' इस प्रकार सूखा जवाब दे देते है और फिर खानेके लिये मासिक खर्च भी नहीं देते। वह बेचारी असहाया स्त्री रोती हुई अपना दुःखमय जीवन बड़े कष्टसे बिताती है। लोक-लाजके खयालसे वह उनपर दावा भी नहीं करती और यदि दावा करे भी तो उसे कोई मदद भी नहीं देता। ऐसी स्त्रियोके लिये कोई ऐसा वकील-

बैरिस्टर भी नहीं, जो बिना फीस लिये ही उत्साहके साथ उनका कार्य कर दे; वे भोली-भाली स्त्रियाँ न तो कुछ जानती ही है और न नैहर तथा ससुरालवालोंके कुलकी लाजसे स्वयं कोर्टमे जाकर अपने हकका दावा करनेका नाम लेती है। कहीं ऐसा कुछ करनेकी बात भी कह दे तो उसकी सम्पत्तिको हजम करनेवाले वे लोग उसे और भी तंग करने लग जाते है। दूसरा आदमी कोई सहायता करता ही नहीं। कोई करना चाहता है तो वे लोग उसको भी गालियाँ देते है।

इस प्रकारका व्यवहार इस समय, जो बड़े इज्जतदार माने जाते हैं, उन लोगोमे भी हो रहा है; इसका अर्थ यह नही कि सभी ऐसा करते है। ईश्वर और धर्मको माननेवाले कई अच्छे लोग भी है। कुछ नैहरवाले यह चेष्टा करते है कि यह ससुरालसे सारी धन-सम्पत्ति लाकर हमारे पास रख दे। माता-पिताको छोड़कर उन सम्पत्तिके रक्षक बने हुए भाई-बन्धुओंमे भी कई ऐसे होते है, जो उसकी धन-सम्पत्तिको हड़प लेते है और वह विधवा बेचारी रोती ही रह जाती है। संकोचके मारे वह कुछ भी कह नहीं सकती और भीतर-ही-भीतर रोती रहती है। ऐसी कई स्त्रियोंकी घटनाएँ स्वयं मैंने देखी-सुनी है, उनमेसे कुछ उदाहरण दिये जाते है।

एक इज्जतदार घरकी विधवा स्त्री है, उसकी अवस्था करीब २० वर्षकी है। उसके पतिका देहान्त होनेपर उसके नैहर और ससुरालवालोंने विधवाको सहायता देनेकी पद्धतिके अनुसार भविष्यमे जीवन-निर्वाहके लिये कुछ रुपये दिये थे, वे रुपये तथा उसके पतिकी जीवन-बीमाके पाँच हजार रुपये और उसके कीमती वस्त्रादि बेचकर जो रुपये मिले, वे सब उस स्त्रीके जेठ (पतिके बड़े भाई) ने

विधवा स्त्रीको ब्याजके लोभके बहानेसे फुसलाकर उससे ले लिये तथा बादमें माँगनेपर यह उत्तर दिया कि 'अभी हमारे पास रुपये नहीं हैं, जब होंगे, तब देंगे।' उसके लिये कई अच्छे पुरुषोंने चेष्टा भी की, किंतु उनको भी यही जवाब मिला कि 'जब होंगे तब देंगे।' यह घटना पतिके मरनेके दो ही सालके अंदर हो गयी। वे उसको इन रुपयोंका ब्याज भी नहीं देते। अब बताइये, वह बेचारी विधवा अपना जीवन किस प्रकार निर्वाह करे?

एक दूसरी गरीब विधवा स्त्री करीब १८ वर्षकी है, उसके पतिकी मृत्यु होनेके बाद उसके नैहर और ससुरालसे जो जेवर, वस्त्र आदि विवाह तथा द्विरागमनमें मिले थे, उनपर उसके सास-ससुर पहलेसे ही अधिकार किये हुए हैं और उसका पिता गरीब है। वह बेचारी अपने पिताके यहाँ ही है। उसके सास-ससुर उसे उसका स्त्रीधन भी नहीं देते और न मासिक खर्चके लिये ही कुछ देते हैं।

एक अन्य इज्जतदार घरकी विधवा स्त्री करीब २५ वर्षकी है। उसके ससुर और पुत्र भी मर चुके हैं। उसके गहने, कपड़े, धन, मकान आदि चल-अचल सारी सम्पत्तिपर उसके जेठ-जेठानी (पतिके बड़े भाई और भाभी) अधिकार किये बैठे हैं, उसे कुछ भी नहीं देते। गहना-कपड़ा भी नहीं देते और न चल-अचल सम्पत्तिका हिस्सा ही देते हैं।

इन तीनों स्त्रियोंका जो हाल ऊपर लिखा गया है, उसे मैंने अपनी आँखों देखा है। सैकड़ों-हजारों ऐसी ही दुर्दशाग्रस्त विधवा बहिनें हैं। यहाँ स्थान-संकोचसे अधिक उदाहरण नहीं दिये जाते। सोचिये, ऐसी अवस्थामें उन विधवा बहिनोंका जीवन-निर्वाह किस

प्रकार हो । ऐसी बहिनोंको अदालतमे जानेके लिये भी नही कहा जा सकता; क्योंकि अदालतमें जानेसे धन, धर्म और इज्जत बर्बाद होती है तथा बुद्धिकी कमी होनेसे वे अदालतमे जा भी नहीं सकतीं और यदि जायँ तो उनकी सहायता भी कौन करे । उनकी दयनीय दशाको देखकर कौन ऐसा सहृदय पुरुष होगा, जिसके हृदयमें कुछ दयाका संचार होकर अश्रुपात न हो ।

कुलीन घरोंकी गरीब स्त्रियाँ तो और भी दुखी है, उनको दूसरोंसे सहायता लेनेमें भी बड़ी लज्जा आती है; किंतु अभावके कारण लेनेके लिये बाध्य होना पड़ता है । ऐसी विधवा माताओंके लिये जो भाई मासिक सहायता देते है, वे धन्यवादके पात्र है । सभी भाइयोंसे मेरी प्रार्थना है कि वे अपनी जानकारीमें जो कोई दुखी विधवा माता-बहिन हो, उनकी यथाशक्ति तन, मन, धनसे कर्तव्य समझकर सहायता करे ।

दहेजसे हानि

इस समय कन्याओके विवाहका प्रश्न भी बहुत ही जटिल हो रहा है; क्योकि हमारे देशमे दहेजकी प्रथाने भयानक रूप धारण कर लिया है । लड़केके अभिभावक कन्यावालोंसे अधिक-से-अधिक धन-सम्पत्ति लेना चाहते है और कन्यावालोको कहीं-कही ऋण और सहायता लेकर भी विवाह करना पड़ता है, नही तो उस कन्याका विवाह होना कठिन हो जाता है । कोई-कोई लड़की तो अपने माता-पिताकी गरीबीको देखकर उनके दुःखसे दुखी होकर आत्महत्यातक कर लेती है ! किसी लड़कीके गरीब माता-पिता उस लड़कीके विवाहयोग्य धन न होनेके कारण ऐसी भावना करने लगते है कि

लड़की बीमार होकर किसी प्रकार मर जाय तो ठीक है और यदि लड़की बीमार हो जाती है तो उसका उचित औषधोपचार भी नहीं करते। इन सबमें प्रधान हेतु दहेजकी कुप्रथा है।

इन उपर्युक्त हत्याओंका पाप अनुचित दहेज लेनेवालोंको लगता है। जो बिल्कुल दहेज नही लेता, वह तो अपना जीवन सफल बनाता ही है; दहेज देनेवाले लड़कीका अभिभावक जितना देना चाहे, उससे कम लेनेवाला भी धन्यवादका पात्र है। अपने द्वारा प्रतीकार करनेपर भी दहेज देनेवाला प्रसन्नतापूर्वक आग्रह करके जो कुछ देता है, (अवश्य ही पता यह लगा लेना चाहिये कि इसके देनेमें इसको ऋणग्रस्त होना या घर-जमीन बेचने तो नही पड़े है।) उसीको लेकर संतुष्ट हो जाता है, उसे भी हम उतना दोषका भागी नहीं मानते; किंतु जो विवाहके लिये मोल-तौल करता और अधिक-से-अधिक लेना चाहता है तथा अधिक देनेवालेकी लड़कीसे ही विवाह करता है और लड़कीवाला अपनी सामर्थ्यके अनुसार लड़केवालेको देकर संतोष कराना चाहता है, इसपर भी लड़केवालेको संतोप नहीं होता, ऐसे पुरुप ही उपर्युक्त पापके भागी होते है।

अतएव सभी भाइयोसे हमारी प्रार्थना है कि वर्तमानमे जो दहेज-प्रथा उत्तरोत्तर बढ़ रही है, इस बढती हुई बाढको जिस किसी प्रकारसे यथाशक्ति रोकनेकी चेष्टा करे, नही तो समाजका पतन और विनाश होनेकी सम्भावना है। विशेपकर हमारी प्रार्थना दहेज लेने-वालोंसे है कि वे दहेज लेनेका यथाशक्ति त्याग करे। जितना वे त्याग करें, उतने ही वे धन्यवादके पात्र है। दहेजका दिखावा भी

दहेज-प्रथाके चालू रहने तथा बढ़नेमें कारण है, उसे भी तुरंत बंद कर देना चाहिये।

यह सोचना चाहिये कि मनुष्यके जीवनका उद्देश्य भगवत्प्राप्ति है। इस भगवत्प्राप्तिके साधनमें परस्पर सहायता करना सबका धर्म है। जो ऐसा न करके किसीके हृदयमें महान् चिन्ता उत्पन्न कर देते हैं, वे वास्तवमें बड़ा अनर्थ कर देते हैं। जबरदस्ती दहेज लेनेवाले लोग कन्याके पिताके हृदयमें चिन्ता उत्पन्न करके उसे परमार्थसे भी गिरा देते हैं। इसलिये दहेजकी प्रथा बंद होनी चाहिये।

साधनकी आवश्यकता

ऊपर थोड़े-से बहुत बड़े-बड़े पापरूप विघ्नोंकी चर्चा की गयी है। दोष तो और भी बहुत आ गये हैं। अभक्ष्य-भक्षण, अपेय-पान, चरित्रनाश, गुरुजनोंका अपमान, सदाचारका अभाव, हिंसा-प्रतिहिंसा-वृत्ति, असंतोष, अनुशासनहीनता, दलबंदी, ईर्ष्या और द्रोह आदि बहुत-से दोष बड़ी तेजीसे समाजमें बढ़ रहे हैं। ईश्वर तथा धर्मके प्रति आस्थाका अभाव होता जा रहा है। व्यक्तिगत स्वतन्त्रताके नामपर मन-इन्द्रियोंकी गुलामी बढ़ रही है। यम-नियमका पालन घट रहा है। ये सभी देशके नैतिक पतन और सर्वाङ्गीण दुर्दशाके प्रमाण हैं और लौकिक, पारलौकिक तथा पारमार्थिक हानिके पोषक हैं। इन सबसे बचना और समाजको बचाना सबका परम कर्तव्य है। इसी उद्देश्यसे क्षुद्र प्रयासके रूपमें गोरखपुरमें 'साधक-संघ'के नामसे एक संगठन किया गया है, जिसमें सम्मिलित होनेके लिये १६ नियम त्याग करनेके और १२ ग्रहण करनेके बनाये गये हैं।

नियम निम्नलिखित है। जो इन नियमोंमेंसे सबका या कमका पालन करना चाहें, वे इसके सदस्य बन सकते है। सदस्योंसे कोई शुल्क नही लिया जाता, नियमपालन ही शुल्क है। नियम ये हैं—

साधनके नियम

त्याग करनेके नियम

(१) *पराये अहितका त्याग*—जान-बूझकर किसीका अहित न करना।

(२) *असत्यका त्याग*—जान-बूझकर असत्य नही बोलना।

(३) *परस्वापहरणका त्याग*—जान-बूझकर किसी दूसरेका हक न लेना।

(४) *परस्त्रीका–परपुरुषका स्पर्शत्याग*—जान-बूझकर पुरुषके लिये परस्त्रीका स्पर्श न करना और स्त्रीके लिये पर-पुरुषका स्पर्श न करना। माता, दादी, नानी आदि बड़ी-बूढ़ी स्त्रियों और पिता, बड़े भाई, पुत्र आदि पुरुषोंका स्पर्श इस नियममे विशेष बाधक नहीं है। बीमारीकी दशामें वैद्य, डाक्टर या परिचारक स्पर्श कर सकता है।

(५) *क्रोधका त्याग*—मनमें भी क्रोध न आवे तो सर्वोत्तम है, पर मनमें आ भी जाय तो उसकी क्रिया बाहर न हो; क्रोध आनेपर मिथ्या, कठोर और अपशब्द न बोले या ऐसी अन्य चेष्टा (मारपीट) आदि भी न करे।

(६) *परापवादका त्याग*—जान-बूझकर किसीकी चुगली या निन्दा न करना।

(७) *मिथ्या साक्ष्यका त्याग*—झूठी गवाही नहीं देना।

(८) *अश्लील विनोदका त्याग*—गंदी हँसी-मजाक न करना ।

(९) *चर्मसेवनका त्याग*—चमड़ेको व्यवहारमे बिल्कुल न लाना (मोटर, रेल, रिक्शा आदिके लिये यह नियम लागू नही है) ।

(१०) *मादक वस्तुका त्याग*—तम्बाकू, बीड़ी, भॉग, गाँजा, चरस आदिका सेवन न करना (बीमारीके लिये मनाही नहीं है) ।

(११) *समय नष्ट करनेकी प्रवृत्तिका त्याग*—ताश, चौपड़ आदि न खेलना, जहाँतक हो व्यर्थकी बाते न करना ।

(१२) *वेश्या-नृत्य-त्याग*—वेश्याका नाच न देखना ।

(१३) *सदाचारनाशक चित्रपटोंका त्याग*—सिनेमा बिल्कुल ही न देखना ।

(१४) *द्यूत-त्याग*—किसी भी हालतमे जूआ न खेलना ।

(१५) *अभक्ष्यभक्षण-पानका त्याग*—(क) मांस-मद्यका सेवन कतई न करना । (ख) लहसुन-प्याजका सेवन न करना । दवाके रूपमें करना पड़े तो बादमे उचित प्रायश्चित्त करना ।

(१६) *हिंसायुक्त जूतोंका त्याग*—मारे हुए पशुके चमड़ेके जूतोंको व्यवहारमें न लाना ।

ग्रहण करनेके नियम

(१) *सबमें भगवद्बुद्धि*—जहाँतक बने, जिस किसीसे व्यवहार करना पड़े, उसमे भगवद्बुद्धि करना ।

(२) *भगवत्स्मरण*—प्रत्येक पंद्रह मिनटपर भगवान्का (नाम, रूप, लीला, गुण आदिका) स्मरण करना और स्मरण आने-पर न भूलनेका प्रयत्न करना ।

(३) *सूर्योदयसे पूर्व जागरण*—सूर्य उदय होनेसे पहले ही उठ जाना ।

(४) *प्रातःस्मरण और प्रणाम*—प्रातःकाल उठते ही भगवान्‌का स्मरण करना और पृथ्वीमाताको प्रणाम करना ।

(५) *गुरुजन-अभिवादन*—घरमे माता, पिता, गुरु, दादा, दादी, ताऊ, ताई, पति, सास, ससुर, जेठ, जेठानी आदि गुरुजनों, वृद्धोंको प्रतिदिन प्रणाम करना । पदमे बड़ी हों परंतु कम उम्रकी हों, उन स्त्रियोके चरणोको पुरुष स्पर्श न करे और स्त्री अपने पतिको तथा पिता आदिको छोड़कर अन्य सभी पुरुषोंको दूरसे प्रणाम करे ।

(६) *संध्या-गायत्री-सेवन*—यज्ञोपवीतधारी द्विज प्रातः-सायं दोनों समय संध्या करे और दोनो समय गायत्रीकी कम-से-कम एक-एक माला (१०८ मन्त्रो) का जाप करे । अथवा अपने-अपने धर्मके अनुसार दोनों समय उपासना करे ।

(७) *गीताध्ययन*—प्रतिदिन श्रीमद्भगवद्गीताके एक अध्याय-का पाठ करना (हो सके तो अर्थसहित) ।

(८) *सत्सङ्ग-स्वाध्याय*—प्रतिदिन कम-से-कम आधा घंटा सत्सङ्ग करना । सत्सङ्गके अभावमे (गीता, रामायण, भागवत, भक्त-चरित, संत-वाणी अथवा अपने-अपने धर्मग्रन्थ आदि सद्ग्रन्थोका) स्वाध्याय करना ।

(९) *भगवन्नाम-जप*—प्रतिदिन भगवान्‌के जिस नाममे अपनी रुचि हो, उसी नामका कम-से-कम एक हजार जप करना ।

(१०) *कर्तव्यपालन*—घरमे-बाहरमें अपने जिम्मे जो काम

हो, स्वस्थ शरीर होनेपर उससे जरा भी जी न चुराना। सदा उत्साह और प्रेमसे कार्य करना।

(११) *पवित्र वस्त्र-धारण*—यथासाध्य देशी हाथके बुने कपड़े पहनना।

(१२) *नियमपालन-निरीक्षण*—प्रतिदिन कम-से-कम पंद्रह मिनट इस बातकी जाँच करनेमे लगाना कि लिये हुए नियमोमें आज किन-किनका पूरा पालन हुआ, किनका नही हुआ या अधूरा हुआ। कितनी भूले हुई और क्यों हुई तथा भूलोंके लिये प्रायश्चित्तरूप दण्ड-विधान करना एवं कल भूल न हो—इस बातका दृढ़ निश्चय करना।

[प्रत्येक भूलके लिये एक समयका उपवास अथवा भगवान्‌के किसी भी नामका एक हजार जप—अथवा 'हरे राम' आदि सोलह नामोंके मन्त्रकी एक मालाका जप—प्रायश्चित्त-स्वरूप करना चाहिये।]

निवेदन

नियम सभी उपयोगी है—इनका यदि अच्छी तरह पालन किया जाय तो उपर्युक्त सभी दोष मिट सकते है और मानव-जीवनकी सफलताका सरल मार्ग प्राप्त हो सकता है। अतएव इन नियमोंका पालन स्वयं विश्वासपूर्वक करना चाहिये तथा अपने इष्ट-मित्रोंसे करवाना चाहिये। नियमावली तथा सदस्य बननेपर नियम भरनेकी डायरी व्यवस्थापक—'साधक-संघ' गीताप्रेस, गोरखपुरको पत्र लिखकर मँगवा सकते हैं।

सत्य, श्रद्धा, प्रेम और निष्कामभावपर विचार

कल्याणकामी पुरुषोंके लिये कुछ सार विषयोपर निवेदन किया जाता है ।

सत्य

इनमे पहला विषय है—सत्य । सत्य साक्षात् परमात्माका स्वरूप है । परमात्मा है—इस बातका निश्चय हो जानेपर परमात्माकी प्राप्ति सहज है; क्योंकि परमात्मा है, वास्तवमे है । परमात्माकी सत्तासे ही सबकी सत्ता है । भगवान् सत् तथा असत्का निर्णय करते हुए गीतामें कहते है—

नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः ।
उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभिः ॥

(२ । १६)

'असत् वस्तुकी तो सत्ता नही है और सत्का अभाव नहीं है । इस प्रकार इन दोनोंका ही तत्त्व तत्त्वज्ञानी पुरुषोंद्वारा देखा गया है ।'

भाव यह कि जो सत् वस्तु होती है, उसका कभी अभाव नहीं होता है और जो असत् (मिथ्या) होती है, उसका कभी भाव नहीं होता है । ऐसी जो सत् वस्तु है, वह परमात्मा है । परमात्माकी सत्तासे ही सबकी सत्ता है । इसलिये हमको सदा सत्यका ही सेवन करना चाहिये । सत्यके सेवनमे सत्यभाषण भी है । उस सत्यभाषणसे भी परमात्माकी प्राप्ति हो सकती है; क्योकि परमात्माका स्वरूप सत् है, किंतु सत्य बोलनेवालेको इन बातोपर विशेष ध्यान रखना चाहिये । प्रथम तो यह समझना चाहिये कि सत्यभाषण किसे कहते है । जो बात जैसी सुनी गयी, देखी गयी तथा समझी

गयी हो, उससे न अधिक बताना, न कम कहना—जैसी सुनी-समझी हो, वैसे ही समझानेकी नीयतसे कहना—'सत्य' है। दूसरी बात यह है कि सत्यमें चतुरता नहीं होनी चाहिये, कपट नहीं होना चाहिये। सरलताके साथ समझा हुआ भाव ज्यों-का-त्यों समझा देना चाहिये। सत्य होकर जो प्रिय हो, वही वास्तवमें सत्य है।* जिस सत्यके उच्चारणसे किसीकी हिंसा होती हो, वह सत्य होते हुए भी सत्य नहीं है। सत्य बोलनेवाले पुरुषको थोड़ा बोलना चाहिये। सत्य बोलनेवाले पुरुषको कभी भी भविष्यकी वाणी नहीं बोलनी चाहिये। असलमें तो भविष्यका ऐसा संकल्प भी नहीं करना चाहिये कि 'मुझे यह करना है, वह करना है।' वाणी भी सत्य होनी चाहिये, संकल्प भी सत्य होना चाहिये, क्रिया भी सत्य होनी चाहिये और भाव भी सच्चा होना चाहिये। तभी सत्यकी वास्तविक प्रतिष्ठा होती है।

जो मनुष्य केवल यह समझता है कि 'भगवान् सत्य है और वे सब जगह है' उसे भगवान् कैसे है, यह ज्ञान नहीं है, वह केवल इतना ही जानता है कि भगवान् है। परंतु इतना निश्चय होनेपर उसके द्वारा कोई भी पाप-क्रिया नहीं हो सकती; क्योंकि वह समझता है कि 'भगवान् है और वे सत् है तथा सब जगह है, मैं जो कुछ भी बोलता हूँ, भगवान् सब सुनते है; जो कुछ मैं चेष्टा करता हूँ,

---

* सत्यं ब्रूयात् प्रियं ब्रूयान्न ब्रूयात् सत्यमप्रियम्।
प्रियं च नानृतं ब्रूयादेष धर्मो विधीयते॥
(स्कन्द० ब्रा० ध० म० ६। ८८)

'सत्य बोले, प्रिय बोले; किंतु जो सत्य तो हो पर अप्रिय हो, ऐसा न बोले; और जो प्रिय तो हो किंतु असत्य हो, ऐसा भी न बोले—धर्मका यही विधान किया गया है।'

भगवान् सब देखते है ।' ऐसी अवस्थामे वह भगवान्‌के विरुद्ध कैसे बोलेगा, कैसे कोई काम करेगा । जो भगवान्‌के विरुद्ध चलता है या बोलता है, वह तो वास्तवमे भगवान्‌को मानता ही नहीं । वह झूठ ही कहता है कि मै भगवान्‌को मानता हूँ । वास्तवमे वह नास्तिक है । जिसको यह विश्वास हो जाता है कि भगवान् नित्य सत्य सर्वव्यापी है, उसमे निर्भयता आ जाती है । जब भगवान् सब जगह है, तब भय किस बातका ? इस निश्चयसे ही उसमे धीरता, वीरता और गम्भीरता स्वतः ही आ जाती है । इसी निश्चयके कारण आगे चलकर उसे भगवान्‌की प्राप्ति हो जाती है । 'भगवान् है'—यह निश्चय होनेके बाद 'भगवान् कैसे है' इस बातको स्वयं भगवान् उसे बता देते हैं । इस प्रकार सत्यकी उपासनासे परमात्माकी प्राप्ति हो जाती है; किंतु सत्यस्वरूप परमात्माकी उपासना करनेवालेको कभी असत्य नही बोलना चाहिये । उसका व्यवहार भी सत्य होना चाहिये तथा उसके हृदयका भाव भी सत्य होना चाहिये । व्यवहार और भावकी सत्यता उसे कहते है, जिसकी क्रियामे तथा जिसके बर्तावमे छल, कपट, दगा, बेईमानी, ठगी आदि कोई भी दुर्भाव न हो, बर्तावमे और आचरणमे शुद्ध नीयत हो और दूसरेकी स्त्रीको, दूसरेके धनको जो धूलके समान त्याज्य समझता हो । जो ऐसा है, उसीका व्यवहार और भाव शुद्ध है । हृदयके ऐसे शुद्ध भावको ही सद्भाव कहते है । इसीको सद्‌गुण भी कहते है—मानसिक तपका यह प्रधान अङ्ग है ।

श्रीमद्भगवद्गीतामे बतलाया है—

मनःप्रसादः सौम्यत्वं मौनमात्मविनिग्रहः ।
भावसंशुद्धिरित्येतत्तपो मानसमुच्यते ॥

(१७ । १६

'मनःप्रसादः' यानी मनकी प्रसन्नता, 'सौम्यत्वम्' यानी मनका सौम्यभाव (शान्त भाव)—जैसे चन्द्रमाका स्वरूप सौम्य है, ऐसे ही हृदयका सौम्य स्वरूप हो, उसे सौम्यभाव कहते हैं। 'मौनम्'— मनके द्वारा नित्य भगवान्‌के स्वरूपका मनन, 'आत्मविनिग्रहः'—यानी मनका निग्रह, मनको अपने नियन्त्रणमें रखना और 'भावसंशुद्धिः'—यानी भावोंकी शुद्धता, अन्तःकरणके भावोंकी भलीभाँति पवित्रता—इसे 'मानसिक तप' कहते हैं।' इस प्रकार मनका भाव भी सत् ही होना चाहिये और क्रिया भी सत् ही होनी चाहिये। उत्तम आचरणोंको सदाचार कहते हैं अथवा सत् पुरुषोंके आचरणोंको सदाचार कहते हैं। अतएव मनुष्यके आचरणोंमे, हृदयके भावोंमे और वाणीमे भी सत्यता होनी चाहिये। इस तरह मन-वचन-कर्मके पवित्र होनेपर उसे परमात्माका यथार्थ ज्ञान हो जाता है। यह सत्‌का संक्षेपमे वर्णन हुआ।

श्रद्धा

अब श्रद्धाके विषयमे विचार करें। ईश्वर, महात्मा और श्रीमद्भगवद्गीता आदि शास्त्रोंके वचनोंमे जो प्रत्यक्षसे भी बढ़कर विश्वास है, उसका नाम 'परम श्रद्धा' है। जो कुछ हमारी जानकारीमे आता है, उसे तो हम मानते ही हैं; परंतु जो हमारे ज्ञानमे नहीं है, उसके सम्बन्धमे उपर्युक्त प्रकारके वचनोंमे प्रत्यक्षसे भी बढ़कर जो श्रद्धा है, उसको 'परम श्रद्धा' कहते हैं। जैसे भगवान् सर्वसाधारणके देखनेमें नहीं आते, पर शास्त्रोंपर और महात्माओंपर विश्वास करके ऐसा दृढ़रूपसे समझ लेना कि 'निश्चय ही परमात्मा है'—यह परम श्रद्धाका एक स्वरूप है। सत्यवादी महात्मा पुरुष किसी एक मकानको

सोनेका कह दे और श्रद्धालु पुरुषको उसी क्षण वह मकान सोनेका ही दीखने लगे—यह परम श्रद्धा है। श्रद्धाका यह भाव बड़ा अद्भुत है; क्योंकि वह मकान उसीकी जानकारी तथा देख-रेखमे चूना, मिट्टी, पत्थर और ईंटोसे बना हुआ है; पर जब संतके मुखसे निकल गया कि 'यह सोनेका है', तब तत्काल वह सोनेका ही दीखने लग गया। यह सर्वोत्तम श्रद्धा है।

इससे निम्न श्रेणीकी श्रद्धामे मकान तो चूनेका ही दीखता है; किंतु उसके विश्वासमे वह सोनेका हो गया है। अर्थात् वह समझता है कि ऊपरसे वह चूनेका दीखता है; परंतु भीतरसे सोनेका अवश्य हो गया। इस प्रकार चूनेका मकान दीखते हुए भी उसे वह सोनेका ही समझता है। इससे और नीचे दर्जेकी श्रद्धामे वह कहता है कि 'यदि महात्मा कह देते कि मकान सोनेका बन जायगा तो वह सोनेका बन चुका होता, किंतु इनके मुखसे जिस वक्त यह बात निकली उस वक्त यह मकान चूनेका ही था। अतः अब भी चूनेका ही है। हाँ! यह विश्वास अवश्य है कि यदि महात्मा कह दे कि यह सोनेका बन जायगा तो सोनेका बन सकता है।' यह तृतीय श्रेणीकी श्रद्धा है। इससे भी नीची चौथे दर्जेकी श्रद्धा वह है, जिसमे वह समझता है कि जो बात सम्भव है, वह तो महात्माके कहनेसे अवश्य हो सकती है, पर यदि वे असम्भव बात कह दे तो वह नही हो सकती; जैसे महात्मा कहें कि सूर्य ठंडा हो जायगा तो उनके कहनेसे वह ठंडा नहीं हो सकता; किंतु जो बात होनेवाली है, वह हो सकती है। जैसे किसीको लड़का या लड़की होनेवाली है, महात्मा कह दे कि यह होगा—तो वह बात हो सकती है; परंतु वे कह

दे कि उसके पत्थर पैदा होगा तो यह असम्भव है। ऐसा नहीं हो सकता।

परंतु श्रद्धालु पुरुषके लिये सब सम्भव है। जैसे यादव बालकों-ने साम्बको गर्भवती स्त्री सजाया और उसे मुनियोंके पास उनकी परीक्षाके लिये ले जाकर पूछा कि 'इसके क्या होगा?' मुनियोंने कह दिया कि 'इसके मूसल होगा।' तो वह मूसल ही निकला। मुनियोंने यादव बालकोंका कपट जान लिया। जानकर उन्होंने 'असम्भव'-सी बात कह दी, पर वह सत्य हो गयी। साथ ही उन्होंने यह भी कह दिया कि 'इस मूसलसे तुम्हारे कुलका नाश होगा' तो उससे उनका नाश ही हो गया।

अतएव जो पुरुष वास्तवमें परम श्रद्धालु है और जिसे संत-महात्माकी बातपर अचल विश्वास है, उसका तो यह निश्चय है कि महात्मा यदि असम्भव बात भी कह दें तो वह सम्भव हो सकती है और उनके कहनेसे सम्भव भी असम्भव हो सकती है। इसी प्रकार उच्चकोटिके पुरुषोंका संकल्प भी ऐसा ही होता है। उच्चकोटिके पुरुष न तो भविष्यकी बात ही निश्चितरूपसे कहते है और न निश्चित-रूपसे भविष्यका संकल्प ही करते है। जो कुछ हो रहा है, वे उसी-में मस्त है। एक क्षणके बाद क्या होनेवाला है, क्या होगा, इसकी वे न तो जाननेकी इच्छा ही करते है, न जाननेकी आवश्यकता ही समझते है और न इस बातके जाननेको अच्छा ही समझते है। ऐसे पुरुष ही सत्य-संकल्प होते हैं। जो लोग वृथा संकल्प करते रहते है, उनके संकल्प सत् नहीं होते। संकल्पके विषयमें एक रहस्यकी बात यह है कि जो मनुष्य अपना कल्याण चाहते है, उनको भविष्यका

कोई भी संकल्प नहीं करना चाहिये । भावी संकल्प भावी जन्मका कारण होता है । आपके मनमें यह संकल्प हुआ कि मैं कल कलकत्ते जाऊँगा और किसी कारणसे आज आपकी मृत्यु हो गयी तो फिर आपको उस संकल्पके कारण दूसरा जन्म लेकर कलकत्ते जाना पड़ेगा । इसलिये कल्याणकामी मनुष्यको यही समझना चाहिये कि मुझको कुछ भी नहीं करना है । जो कुछ हो रहा है, उसे देखते रहना चाहिये । एक क्षणके बाद मुझे यह काम करना है, यह संकल्प भी नहीं करना चाहिये । यदि कहा जाय कि 'ऐसा संकल्प न करनेसे कार्य कैसे होगा ? भोजन करना है, नीचेसे ऊपर जाना है, ऊपरसे नीचे उतरना है, इसके लिये तो पहले मनमें संकल्प होगा, तभी उसके अनुसार क्रिया होगी ।' यह कहना ठीक है । पर इस विषयमें विकल्पसहित ही संकल्प करना चाहिये । विकल्प सहित-का अभिप्राय यह है कि जैसे ऊपर जानेकी आवश्यकता है, यह ठीक है पर ऊपर जाना बन जाय तो बन जाय, न बने तो न बने । भोजन करनेका समय हो गया तो भोजनके लिये वहाँसे चल दिये । भोजन मिल गया तो खा लिया, नहीं तो नहीं । कोई संकल्प नहीं । एक लक्ष्यको रखकर चल रहा है, साथमें उस संकल्पके साथ यह विकल्प है—'हो जाय तो अच्छी बात है, न हो तो अच्छी बात है । अमुक काम करनेका विचार है कोई निश्चय नहीं । जो कुछ बन जाय, वही सत्य है ।' किसीने पूछा कि 'अब आपको क्या करना है ?' तो भीतरसे यह आवाज आनी चाहिये कि 'कुछ भी करना नहीं है ।' जैसे महात्मा—कृतकृत्य पुरुषको तो कुछ करना शेष रहता ही नहीं, वैसे ही साधक पुरुषको भी अपने हृदयमें यह भाव

रखना चाहिये कि मुझे कुछ करना नहीं है। वर्तमानमें जो भजन-ध्यान हो रहा है, वह वर्तमान क्रिया ही हो रही है। भविष्यके लिये नहीं। वर्तमान क्रियामें जो साधन चल रहा है, उसके विषयमें उसकी यही समझ है कि ऐसी अवस्थामें प्राण चले जायँ तो कोई हर्ज नहीं है। भविष्यमें तो मेरे लिये कुछ करना शेष नहीं है। जो कुछ हो रहा है, परमात्माकी मर्जीसे हो रहा है। जो भी हो रहा है, सब ठीक हो रहा है। मेरे द्वारा जो कुछ हो रहा है, वह भी परमात्माकी मर्जीसे हो रहा है। परेच्छा, अनिच्छासे जो हो रहा है, वह भी परमात्माकी मर्जीसे हो रहा है। मुझको तो कुछ करना है ही नहीं। मेरे द्वारा भी जो कुछ भी परमात्मा करवा रहे हैं, वह मेरे लिये मङ्गलकी बात है। उनकी जैसी इच्छा हो, करवायें। मुझे तो कुछ भी करना है नहीं। मनमें ऐसा निश्चय रक्खे कि 'जो कुछ हो रहा है, सब स्वाभाविक ही हो रहा है। परमात्मा करवा रहे हैं। उनकी मुझपर दया है।' इस प्रकारसे निश्चिन्त होकर रहे। जैसे कोई मनुष्य टिकट खरीदकर गठरी-मोटरी लिये ट्रेनपर बैठनेके लिये तैयार है और ट्रेनकी बाट देख रहा है, इसी प्रकारसे मनुष्यको समस्त कार्योंसे निपटकर मृत्युकी प्रतीक्षा करते रहना चाहिये। यह बहुत ही उत्तम भाव है। महात्मा पुरुषका जो स्वाभाविक भाव है, साधकके लिये वही साधन है।

अतः मनुष्यमात्रका कर्तव्य है कि परमात्माको आत्मसमर्पण करके यह निश्चय रक्खे कि परमात्मा मेरे द्वारा जो करवा रहे हैं सो ठीक करवा रहे हैं; जो कुछ अनिच्छा-परेच्छासे हो रहा है, ठीक हो रहा है। ऐसा भाव रक्खे कि भगवान्‌का जो विधान है, वह वास्तव-

में न्याय है और मेरे लिये मङ्गलकारक है। साधकका यह भाव उच्चकोटिका है।

अनिच्छासे जैसे किसीका लड़का मर गया, शरीरमे रोग हो गया, घरमे आग लग गयी तो बहुत आनन्दकी बात है। इसके विपरीत लड़का पैदा हो गया, घरमें लाख रुपये आ गये या शरीर स्वस्थ हो गया—तब भी आनन्दकी बात है। चाहे कोई मान करे या अपमान करे। निन्दा करे या स्तुति करे—दोनोमे तनिक भी अन्तर नही। जैसी निन्दा वैसी ही स्तुति। जैसा मान वैसा ही अपमान। जैसा मित्र वैसा ही शत्रु और जैसा सुख वैसा ही दुःख। इस प्रकार जिनका सर्वत्र समभाव है, वे ही पुरुष श्रेष्ठ है। ऐसे महात्माके जो लक्षण शास्त्रोमे बताये गये है, उनको लक्ष्य बनाकर जो अभ्यास करता है, वह शीघ्र महात्मा बन जाता है। यह बड़ी मूल्यवान् वस्तु है। महात्मामे तो यह स्वाभाविक है। साधकके लिये आदर्श साधन है। जो मनुष्य साधन मानकर इस प्रकार अभ्यास करता है, वह आगे चलकर शीघ्र ही महात्मा बन जाता है। किसी आदमीने गाली दी तो आनन्द, प्रशंसा की तो आनन्द; उनमें किंचित् भी भेद न समझे। यों समझे कि निन्दा-स्तुति दोनों ही वाणीका विषय है—आकाशका गुण है, शब्दमात्र है। इसमें भला और बुरा क्या है? निन्दा और स्तुति होती है नामकी। मैं नामसे रहित हूँ। मान-अपमान होता है रूपका—देहका, मै इस रूप या देहसे सर्वथा पृथक्—रहित हूँ। न मेरा मान है, न मेरा अपमान है; न मेरी निन्दा, न मेरी स्तुति। इनसे मेरा कुछ भी सम्बन्ध नही है। इस प्रकारका ज्ञान आत्माका कल्याण करनेवाला है।

प्रेम और निष्कामभाव

अब प्रेमके सम्बन्धमे विचार करे । प्रेम—किसीके भी साथ क्यों न हो, उस प्रेमका वास्तवमें उद्देश्य होना चाहिये—'भगवान्‌की प्रसन्नता' । प्रेम विशुद्ध होना चाहिये । उसमे कोई कामना नहीं होनी चाहिये । निष्काम प्रेम आत्माका उद्धार करनेवाला है । निष्काम प्रेम किसीके भी प्रति हो और सकाम प्रेम भगवान्‌के प्रति हो तो इनमे निष्काम प्रेमकी महत्ता अधिक है । यह निष्काम प्रेम भगवान्‌के साथ हो, तब तो कहना ही क्या है ? भाव यही रखना चाहिये कि मै भगवान्‌की प्राप्तिके लिये—भगवान्‌की प्रसन्नताके लिये ही सबसे प्रेम करता हूँ । यह भाव भी निष्कामके ही समान है । कोई यदि भगवान्‌की प्राप्तिके लिये या भगवान्‌मे प्रेम होनेके लिये प्रेम नहीं करता, केवल अपना कर्तव्य समझकर ही सबसे निष्काम-भावसे प्रेम करता है, तो उसका फल भी परमात्माकी प्राप्ति ही है । अतः हमें निष्काम-भावसे प्रेम करना चाहिये । यह बहुत ही मूल्यवान् वस्तु है । किसीसे भी परस्परमें जहाँ उच्चकोटिका प्रेम होता है, वहाँ लज्जा, मान, भय, आदर आदि नही रहते । यदि प्रेमीके साथ व्यवहार-में लज्जा, मान, भय या आदर है तो समझना चाहिये कि वह प्रेम उच्चकोटिका नही है । वैसा उच्चकोटिका प्रेम भगवान्‌के प्रति हो तो फिर बात ही क्या है ? भगवान्‌की प्राप्ति केवल प्रेमसे हो सकती है, केवल श्रद्धासे हो सकती है, केवल विशुद्ध भावसे हो सकती है, केवल सत्यके आचरणसे हो सकती है और केवल परोपकारसे भी भगवान्‌की प्राप्ति हो सकती है; किंतु वह परोपकार होना चाहिये निष्कामभावसे । एक पुरुष रुपयोंकी परवा न करके या उन रुपयोंसे

सिद्ध होनेवाले स्वार्थका त्याग करके दूसरोंका उपकार करता है, दूसरोंकी सेवा करता है। उसमें रुपयोंका त्याग है, शरीरके आरामका भी त्याग है; किंतु उसमे सकाम-भावका त्याग नहीं है। इसलिये केवल आराम तथा रुपयोंका त्याग ही उच्चकोटिका त्याग नहीं है।

शरीरका आराम नहीं चाहा, पर मनमे यह उद्देश्य रहा कि इससे मेरी प्रतिष्ठा हो, मान हो, बड़ाई हो, सत्कार हो तो उसका भी वह परोपकार सकाम ही है। मान, बड़ाई, प्रतिष्ठाकी इच्छा नहीं है; परंतु स्वर्गकी कामना है तो वह कर्म भी सकाम ही है। हाँ! यदि मुक्तिकी इच्छा है तो इतनी आपत्ति नहीं। यह कामना निष्काम-के तुल्य ही है, पर यह भी पूर्ण निष्काम नहीं है; क्योंकि मुक्तिकी जो कामना रहती है, वह भी कभी-कभी बाधा पहुँचा देती है। उदाहरणके लिये मान लीजिये कि कोई भाई मुझसे मुक्तिके लिये प्रेम करते है, आगे चलकर उन्हे यदि मालूम हो जाय कि मेरी सेवासे उनकी मुक्ति नहीं हो सकती तो वे मेरी सेवा करना छोड़ देगे। इससे सिद्ध है, मुक्तिकी इच्छा बाधक हुई। मुक्तिकी भी इच्छा न होती तो मेरा उनका परस्परका प्रेम कभी कम न होता। इसीसे महात्मालोग किसी भाईसे प्रेम करते है तो निष्कामभावसे करते है। इसीलिये उनकी ओरसे प्रेम कभी कम नहीं होता। वह भाई ही जब उनमे प्रेम कम कर देता है, तब उसका प्रेम कम हो जाता है। महात्मालोग निष्कामभावसे लोगोंका उपकार करते है। इसी प्रकारसे हमें भी निष्कामभावसे ही दूसरोंका उपकार करना चाहिये, लोगोंकी निष्कामभावसे सेवा करनी चाहिये। भगवान् निष्कामभावसे ही सेवा करते है, उनके मनमे कोई कामना थोड़े ही है? संसारका उद्धार

करना उनका स्वभाव ही है । इसी प्रकार महात्मालोगोंका स्वभाव ही है कि वे लोगोंका अहैतुक हित करते रहते है । उनमे अपना कोई स्वार्थ नहीं है ।

न तो ऐसे पुरुषोको कुछ करनेसे प्रयोजन है और न कुछ न करनेसे । समस्त भूत-प्राणियोमे उनका अपना किसीमे किञ्चिन्मात्र भी स्वार्थ नही है । उनके द्वारा समस्त कर्म सहज लोकहितार्थ ही होते है । यह बात भगवान्‌ने गीता अध्याय ३ श्लोक १८ मे* बतलायी है । ये महात्माओके लक्षण है । इन्हीको लक्ष्यमे रखकर उनका अनुकरण करना चाहिये । इस प्रकार जानकर जो साधक साधन करता है, उसका अन्तःकरण बहुत शीघ्र पवित्र हो जाता है ।

जो निष्काम-भावसे सेवा करता है और यह समझता है कि मै अपने कर्तव्यका पालन करता हूँ, भगवान् तो सब जानते ही है, इसका परिणाम हमारे लिये शुभ ही होगा । इसमे भी सूक्ष्मतासे विचार करके देखनेपर कामना ही सिद्ध होती है । अतः ऐसी कामना भी नहीं रखनी चाहिये । फलकी ओर कभी ध्यान ही नही देना चाहिये । यह समझना चाहिये कि 'कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन ।' मुझे केवल कर्म करनेका ही अधिकार है, फलका कभी नहीं, फिर जो अनधिकार चेष्टा करना है, वह भी भूल ही है ।

उपर्युक्त विवेचनके अनुसार साधन करनेसे शीघ्र ही परमात्माकी प्राप्ति हो जाती है ।

---

* नैव तस्य कृतेनार्थो नाकृतेनेह कश्चन ।
न चास्य सर्वभूतेषु कश्चिदर्थव्यपाश्रयः ॥

सत्यनिष्ठासे भगवत्प्राप्ति

भगवान्‌ने गीता अध्याय १७ श्लोक २३में कहा है—

ॐ तत्सदिति निर्देशो ब्रह्मणस्त्रिविधः स्मृतः ।
ब्राह्मणास्तेन वेदाश्च यज्ञाश्च विहिताः पुरा ॥

'ॐ, तत्, सत्—ऐसे यह तीन प्रकारका सच्चिदानन्दघन ब्रह्मका नाम कहा है, उसीसे सृष्टिके आदिकालमें ब्राह्मण और वेद तथा यज्ञादि रचे गये ।'

ॐ, तत्, सत्—ये तीन परमात्माके नाम है । इनका किन-किन स्थानोंपर प्रयोग करना चाहिये, यह बात गीतामें बतलायी गयी है । यहाँ इनमेसे सत्‌के विषयपर कुछ विचार किया जाता है । 'सत्' साक्षात् परमात्माका नाम है और परमात्माका स्वरूप भी 'सत्' ही है । सत्‌का प्रयोग करते हुए भगवान् गीतामें कहते है—

सद्भावे साधुभावे च सदित्येतत्प्रयुज्यते ।
प्रशस्ते कर्मणि तथा सच्छब्दः पार्थ युज्यते ॥

(१७ । २६)

'सत्'—इस प्रकार यह परमात्माका नाम सत्य-भावमे और श्रेष्ठ-भावमे प्रयोग किया जाता है तथा हे पार्थ ! उत्तम कर्ममें भी 'सत्' शब्दका प्रयोग किया जाता है ।'

यज्ञे तपसि दाने च स्थितिः सदिति चोच्यते ।
कर्म चैव तदर्थीयं सदित्येवाभिधीयते ॥

(१७ । २७)

'यज्ञ, तप और दानमे जो स्थिति है, वह भी 'सत्' इस प्रकार

कही जाती है और उस परमात्माके लिये किया हुआ कर्म निश्चय-पूर्वक सत्—ऐसे कहा जाता है।'

'सद्भावे साधुभावे च'—'सत्' शब्दका भावमे यानी अस्तित्वमे और साधु भावमे यानी श्रेष्ठ भावमे प्रयोग किया जाता है। 'सत्' शब्द-का प्रयोग परमात्माके स्वरूपके विषयमे किया गया है, क्योंकि परमात्मा-का स्वरूप सत् है—भावरूप है। गीतामे कहा है—

नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः।

(२।१६)

'असत् वस्तुकी तो सत्ता नहीं है और सत्का अभाव नहीं है।'

इस सिद्धान्तके अनुसार परमात्मा सत्स्वरूप है, उनका कभी अभाव नही होता; इसीलिये 'सत्' शब्द परमात्माके स्वरूपका वाचक है। हृदयके उत्तम भाव—श्रेष्ठ भावको 'सद्भाव' कहते है तथा कल्याण करनेवाली जितनी उत्तम क्रियाएँ (साधन) है, उनको भी 'सत्' कहा गया है; 'प्रशस्ते कर्मणि' से यह बात बतलायी गयी। अर्थात् 'सत्' शब्द सद्भावमें (अस्तित्वमे), परमात्माके स्वरूप-विषयमे और श्रेष्ठ भावमे तथा उत्तम कर्मोमे प्रयुक्त किया जाता है।

हमलोगोको अपने हृदयमे यह समझ लेना चाहिये कि जिस वस्तुका विनाश हो जाता है, वह असत् है और जिस वस्तुका कभी विनाश नही होता, वह सत् है। सत् परमात्माका नाम और स्वरूप है, अतः परमात्मा नित्य सत् है। हमे विश्वास करना चाहिये कि परमात्मा है। फिर परमात्माका कैसा स्वरूप है, यह तो स्वयं परमात्मा बतलायेगे। जब परमात्माकी प्राप्ति हो जायगी, तब हमे इसका यथार्थ ज्ञान हो जायगा कि परमात्माका स्वरूप कैसा है। जबतक परमात्मा-

की प्राप्ति नहीं होती, तबतक हम जो परमात्माके साकार या निराकार अथवा सगुण या निर्गुण स्वरूपका ध्यान करते है, वह शास्त्रोके और महात्माओंके वचनोके आधारपर ही करते है; किंतु वास्तवमे परमात्माका जो स्वरूप है, वह तो हमलोग जो ध्यान करते है या समझते है, उससे बहुत ही विलक्षण है। इसलिये जबतक परमात्मा-की प्राप्ति नहीं होती, तबतक परमात्माके यथार्थ स्वरूपका अनुभव हम नहीं कर सकते। अतः इतना ही हमारे लिये पर्याप्त है कि हम यह विश्वास करे कि 'भगवान् है।' यह विश्वास होनेपर हमको भगवान्की प्राप्ति अवश्य हो सकती है। जब हमारा भगवान्पर विश्वास हो जायगा और हमारे हृदयमे यह निश्चय हो जायगा कि भगवान् है, तब हमारी सारी क्रियाएँ सत् और सात्त्विक होने लगेगी। इसकी यह कसौटी है; क्योकि जब हमे यह विश्वास है कि भगवान् है, तब भगवान्को देखते हुए हम असत् कर्म कैसे कर सकते है। यदि करते है तो भगवान्मे हमारा विश्वास कहाँ? जिनका भगवान्मे विश्वास हो जाता है, उनके द्वारा भगवान्की आज्ञाके विरुद्ध कोई भी क्रिया नहीं हो सकती। उनकी सारी क्रियाएँ भगवान्की आज्ञाके अनुसार ही हुआ करती है। जब हमे यह ज्ञान है कि भगवान् सब जगह है, हम जो कुछ करते है, भगवान् देख रहे है, जो कुछ बोलते है, भगवान् सब सुन रहे है, तब भला बतलाइये, हम भगवान्के विरुद्ध कैसे बोलेंगे और कैसे कोई क्रिया करेंगे? अतः इसके लिये हमे भगवान्के नाम और रूपकी शरण लेनी चाहिये।

'सत्' जो भगवान्का नाम है, उस भगवान्के नामको हर समय याद रखना भगवान्के नामकी शरण लेना है तथा 'सत्'

जो भगवान्‌का स्वरूप है, उसको हर समय याद रखना—यह भगवान्‌के सत्स्वरूपकी शरण है। जो इस प्रकारसे भगवान्‌के नाम-रूपकी शरण ले लेता है, उसे हर समय यह ज्ञान रहता है कि भगवान् सब जगह हैं। भगवान्‌का कैसा स्वरूप है, यह ज्ञान न होते हुए भी उसे भगवान्‌की प्राप्ति हो जाती है; क्योंकि उसके हृदय-में यह निश्चय है कि भगवान् हैं। उनकी सत्ता सर्वत्र और सर्वकाल है। ऐसा कोई स्थान नहीं, जहाँ भगवान् न हों। ऐसा कोई काल नहीं, जिस कालमें भगवान् न हों। भगवान् सर्वत्र हैं, नित्य हैं। भगवान् किस प्रकारसे सब जगह हैं, इसके लिये गीताके तेरहवें अध्यायके १३ वें श्लोकका अर्थ समझना चाहिये।

सर्वतःपाणिपादं तत्सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम्।
सर्वतःश्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति॥

'वह सब ओर हाथ-पैरवाला, सब ओर नेत्र, सिर और मुखवाला तथा सब ओर कानवाला है; क्योंकि वह संसारमें सबको व्याप्त करके स्थित है।'

'परमात्मा संसारमें सबको व्याप्त करके स्थित हैं'—ऐसा ज्ञान रहनेसे उसे बहुत शीघ्र ही परमात्माकी प्राप्ति हो जाती है। सब जगह उनके हाथ हैं—यह कहनेका अभिप्राय यह है कि हम जो कुछ भी भगवान्‌को समर्पण करते है, उसको भगवान् सब जगह ग्रहण कर लेते हैं; क्योकि उनके हाथ व्यापक हैं, एकदेशीय नहीं। सब जगह उनके चरण हैं—यह कहनेका यह अभिप्राय है कि हम जब जहाँ भगवान्‌के चरणोंमें नमस्कार करते है, उसे भगवान् वहीं स्वीकार कर लेते हैं; क्योंकि उनके चरण सब जगह है, एकदेशीय

नहीं । जैसे हाथ व्यापक है, वैसे ही चरण भी व्यापक है । सभी जगह भगवान्‌के नेत्र है—यह कहनेका यह अभिप्राय है कि हम जो कुछ कर रहे है, भगवान् सब देख रहे है; क्योंकि भगवान्‌के नेत्र सब जगह व्यापक है । जब हमारा ऐसा भाव होगा, तब हमसे कोई भी बुरा काम नही होगा अर्थात् भगवान्‌की आज्ञाके विरुद्ध कोई भी क्रिया नही होगी । सब जगह भगवान्‌का सिर है—यह कहनेका अभिप्राय यह है कि हम जो कुछ भी पत्र-पुष्पादि भगवान्‌का भाव करके जहाँ-कही भी चढ़ाते है, वे भगवान्‌के मस्तकपर ही चढ़ जाते है; क्योंकि भगवान्‌का मस्तक सब जगह व्यापक है । सब जगह भगवान्‌का मुख है, इस कथनका अभिप्राय यह है कि भगवान्‌का मुख सब जगह व्यापक है । अतः भगवान्‌को जो कुछ हम प्रेमसे भोग लगाते है, उसको भगवान् स्वयं खा लेते है । गीतामे कहा है—

पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति ।
तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः ॥

(९ । २६)

'जो कोई भक्त मेरे लिये प्रेमसे पत्र, पुष्प, फल, जल आदि अर्पण करता है, उस शुद्धबुद्धि निष्काम प्रेमी भक्तका प्रेमपूर्वक अर्पण किया हुआ वह पत्र-पुष्पादि मै सगुणरूपसे प्रकट होकर प्रीतिसे खाता हूँ ।'

इससे यह बात सिद्ध हुई कि भगवान् सब जगह है और उनका मुख भी सब जगह है । सब जगह उनके कान है—इस कथनका अभिप्राय यह है कि भगवान्‌के कान व्यापक है, एकदेशीय नही । हम जहाँ-कही भी जो कुछ बोलते है, भगवान् वही सुन लेते है । भगवान् सबको घेरकर सब जगह स्थित है—इससे भगवान्‌का

अभिप्राय यह है कि कोई अणुमात्र भी ऐसी जगह नहीं, जहाँ भगवान् न हो। इस बातको समझकर हमे सदा ही निर्भय रहना चाहिये। जब हमारे प्रभु सब जगह मौजूद है, तब हमे किस बातका भय है? ऐसा समझनेवालेके हृदयमे निर्भयता और धीरता आ जाती है। फिर वह भारी-से-भारी विपत्ति आ पड़नेपर भी घबराता नहीं, क्योंकि भगवान् सदा सर्वत्र उसके पास है। छोटा-सा साल-दो-सालका बच्चा माँकी गोदमे बैठकर डरता नही, वह समझता है कि मै माँकी गोदमे बैठा हूँ। जब माँकी गोदमे बैठनेवाला छोटा बच्चा भी भय नही करता, तब हम बच्चेसे तो अपनेको कुछ अधिक ही समझदार मानते है; तब फिर हमको क्यों भय करना चाहिये? माँकी गोदकी अपेक्षा भगवान्‌की गोद तो और भी बहुत ही उत्तम और निर्भयताको देनेवाली है। ऐसी परिस्थितिमे हमें भय ही क्या है? जिस प्रकार भगवान्‌के सब अङ्ग सब जगह है, वैसे ही भगवान्‌की गोद भी सब जगह है। अतएव अपनेको भगवान्‌की गोदमे समझनेवाले भक्तके हृदयमे निर्भयता, गम्भीरता, वीरता, धीरता आदि अनेक गुण आ जाते है। इससे उसके हृदयमे आत्मबल आ जाता है। वह कभी किसी कामके लिये यह नही समझता कि मै इसे नही कर सकता। वह कभी भगवान्‌की आज्ञाका उल्लङ्घन नही करता। जो कुछ करता है, भगवान्‌की आज्ञाके अनुसार ही करता है, इसलिये उसे यमराजका भी भय नहीं रहता; क्योंकि यमराजकी भी सामर्थ्य नही कि उसे दण्ड दे सके। अपराध होनेपर ही यमराज दण्ड दे सकते है। पूर्वमे किये हुए अपराधके फलस्वरूप उसे जो कुछ दुःख आदि प्राप्त होते है, उनको भगवान्‌का मङ्गलविधान एवं प्रसाद समझकर वह हँसता हुआ प्रसन्नताके साथ स्वीकार करता है।

भगवान्‌के सभी जगह हाथ, पैर और कान आदि है, यह बात ऊपर कही गयी है । तो क्या सब प्राणियोंकी इन्द्रियाँ ही भगवान्‌की इन्द्रियाँ है अर्थात् क्या सबकी आँखे ही भगवान्‌की आँखे है और सबके कान ही भगवान्‌के कान है ? आदि-आदि यह समझना भी ठीक है, किंतु इतना ही नहीं, इसके अतिरिक्त और भी विशेष बात है । वह यह कि भगवान्‌की इन्द्रियाँ सर्वत्र व्यापक है, प्राणियोकी भाँति एकदेशीय नही । गीतामे बतलाया है—

सर्वेन्द्रियगुणाभासं सर्वेन्द्रियविवर्जितम् ।

(१३ । १४)

'वह सम्पूर्ण इन्द्रियोके विषयोंको जाननेवाला है, परंतु वास्तवमे सब इन्द्रियोंसे रहित है ।'

अतएव आँख, हाथ, पैर, कान आदि इन्द्रियोंका जो वर्णन किया गया है, इस प्रकार प्राणियोकी इन्द्रियोके समान उनकी इन्द्रियाँ नही है । उनकी इन्द्रियाँ सब जगह व्यापक है, निराकार है । वे इन्द्रियोके विषयोंका अनुभव सब जगह स्थित हुए करते है । यदि कहे कि एक इन्द्रिय सब जगह कैसे हो सकती है, जहाँ हाथ है; वहाँ पैर नही, जहाँ पैर है, वहाँ हाथ नही, यह ठीक है; किंतु उनकी विलक्षणता अलौकिक है । निराकाररूपसे उनके सभी जगह हाथ, सभी जगह पैर, सभी जगह आँखे आदि इन्द्रियाँ है और वे स्वयं भी सब जगह व्यापक है । कैसे ? जैसे तारके भीतर बिजली है । उस बिजलीमें सभी शक्तियाँ सब जगह है । जैसे तारके भीतर शक्ति उस बिजलीमे सब जगह है, जैसे पंखेके द्वारा हवाकी शक्ति उसमे सब जगह है, जैसे शब्दकी (रेडियो आदिके द्वारा) शक्ति सब जगह है और जैसे

वलकी (मशीन और रेल आदि चलानेकी) शक्ति सब जगह है, यह नहीं कि अमुक जगह ही अमुक शक्ति है, उसकी शक्ति सर्वत्र व्यापक है, किंतु आँखोसे दीखती नहीं; इसी प्रकार इससे भी बढ़कर परमात्माकी शक्ति सब जगह व्यापक है, क्योंकि परमात्मा तो बिजली और अग्निकी भी अपेक्षा सर्वथा विलक्षण भावसे विशेषरूपसे व्यापक है। एवं जिस प्रकार सब जगह समान भावसे होते हुए भी बिजलीकी शक्ति तारमे विशेषरूपसे है, उसी प्रकार परमात्मा सब जगह समान भावसे होते हुए भी भक्तके हृदयमें विशेषरूपसे है। भगवान् सब जगह है। सब जगह होनेसे उनके हाथ, पैर आदि भी निराकार-रूपसे सब जगह व्यापक है। सब जगह हाथ, पैर होनेका मतलब यह है कि हाथ-पैरकी जो शक्ति है, वह सब जगह है। हमारी जो ऑखे है, यह तो नेत्रेन्द्रियका स्थान (गोलक) है। वास्तवमे देखनेकी जो शक्ति है, वही असलमे नेत्रेन्द्रिय है, वह निराकार है। यह जो आपको ऑखे दीखती है, देखनेकी इन्द्रियका स्थान होनेसे इनको 'नेत्र' कहते है। हम जिसे कान कहते हैं, वास्तवमें वह इन्द्रिय नहीं है। वह तो सुननेकी इन्द्रियका स्थान (गोलक) है। इन्द्रिय तो उसमे जो सुननेकी शक्ति है, वह हैं; क्योंकि जब इन्द्रिय नष्ट हो जाती है, तब कानका गोलक कायम रहते हुए भी सुनता नहीं। इसलिये समझना चाहिये कि वास्तवमे इन्द्रियाँ निराकार है, इन्द्रियोंके गोलक इन्द्रियाँ नहीं है और भगवान्‌की इन्द्रियाँ तो विशेपतया निराकाररूपसे सर्वत्र व्यापक है।

कहनेका अभिप्राय यह है कि 'परमात्मा सदा-सर्वदा सब जगह है'—हमारे हृदयमे जो यह भाव है तथा हम जो भगवान्‌के नाम-

रूपको हर समय याद रखते है—यही भगवान्की वास्तविक शरण है; क्योंकि भगवान्का नाम भी सत् है और भगवान्का स्वरूप भी सत् है—इस प्रकारकी स्मृति रखनेसे हमारे हृदयके भाव भी सत् होंगे और हमारी वाहरकी क्रियाएँ भी सत् होंगी। बाहरकी क्रिया भीतरके भावके अनुसार ही होती है और भीतरका भाव बुद्धिके निश्चय-के अनुसार होता है।[1] जब हमारी बुद्धिमे यह दृढ़ निश्चय हो जायगा कि भगवान् है, तब हमारे हृदयमे जितने भाव है, वे सब पवित्र, अलौकिक और उत्तम हो जायँगे। जितने उत्तम भाव है, उनका नाम 'सद्भाव' है और जितने उत्तम कर्म है, उनका नाम 'सत्कर्म' है। जो इससे विपरीत है, उसे असत् कहते है। सत्स्वरूप भगवान्की शरण होनेपर हमारी बाहरकी सारी क्रियाएँ पवित्र और सत्य होने लगेगी अर्थात् हम वचन भी सत्य बोलेंगे, हमारे आचरण भी सत्य होगे और हमारा भोजन भी सत्य होगा। श्रीतुलसीदासजीने कहा है—

झूठइ लेना झूठइ देना। झूठइ भोजन झूठ चबेना॥

लेना-देना सब झूठा, व्यापार सब झूठा और भोजन भी झूठा। यहाँ यह बात समझमे नहीं आती थी कि भोजन उच्छिष्ट (जूठा) तो होता है पर झूठा क्या? मिथ्या क्या? इसका उत्तर यह है कि जो अन्यायसे द्रव्योपार्जन करके भोजन किया जाता है, वह मिथ्या भोजन है। अर्थात् असत्यकी कमाईका भोजन मिथ्या भोजन है। दूसरी बात यह है कि हम बाजारसे चावल, गेहूँ, आदि कोई खानेकी चीज खरीदकर लाते है उसे यदि कंट्रोलके कारण पुलिसका कर्मचारी पकड़ लेता है तो कहते है कि हमारे पास गेहूँ नहीं जौ है, हमारे पास चावल नहीं, चना है। तो यह हमारा झूठा व्यवहार है।

इसलिये हमारा वह भोजन भी मिथ्या है। खाते तो हैं चावल-गेहूँ और बताते है, जौ-चना। इस मिथ्याके कारण हमारा वह भोजन मिथ्या हो जाता है। इसी प्रकार जो सत्यतापूर्वक कमाये हुए द्रव्यका अन्न है, वह सत् है। शास्त्रके अनुकूल जो सात्त्विक भोजन है, वह सत् है और उससे जो विपरीत भोजन है, वह असत् है। इसलिये भोजन भी हमारा सत् ही होना चाहिये।

बाहरकी क्रियाओंमे दो बातें प्रधान है—आहार और व्यवहार। व्यवहारमे वाणीका व्यवहार और इन्द्रियोंका व्यवहार। वाणीका व्यवहार सत्य क्या है? यथार्थ, प्रिय और हितके वचन बोलना और इन्द्रियोंका व्यवहार सत्य क्या है? उत्तम आचरण करना। आहार सत्य क्या है? भोजनकी पवित्रता। भोजनकी पवित्रता भी तीन प्रकारकी होती है—(१) न्यायसे उपार्जन किये हुए द्रव्यसे खाद्य पदार्थ खरीदकर हम खाये, वह पवित्र भोजन है। (२) जो वस्तु स्वभावसे ही पवित्र है; जो अपवित्र नही और शास्त्रके अनुकूल है, उन पदार्थोंका भोजन पवित्र है। जैसे दाल, चावल, खिचड़ी, रोटी, तरकारी और फल आदि तथा दूध, दही, घी आदि चीजें तो पवित्र है; किंतु शास्त्रनिषिद्ध लहसुन-प्याज आदि और नशेवाली जो तामसी मादक वस्तुऍ हैं तथा जो उच्छिष्ट है एवं जो मांस, अंडा आदि है, यह सब तो महान् अपवित्र और निषिद्ध है। इसी प्रकार जो राजसी वस्तुएँ है, वह भी असत् ही है। जो नाना प्रकारके मसाले है—जैसे नमक, मिर्च, खटाई, राई आदि तथा जो तीक्ष्ण, रूक्ष, अति गरम और दाहकारक पदार्थ है, वे सभी राजसी है। राजसी-तामसी—ये दोनो ही भोजन असत् हैं। सात्त्विक ही सत्

है। अतः भोजन भी हमारा सात्त्विक होना चाहिये। इस प्रकार एक तो न्यायसे उपार्जन किये हुए द्रव्यसे खरीदकर खाद्य पदार्थ खाते हैं, वह सत् है। दूसरे जो भोजन पदार्थस्वरूपमें पवित्र यानी सात्त्विक हैं, वह सत् है। (३) तीसरे, जो भोजन शौचाचार और शुद्धतापूर्वक बनाया गया है, जिसमें शुद्ध घी, चीनी, आटा आदि हों, शुद्ध जल हो और वह शुद्धतासे बनाया जाय अर्थात् जगह शुद्धतापूर्वक साफ-सुथरी की जाय, संस्कारसे शुद्ध की जाय और शुद्धभावसे भोजन बनाया जाय तो वह इस प्रकार बनाया हुआ भोजन पवित्र है।

बाहरकी पवित्रता क्या है ? हमारे जो सात्त्विक कर्म हैं, वे सत् हैं। यज्ञ, दान, तप, तीर्थ, व्रत, उपवास, सेवा आदि शास्त्रविहित क्रियाएँ सत्कर्म हैं। इसी प्रकार भगवान्‌की भक्तिविषयक जितने कर्म हैं, जैसे भगवान्‌का भजन करना, ध्यान करना, भगवान्‌की पूजा करना, नमस्कार करना आदि—ये तो सब सत्कर्म हैं ही। जितनी शास्त्रविहित उत्तम क्रियाएँ हैं, वे भी सब सत् हैं। अतः बाहरकी हमारी सब क्रियाएँ सत् ही होनी चाहिये अर्थात् हमारा व्यवहार भी सबके साथ सत् ही होना चाहिये। उत्तम, पवित्र और सात्त्विक व्यवहारको 'सत्य व्यवहार' कहते हैं। 'इसका व्यवहार सत्य है, इसका व्यवहार श्रेष्ठ है'—इस प्रकार श्रेष्ठ कहना या सत् कहना एक ही बात है। इसीको 'साधु व्यवहार' कहते हैं। उसीको सत् 'व्यवहार' कहते हैं। उसीको 'सदाचार' कहते हैं। सदाचारसे सारे धर्मोंकी उत्पत्ति होती है। महाभारतमें बतलाया है—

सर्वागमानामाचारः प्रथमं परिकल्पते।
आचारप्रभवो धर्मो धर्मस्य प्रभुरच्युतः॥

(अनुशासन० १४९। १३७)

'सब शास्त्रोंमें आचारको प्रथम माना जाता है, आचारसे ही धर्मकी उत्पत्ति होती है और धर्मके स्वामी अच्युत भगवान् हैं ।'

धर्मके पालनसे भगवान्की प्राप्ति होती है, इसीलिये कहा गया है कि धर्मके प्रभु भगवान् हैं और सारे धर्मोंकी उत्पत्ति आचारसे होती है। आचारके दो भेद हैं—शौचाचार और सदाचार। शौचाचारका अभिप्राय है—जल और मृत्तिका आदिसे शरीरको शुद्ध बनाना और सदाचारका अभिप्राय है—सबके साथ स्वार्थ, ममता और अभिमान-रहित उत्तम व्यवहार करना । उस उत्तम व्यवहारके अन्तर्गत ही बाहर-की समस्त उत्तम क्रियाएँ हैं, जो मैं आपको बतला चुका हूँ । यज्ञ, दान, तप, सेवा, पूजा, जप—ये सब चीजें उसके अन्तर्गत आ जाती हैं । हमारे आचरण पवित्र होनेका प्रधान उपाय है—स्वार्थ, ममता और अभिमानसे रहित होकर व्यवहार करना; किंतु हम जो व्यवहार करते हैं, उसमें जब हमारेमें अभिमान आ जाता है, तब वह हमारा व्यवहार असत् हो जाता है । इसी प्रकार क्रोधसे और लोभसे भी व्यवहार असत् हो जाता है तथा मूर्खतासे भी व्यवहार असत् हो जाता है । इसलिये जिसका व्यवहार सत् होता है, उसके काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि दुर्गुण भी दूर हो जाते हैं । जिसके हृदयसे दुर्गुणोंका सर्वथा अभाव हो जाता है, उससे तो फिर अपने आप सत् ही व्यवहार होता है । जब असत्के हेतु उसमें हैं ही नहीं, तब उसका व्यवहार असत् कैसे होगा ? उसका व्यवहार तो स्वतः शुद्ध हो जाता है । व्यवहारकी शुद्धिमें मूल कारण निरभिमानता और निष्कामभाव है । हृदयका जो निष्कामभाव है, वही सत् भाव है । वही उत्तम भाव है, श्रेष्ठ भाव है, साधु भाव है । अतः जब हृदयमें

निष्कामभाव आ जाता है; तब हमारी सारी क्रियाओंमें भी निष्काम-भावका प्रवेश हो जाता है। फिर हमारी सारी क्रियाएँ स्वतः ही पवित्र हो जाती हैं। किसीके साथ आप व्यवहार करते हैं तो उसमें आप स्वार्थका त्याग कर दीजिये और स्वार्थका त्याग करके आप त्याग करनेका जो अभिमान है, उसका भी त्याग कर दीजिये तो फिर आप-का वह व्यवहार अपने-आप ही परम पवित्र उच्चकोटिका हो सकता है। इस प्रकारका जो व्यवहार है, वह सत्-व्यवहार है। इसलिये हमको बोलना भी सत्य ही चाहिये, चाहे भले ही हमारे प्राण ही चले जायँ; कभी असत्य नहीं बोलना चाहिये। भगवान्‌ने गीतामें १७ वें अध्यायके १५ वें श्लोकमें वाणीका तप बतलाते हुए कहा है—'सत्यं प्रियहितं च यत्।' वचन कैसा होना चाहिये? सत्य, प्रिय और हितकर। गीताके इस एक श्लोकके एक चरणमें तीन बातें बतला दीं। श्रीमनुजीने एक श्लोकमें दो बातें बतलायी हैं, उन्हींका विस्तार करके यहाँ भगवान्‌ने तीन बातें बतलायीं। मनुजीने कहा है—

सत्यं ब्रूयात्प्रियं ब्रूयान्न ब्रूयात् सत्यमप्रियम्।
प्रियं च नानृतं ब्रूयादेष धर्मः सनातनः॥
(४।१३८)

'सत्य बोले; और प्रिय बोले किंतु ऐसा सत्य न बोले, जो अप्रिय हो तथा ऐसा प्रिय भी न बोले, जो असत्य हो—यह सनातन धर्म है।'

यदि यह कहा जाय कि मनु महाराजने 'सत्य' और 'प्रिय' बोलनेके लिये ही आज्ञा दी है, इसमें 'हित' शब्द क्यों नहीं आया सो ठीक है, किंतु 'हित' शब्द सत्य और प्रिय इन दोनोंके अन्तर्गत

ही है । वास्तवमें प्रिय वही है, जिसमें हित है । यदि मैं आपको प्यारी-प्यारी मनसुहाती बात कहूँ, किंतु वह बात यदि आपके लिये भविष्यमें अहित करनेवाली हो तो जब कभी आपको यथार्थ पता लगेगा, तब आप कहेंगे कि 'वह बात तो प्यारी-प्यारी कहता था, किंतु उसमें हमारा अहित भरा था ।' तो वह बात वास्तवमें आगे जाकर प्रियकारक नहीं रहेगी । इसलिये यथार्थ प्रिय वही है, जिसमें वास्तवमें हमारा हित है । अहितकी बात जो हमको प्रिय लगती है, वह हमारे अज्ञानसे लगती है । असलमें वह आत्माके विरुद्ध एवं आत्माका पतन करनेवाली होनेसे हमारे लिये अप्रिय ही है, प्रिय नहीं । । इसलिये यह समझ लेना चाहिये कि उस प्रियके अंदर ही हित भरा हुआ है । इसी प्रकार सत्यके अंदर भी हित भरा हुआ है; क्योंकि जो बात सत्य होती है, वही हितकर होती है । सत्यसे कभी अहित होता ही नहीं और जिससे अहित होता है, वह सत्य ही नहीं है । सत्य वचन कभी कठोर और अप्रिय तो प्रतीत हो सकते हैं; किंतु सत्य होकर वह वचन हितकर न हो, ऐसी बात नहीं हो सकती । इसलिये उन्होंने 'हित' शब्द अलग न कहकर यही कह दिया कि सत्य बोलना चाहिये और प्रिय बोलना चाहिये । यदि कहें कि फिर भगवान्‌ने 'हित' शब्द का प्रयोग क्यों किया ? तो इसका उत्तर यह है कि इसी तत्त्वका स्पष्टीकरण करनेके लिये; क्योंकि बहुत-से आदमी इसे ठीक समझते नहीं, वे यह समझते हैं कि कोई वचन प्रिय होकर भी अहितकर हो सकता है । इसलिये भगवान्‌ने कहा कि सत्य भी बोलना चाहिये, प्रिय भी बोलना चाहिये और हितकर वचन भी बोलना चाहिये ।

अब यह समझना है कि किन-किन स्थानोंमें असत्‌की सम्भावना

है। इसपर भी कुछ गम्भीरतासे विचार करना चाहिये। जो आदमी भविष्यकी क्रिया बोलता है, उसमे असत् शब्द होनेकी सम्भावना रहती है, जैसे मैं आपको कहूँ कि 'मैं कल अमुक स्थानमे जाऊँगा' किंतु बीमार पड़ गया तो नहीं जा सका; तो यहाँ असत्यके लिये गुंजाइश है। अतः ऐसी अवस्थामे मुझे विचारकर बोलना चाहिये। ऐसी प्रतिज्ञा क्यो करनी चाहिये कि मैं कल जाऊँगा। 'अच्छा, कलके लिये विचार रखना चाहिये, यदि हो सका तो कल जाना हो सकता है'—ऐसा कहनेमे असत्यको गुंजाइश नही है। नही भी जाना हो तो उससे हमारे वचन मिथ्या नहीं होंगे।

एक कथा है। इसको हमने महाभारत आदि शास्त्रोमें तो नहीं देखा, किंतु लोकोक्ति सुनी जाती है। एक समय राजा युधिष्ठिरके पास कोई एक ब्राह्मण दान लेने आया तो उस ब्राह्मण देवतासे महाराज युधिष्ठिरने कह दिया—'हम आपको कल दान देंगे।' यह सुनकर अर्जुन आदि भाइयोने हर्षपूर्वक बडा उत्सव मनाया। तब महाराज युधिष्ठिरने अर्जुनसे पूछा—'भैया! आज कौन-सा पर्व है जो तुमलोग उत्सव मना रहे हो?' अर्जुन बोले—'प्रभो! आज बड़ा उत्सव है, बहुत ही अच्छा पर्व है।' युधिष्ठिरने पूछा—'क्या?' अर्जुनने कहा—'आपने उस ब्राह्मणसे जो यह कहा कि हम आपको कल दान देंगे और आप सत्यवादी महात्मा है। आपके वचन असत्य तो होंगे नही। अतः यह निश्चय हो गया कि कलतक तो आपके दर्शन हमलोगोको हो सकते हैं।' युधिष्ठिरने कहा—'अहो! मैने ऐसा कह दिया, बड़ी भूल की।' भाव यह है कि अर्जुन कहना तो यह चाहते थे कि 'प्रभो! आप-जैसे पुरुषोको इस प्रकार भविष्य-

की प्रतिज्ञा करके वचन नहीं कहने चाहिये।' किंतु इन शब्दोंमें कहना तो बड़े भाईको उपदेश देना है। इसलिये यों न कहकर उपर्युक्त सुन्दर शब्दोंमें संकेत किया, जो उनके योग्य थे।

इससे हमलोगोंको यह शिक्षा लेनी चाहिये कि हम भी ऐसे ही वचन कहें, जिनमें कहीं भविष्यकी क्रिया न आये; तब उनके मिथ्या होनेकी गुंजाइश नहीं रहेगी। इसी प्रकार अपने हृदयमें भविष्यका संकल्प भी नहीं करना चाहिये। यदि हम भविष्यके लिये दृढ़ संकल्प कर लेंगे और उसे काममें न ला सकेंगे तो हमारे हृदयका संकल्प असत्य हो जायगा। हृदयका संकल्प असत्य होनेसे एक तो यह हानि होगी कि हमें उसको पूरा करनेके लिये पुनर्जन्म लेना पड़ेगा। हमने हृदयमें संकल्प कर लिया कि हम निश्चय ही कलकत्ता जायँगे और किसी कारणसे हम मर गये तो मरनेके बाद हमारा जन्म कभी कलकत्तेमें होगा; क्योंकि मरनेके पहले हमारा जो दृढ़ संकल्प था, उसकी पूर्ति नहीं हुई तो संकल्पकी पूर्ति करनेके लिये हमें फिर कभी कलकत्तेमें जन्म लेना पड़ेगा। दूसरी बात यह है कि यदि हमारा संकल्प बार-बार बदलता रहेगा तो हमारे हृदयमें सत्य-संकल्पकी प्रतिष्ठा नहीं होगी। जैसे कोई आदमी बार-बार झूठ बोलता है तो उसकी वाणी कभी सत्य-प्रतिष्ठावाली नहीं हो सकती। महर्षि पतञ्जलिजी कहते हैं—

'सत्यप्रतिष्ठायां क्रियाफलाश्रयत्वम्।
(योग० २। ३६)

'सत्यकी प्रतिष्ठा हो जानेपर वक्ताकी क्रिया फलवती होती है।' सत्यवादी पुरुष जो कुछ वाणीसे कह देता है, उसका वचन

सत्य हो जाता है । जैसे पूर्वकालमे सत्यवादी तपस्वी पुरुष किसीको शाप दे देते थे, वरदान दे देते थे, आशीर्वाद दे देते थे तो वे सब सत्य हो जाते थे, क्योकि वे सत्यवादी थे । जो मनुष्य सत्य नही बोलता, उसके सत्यकी प्रतिष्ठा नही होती । इसलिये उसकी वाणी फलवती नही होती । इसी प्रकार जो मनुष्य मिथ्या संकल्प-विकल्प करता रहता है, जिसके संकल्पका कोई आदर नही है, उसके संकल्प भी सत्य नही होते । इसलिये हमको अपना संकल्प सत्य ही करना चाहिये अर्थात् संकल्पमे परिवर्तन नही करना चाहिये ।

वाणीकी सत्यतासे हृदयकी (मनके संकल्पकी) सत्यता श्रेष्ठ है । वाणीकी जो सत्यता है, वह बाहरकी सत्यता है और हृदयके भावोकी जो सत्यता है, वह भीतरकी सत्यता है; वह उससे अधिक मूल्यवान् चीज है । इससे भी मूल्यवान् वस्तु है हमारी बुद्धिका यह निश्चय कि 'परमात्मा है और वह सत्य है, नित्य है ।' इस प्रकारका हमारे हृदयका निश्चय जितना ही अधिक और दृढ़ हो जाता है, उतना ही हम भगवान्‌के अधिक समीप पहुँच जाते है । इसलिये हृदयमे विशेष दृढता और विश्वासके साथ यह निश्चय रखना चाहिये कि 'भगवान् है, इसमे कोई भी शङ्का नही और भगवान् है तो हमें किस बातकी चिन्ता और भय है । भगवान् है और मिलते है, तब हम वञ्चित क्यो रहें । हमको और करना ही क्या है ? निश्चय ही हमको यही काम कर लेना उचित है ।'

वाणीकी असत्यताकी गुंजाइश और कहाँ है ? मनुष्यको जब क्रोध आ जाता है तो वह क्रोधके वशीभूत होकर चाहे सो बक देता है । अतः सत्यका अभ्यास करनेवालेको क्रोध नही करना चाहिये ।

वास्तवमें सत्यवादी पुरुषको तो क्रोध आता ही नहीं; क्योंकि उसके हृदयके भाव सत्य हो जाते हैं। क्रोध तो असत्‌की जड़ है। और भी जितने लोभ, काम आदि दुर्गुण हैं, वे भी सब असत्‌की ही जड़ हैं; क्योंकि लोभी और कामी पुरुष पद-पदपर असत्य बोलता रहता है। किंतु जिनके हृदयमें सत् भाव हैं, उनकी क्रियाएँ भी सब सत् होती हैं।

सद्-भाव क्या है? इसका वर्णन गीतामें मानसिक तपके नामसे किया गया है।

मनःप्रसादः सौम्यत्वं मौनमात्मविनिग्रहः।
भावसंशुद्धिरित्येतत्तपो मानसमुच्यते॥
(१७। १६)

'मनकी प्रसन्नता, शान्तभाव, भगवच्चिन्तन करनेका स्वभाव, मनका निग्रह और अन्तःकरणके भावोंकी भलीभाँति पवित्रता—इस प्रकार यह मनसम्बन्धी तप कहा जाता है।'

ये सब सद्‌भाव हैं। जब इस प्रकारका सद्भाव हो जाता है, तब हृदय पवित्र हो जाता है। फिर उसके हृदयमें राग-द्वेष, काम-क्रोध, लोभ-मोह आदि कोई भी असत् पदार्थ (असद् भाव) नहीं रहते। इन असत् पदार्थोंके रहते हुए अन्तःकरणकी पवित्रता नहीं मानी जाती। जब उसके हृदयमें ही दोष नहीं हैं, तब उसकी वाणी आदि क्रियाओंमें दोष आ ही कैसे सकते हैं? क्योंकि जो चीज हृदयमें ही नहीं है, वह बाहरके व्यवहारमें कहाँसे आयेगी?

साधकको पहले बाहरकी शुद्धिकी चेष्टा करनी चाहिये। बाहरकी शुद्धि क्या है? आहारकी शुद्धि, व्यवहारकी शुद्धि और वाणीकी शुद्धि। सत्य, प्रिय और हितकर वाणी ही शुद्ध वाणी है। सत्य वचन

बोलते समय अधिक नहीं बोलना चाहिये, मितभाषी होना चाहिये और किसीकी निन्दा-स्तुति नहीं करनी चाहिये; क्योंकि निन्दा-स्तुति करनेमें आवेशमें आकर मनुष्य अधिक बोल जाता है। स्तुति करता है तो स्तुति भी अधिक कर जाता है और निन्दा करता है तो निन्दा भी अधिक कर जाता है; किंतु सत्य वचन तो वह है कि जो बात जैसी सुनी, देखी और समझी गयी हो, वैसी ही कहना; न अधिक कहना, न कम कहना। अपनी प्रशंसा करता है तो अधिक कह जाता है और अपनी निन्दा करता है, दोष बतलाता है तो कम बतलाता है, तो कम कहना भी असत्य है और अधिक कहना भी असत्य है। सत्य तो वही है—जो बात जैसी सुनी, देखी और समझी हो, वैसी-की-वैसी ही निष्कपटभावसे कही जाय। यदि आप कहे कि कोई आदमी आकर ऐसी बात हमसे पूछे कि जो कहनी उचित नही है तो उस समय क्या करे, तो इसका उत्तर यह है कि उस समय आपको यह कह देना चाहिये कि मेरा बतलानेका विचार नही है। अथवा मौन हो जाना चाहिये। मौन भी सत्क्रिया ही है। आपको उस समय मौन हो जाना चाहिये, जब कि कोई अन्याययुक्त और अनधिकार प्रश्न करे। यदि चोर पूछे कि आपका धन कहाँ है तो हम उसे थोड़े ही बतला देंगे कि हमारा रुपया-गहना वहाँ पड़ा है। उसे बतलानेके लिये हम बाध्य नही है। हम व्यापार करते है और व्यापारका कोई भेद पूछे कि किस प्रकारसे तुमने रुपया कमाया, तो हम बतला भी सकते है और नहीं भी, इसमें हम स्वतन्त्र है। बाध्य नहीं हैं। बतलानेकी बात न हो तो यह कह सकते हैं कि इस विषय-मे हमारा बतलानेका विचार नही है। कोई आपसे पूछे कि आपके

साधनकी स्थिति कहाँतक हो गयी, अथवा कोई किसी महात्मा पुरुषसे पूछे कि आपको परमात्माकी प्राप्ति हुई या नहीं, तो वे इसे बतलानेके लिये बाध्य नही है। वे कह सकते है कि 'यह व्यक्तिगत प्रश्न है, अतः मै नहीं बतला सकता।' क्योकि गोपनीय बात अनधिकारीको नहीं कही जा सकती। भगवान् स्वयं गीतामें कहते है कि 'अर्जुन! मै तुम्हे परम गोपनीय बात कहता हूँ, यह मेरी बात तुम अपात्रको मत कहना।'

सर्वगुह्यतमं भूयः शृणु मे परमं वचः।
इष्टोऽसि मे दृढमिति ततो वक्ष्यामि ते हितम्॥

(१८।६४)

'सम्पूर्ण गोपनीयोंसे अति गोपनीय मेरे परम रहस्ययुक्त वचनको तू फिर भी सुन। तू मेरा अतिशय प्रिय है, इससे यह परम हितकारक वचन मै तुझसे कहूँगा।'

यह कहकर फिर आदेश दिया—

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे॥

(१८।६५)

'हे अर्जुन! तू मुझमे मनवाला हो, मेरा भक्त बन, मेरा पूजन करनेवाला हो और मुझको प्रणाम कर। ऐसा करनेसे तू मुझे ही प्राप्त होगा, यह मै तुझसे सत्य प्रतिज्ञा करता हूँ; क्योंकि तू मेरा अत्यन्त प्रिय है।'

सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥

(१८।६६)

'सम्पूर्ण धर्मोंको अर्थात् सम्पूर्ण कर्तव्यकर्मोंको मुझमे त्यागकर तू केवल एक मुझ सर्वशक्तिमान्, सर्वाधार परमेश्वरकी ही शरणमे आ जा, मै तुझे सम्पूर्ण पापोंसे मुक्त कर दूँगा, तू शोक मत कर।'

इस प्रकार भगवान्ने गुप्त रहस्यकी बात कही; फिर अपात्रको कहनेके लिये मना कर दिया कि—

इदं ते नातपस्काय नाभक्ताय कदाचन।
न चाशुश्रूषवे वाच्यं न च मां योऽभ्यसूयति॥

(१८। ६७)

'तुझे यह गीतारूप रहस्यमय उपदेश किसी भी कालमे न तो तपरहित मनुष्यसे कहना चाहिये, न भक्तिरहितसे और न बिना सुननेकी इच्छावालेसे ही कहना चाहिये तथा जो मुझमे दोषदृष्टि रखता है, उससे तो कभी भी नहीं कहना चाहिये।'

भगवान् मना करते है और यह गोपनीय बात है। इसलिये गोपनीय बात किसीको कहनेके लिये हम बाध्य नही। यदि सभी बात सभी कहनेके लिये बाध्य हो तो फिर गोपनीय बात क्या रही? इसलिये जो बात गुप्त है, उसे न कहना दोष नही है। किंतु हमारा व्यवहार किसीके साथ भी खराब नही होना चाहिये; सबके साथ उत्तम-से-उत्तम होना चाहिये। सबके साथ ऐसा व्यवहार होना चाहिये कि दूसरेपर अच्छा प्रभाव पड़े, वह प्रसन्न हो जाय। वह चाहे बदलेमे अच्छा व्यवहार न करे, किंतु हमे तो उसके साथ उत्तम-से-उत्तम व्यवहार करना चाहिये। बाहरका व्यवहार उत्तम होता है स्वार्थ और अभिमानके त्यागसे। स्वार्थका त्याग भी किसी हेतुको लेकर हो तो वह वास्तवमे स्वार्थका त्याग नहीं है। जब मै मान-बड़ाईके लिये

स्त्री, पुत्र, धन आदि स्वार्थका त्याग करता हूँ या स्वर्गादि परलोकके लिये स्वार्थका त्याग करता हूँ तो वह मेरा स्वार्थका त्याग वास्तविक स्वार्थत्याग नहीं है। जो स्वार्थत्याग उपर्युक्तरूपसे कामनारहित है, वही यथार्थ स्वार्थत्याग है और वही निष्काम कर्म है; किंतु वह निष्कामभाव भी अहङ्काररहित होना चाहिये। निष्काम करके भी यदि यह अभिमान है कि मैं निष्काम कर्म करता हूँ तो वह निष्काम-कर्ममें कलङ्क है। इसलिये ममता, अभिमान, स्वार्थ, कामना और आसक्तिका त्याग करके जो कर्म किया जाता है, वही उच्चकोटिका 'सत्य व्यवहार' है। इस प्रकारके भावसे होनेवाले जितने आचरण है, वे सब उत्तम-से-उत्तम कोटिके समझे जाते हैं। इस प्रकार निष्कामभावसे अन्तःकरणके शुद्ध होनेपर उसमें समता आ जाती है और उस पुरुषको परमात्माकी प्राप्ति हो जाती है। भगवत्प्राप्त पुरुषके लक्षण बतलाते हुए भगवान्‌ने कहा है—

इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः ।
निर्दोषं हि समं ब्रह्म तस्माद्ब्रह्मणि ते स्थिताः ॥

(५ । १९)

'जिनका मन समभावमें स्थित है, उनके द्वारा इस जीवित अवस्थामें ही सम्पूर्ण संसार जीत लिया गया है; क्योंकि सच्चिदानन्द परमात्मा निर्दोष और सम है, इससे वे सच्चिदानन्दघन परमात्मामें ही स्थित है।'

अतः जिनकी परमात्माके स्वरूपमें स्थिति है, उन्हींका भाव उत्तम, सत्, पवित्र और सम है। इसलिये हमलोगोंको उनका अनुकरण करना चाहिये। उन महापुरुषोंके हृदयके समान ही अपने

सत्य, सम और पवित्र भाव बनाने चाहिये। जो शुद्ध है, सत् है, सम है, वही साधुभाव है। साधुभाव होनेसे हमारी वाणीकी क्रिया यानी हमारा भाषण सत्य होगा, हमारी इन्द्रियोंकी क्रिया, हमारा बर्ताव सत्य होगा और हमारा आहार भी सत्य होगा। तब यज्ञ, दान, तप तथा और भी जितने शास्त्रविहित कर्म है, सब भी हमारेद्वारा सत्य ही होंगे यानी उच्चकोटिके श्रेष्ठ और यथार्थ होंगे; क्योंकि उत्तम कर्मोंका निष्कामभावसे आचरण करनेके लिये भगवान्‌ने गीतामें कहा है—

यज्ञदानतपःकर्म न त्याज्यं कार्यमेव तत्।
यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम्॥
एतान्यपि तु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा फलानि च।
कर्तव्यानीति मे पार्थ निश्चितं मतमुत्तमम्॥

(१८। ५-६)

'यज्ञ, दान और तपरूप कर्म त्याग करनेके योग्य नहीं है, बल्कि वह तो अवश्यकर्तव्य है; क्योंकि यज्ञ, दान और तप—ये तीनों ही कर्म बुद्धिमान् पुरुषोंको पवित्र करनेवाले है। इसलिये हे पार्थ! इन यज्ञ, दान और तपरूप कर्मोंको तथा और भी सम्पूर्ण कर्तव्य-कर्मोंको आसक्ति और फलोंका त्याग करके अवश्य करना चाहिये; यह मेरा निश्चय किया हुआ उत्तम मत है।'

यज्ञ, दान और तपमे जो स्थिति है, वह भी सत्य है। भगवान् कहते है—

यज्ञे तपसि दाने च स्थितिः सदिति चोच्यते।
कर्म चैव तदर्थीयं सदित्येवाभिधीयते॥

(गीता १७। २७)

'यज्ञ, तप और दानमे जो स्थिति है, वह भी 'सत्' इस प्रकार कही जाती है और उस परमात्माके लिये किया हुआ कर्म निश्चयपूर्वक सत्—ऐसे कहा जाता है।'

एवं जो भगवदर्थ कर्म है, वह तो परम सत् है। गीतामे कहा है—

मदर्थमपि कर्माणि कुर्वन् सिद्धिमवाप्स्यसि ।
(१२।१०)

'मेरे निमित्त कर्मोंको करता हुआ भी मेरी प्राप्तिरूप सिद्धिको ही प्राप्त होगा।'

भगवान् सत् है, उनके लिये किया हुआ कर्म भी सत् है। इसलिये हमारे कर्म भगवदर्थ होने चाहिये। यद्यपि यज्ञ, दान, तप—ये स्वरूपसे सात्त्विक है; किंतु उनके साथ तामसी भावोका सम्बन्ध होनेपर वे असत् हो जाते हैं। यदि दूसरोंका अनिष्ट करनेके लिये हम यज्ञ करते है, तप करते है, दान देते है, तो वह यज्ञ, दान, तप असत् है। स्वरूपसे सत् होते हुए भी भावके दूषित होनेसे असत् हो जाता है; क्योकि क्रियाकी अपेक्षा भाव उत्तम है। यज्ञ, दान, तप—ये सब स्वरूपसे सत् तो है ही, भगवदर्थ होनेसे ये भावसे भी सत् हो जाते है। अतः हमारे कर्म क्रियासे भी सत् होने चाहिये और भावसे भी सत् होने चाहिये; क्योकि इस प्रकार केवल सत्यकी शरणसे ही हमारा कल्याण हो सकता है।

बाहरकी क्रियासे हृदयके भाव श्रेष्ठ है; क्योंकि हृदयके जो साधुभाव, पवित्रभाव, श्रेष्ठभाव, समभाव, निष्कामभाव है—ये उच्च

कोटिके भाव है । इसलिये ये क्रियाकी अपेक्षा अधिक मूल्यवान् है; क्योंकि हमारे हृदयके उत्तम भावोंसे हमारे बाहरके कर्म स्वाभाविक ही पवित्र और सत्य हो जाते है । बाहरकी क्रिया सत् होकर भी भीतरका भाव असत् रह सकता है, किंतु आगे जाकर तो उसके प्रभावसे भीतरके भावोंकी भी शुद्धि हो सकती है; क्योंकि बतलाया गया है कि पवित्र भोजन करनेसे अन्त:करणकी शुद्धि होती है—'आहारशुद्धौ सत्त्वशुद्धिः छान्दोग्य ०७ । २६ । २ ।' इसलिये आहार-व्यवहार आदि बाहरकी शुद्धिसे भी भीतरकी शुद्धि होती है । अत: सत्कर्मोंसे सद्भाव पैदा होते है और जब सद्भाव हो जाता है, तब उससे तो फिर असत्कर्म होते ही नही । हृदयके सत् भावोंकी अपेक्षा भी जो भगवान्‌का स्वरूप है, वह परम सत्य, सबसे श्रेष्ठ और पवित्र है । उसकी तो बात ही क्या है ? जब भगवान्‌के स्वरूपमे हमारी निष्ठा हो जाती है, भगवान्‌के स्वरूपमे जब हमारा निश्चय अटल हो जाता है, हमारी बुद्धिमे जब इत्थम्भूत निश्चय होता है कि 'भगवान् है' तब फिर हम भारी संकट पड़नेपर भी विचलित नही हो सकते; क्योंकि भगवान्‌की सत्तामे इतना भारी बल है । इस स्थितिमे हमारे अंदर इतना आत्मबल आ जाता है कि कभी हमसे असद्व्यवहार नही हो सकता, हृदयमे असद्भाव नही आ सकता । इसलिये भगवान्‌के स्वरूपमे श्रद्धापूर्वक निष्ठा भी दृढ़ करनी चाहिये । निष्ठा होनेपर हमारी सारी क्रिया अपने आप शुद्ध, श्रेष्ठ और सत् होने लगेगी । भगवान् सदा-सर्वदा सब जगह मौजूद है—यही भगवान्‌की उच्चकोटिकी भक्ति है । यही भगवान्‌मे निष्ठा है । यह उच्चकोटिकी निष्ठा ही भगवान्‌को प्राप्त करा देती है ।

ये सब बाते सत्यके विषयमे कही गयी है । पाठकगण उचित

समझे तो इन्हे धारण कर सकते हैं । इनको धारण करनेसे निश्चय ही कल्याण हो सकता है । मैं धारण करूँ तो मेरा कल्याण हो सकता है और आप धारण करे तो आपका कल्याण हो सकता है; क्योंकि ये भगवान्‌के वचन है, मेरे वचन नही । मै तो केवल अनुवादमात्र कर देता हूँ । इनके पालनके लिये मै आपसे प्रतिज्ञा नहीं कराता, क्योंकि मेरा प्रतिज्ञा करानेका अधिकार नहीं है । यह दूसरी बात हैं कि आप इनको अच्छा समझें, ठीक समझें तो धारण कर सकते हैं, काममें ला सकते है । यदि आप इनको काममे लावे तो केवल इस उपर्युक्त सत्यको ही धारण करनेसे आपका कल्याण हो सकता है, इसमे कोई शङ्का नही है; क्योंकि भगवान् स्वयं कहते है, शास्त्र कहते है और महात्मा कहते है ।

इसलिये सत्यस्वरूप परमात्माको अपने हृदय और बुद्धिमें धारण करे । फिर आपका भाव और क्रियाएँ अपने-आप ही सत्य, श्रेष्ठ और शुद्ध हो जायँगी । यदि आप बाहरकी क्रियाका सुधार नहीं कर सकते तो कोई विशेष हर्जकी बात नही । आप भगवान्‌में निष्ठा रखिये, भगवान्‌मे विश्वास रखिये, भगवान्‌के ऊपर निर्भर हो जाइये, भगवान्‌की शरण हो जाइये । फिर इसके लिये आपको अलग कोई भी प्रयत्न नही करना पड़ेगा; सारे-के-सारे कर्म, सारे भाव भगवत्कृपासे अपने-आप ही शुद्ध हो जायँगे । जब आपके हृदयमें भगवान्‌की निष्ठा हो जायगी, आप श्रद्धापूर्वक भगवान्‌के अनन्य शरण हो जायँगे, तब स्वयं भगवान् अपने-आप ही आपको प्राप्त हो जायँगे ।
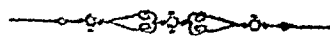
देशके कल्याणके लिये संस्कृत, आयुर्वेद, हिंदी तथा गीता-रामायणके प्रचारकी आवश्यकता

संस्कृत भाषा

वर्तमान परिस्थितिपर विचार करनेसे पता लगता है कि देशमें संस्कृत भाषाका दिनोदिन ह्रास होता जा रहा है। इसी क्रमसे ह्रास होता गया तो एक दिन हमारे देशसे संस्कृत भाषाका लुप्तप्राय-सा हो जाना भी कोई बड़ी बात नहीं है। पाण्डवोंके राज्यशासनके समय-तक तो इसका बहुत ही अधिक प्रचार था। नीति, धर्म और अध्यात्मविषयक सभी ग्रन्थ संस्कृत भाषामें ही थे और यही राजभाषा भी थी; क्योंकि राजनीतिक कार्य तथा दण्डविधान आदि सब मनु-स्मृति, याज्ञवल्क्यस्मृति आदि स्मृतियोंके आधारपर ही किये जाते थे। मिताक्षरा कानूनमें अब भी कुछ रूपमें इन्हीं स्मृतियोंके आधारपर दायभाग और दण्डविधान किया जाता है। नीति, धर्म और अध्यात्म-विषयक साहित्यको देखनेसे मालूम होता है कि संस्कृत भाषा सारे हिंदुस्थानमें व्यापकरूपसे प्रचलित थी, उसीके प्रतापसे हिंदुस्थानके सभी प्रान्तोंके कोने-कोनेमें अब भी संस्कृत भाषा मिलती है। भारत-वर्षमें कोई भी ऐसा प्रान्त और जिला नहीं, जहाँ संस्कृत भाषा न

पायी जाती हो। संस्कृतको जाननेवाला कोई भी पण्डित कहीं भी चला जाय, उसे संस्कृतमे बात करनेवाला कोई-न-कोई मिल ही जाता है एवं हिंदुस्थानके किसी भी प्रान्तमे चले जाइये—श्रुति, स्मृति, इतिहास और पुराण एक ही मिलेगे, कहीं विशेप भेद नही मिलेगा। इससे हमारी संस्कृत भाषा और धार्मिक ग्रन्थोकी अनादिता, उपादेयता और व्यापकता सिद्ध होती है। इस संस्कृत भाषाके पूर्वकी कोई अन्य भाषा, श्रुति, स्मृति, इतिहास, पुराणके पहलेका कोई भी धार्मिक ग्रन्थ और संस्कृत वर्णमालाके पूर्वकी कोई अन्य वर्णमाला देखने-सुननेमे नहीं आती; इससे भी इनकी अनादिता सिद्ध होती है। बौद्धयुगमे धार्मिक विरोधके नाते संस्कृतपर प्रहार हुए; फिर भी सम्राट् विक्रमादित्य और राजा भोजके समयमे संस्कृतका बड़ा अच्छा प्रचार रहा। उसके बाद भी कुछ संस्कृत-प्रसार रहा, किंतु फिर मुसलमानी शासनमे संस्कृतके नाशकी काफी चेष्टा हुई।

सुना जाता है कि वेदोंकी कुल ११३१ शाखाएँ थीं, जिनमें अब केवल लगभग १२ मिलती है। सामवेदकी १००० शाखाओमे केवल ३ मिलती है। यही दशा वेदके ब्राह्मण, आरण्यक, कल्पसूत्रादिकी तथा वेदाङ्ग एवं अन्यान्य धर्मग्रन्थोकी है। इन सब वैदिक शाखाओ तथा अन्यान्य धर्मग्रन्थोका इतना नाश कैसे हुआ ? इसपर नि.संदेह यह कहा जा सकता है कि वैदिक धर्मके विरोधियो तथा विदेशी अत्याचारियोके द्वारा ही हमारी यह सारी अमूल्य ग्रन्थसम्पत्ति नष्ट कर दी गयी। कहा जाता है कि उज्जैनके राजा मतादित्यने हजारो ब्राह्मणोकी तमाम पुस्तकोको जलवा दिया था। बौद्धोके द्वारा

'सह्याद्रिखण्ड' (पुस्तकालय) का नाश किया जाना प्रसिद्ध है। मुसलमानोंने अलेक्जेंड्रियाके पुस्तकालयको जला दिया था। महमूद और नादिरशाहने भी संस्कृतके अगणित धर्मग्रन्थोंका नाश किया। कुछ मुसलमान बादशाहोंने तो संस्कृतकी पुस्तकोंको 'हमाम' गरम करनेके लिये जलाया था। इस प्रकार हमारा यह अमूल्य ज्ञानकोष ध्वंस कर दिया गया। यों पहले तो इसका अत्याचारियोंने नाश किया, पर उसमें तो हम निरुपाय थे; किंतु बड़े खेदकी बात है कि अब बचे-खुचेका हम अपनी अवहेलना तथा मूर्खतासे नाश कर रहे हैं!

किंतु इसको बचाना हमारा परम कर्तव्य है। संस्कृत भाषाके बचनेसे ही धर्म भी बचेगा; क्योंकि हमारे जितने भी मूल धार्मिक ग्रन्थ है, उनका आधार संस्कृत भाषा ही है और यह संस्कृत भाषा कितनी प्राञ्जल और मधुर है, इसका तत्त्व इस अमृतमय भाषाका आस्वादन करनेवाले विद्वान् ही जानते है। संस्कृतका व्याकरण भी अलौकिक है। वैसा सर्वाङ्गपूर्ण व्याकरण जगत्की किसी भी भाषाका देखनेमें नही आता।

इस प्रकारके संस्कृत भाषारूपी अलौकिक रत्नका यदि हमारे भारतवर्षमे अभाव हो जायगा तो फिर पुनः इसका प्रादुर्भाव होना बहुत कठिन होगा। अतः हम सरकारसे और देशवासियोसे प्रार्थना करते है कि जिस प्रकार यह संस्कृत भाषा जीवित रहे, इसका उत्तरोत्तर अधिक प्रचार हो और यह सर्वाङ्गीण समृद्धिको प्राप्त हो, इसके लिये सभीको शक्ति-अनुसार प्रयत्न करना चाहिये।

आयुर्वेद-विज्ञान

इसी प्रकार आयुर्वेद-विज्ञानका भी बड़ी तेजीसे अभाव होता जा

रहा है । आयुर्वेदीय चिकित्सा, निदान और ओषधियोंके नाम, रूप, स्वभाव, गुण और उनके निर्माणका जो महान् ज्ञान त्रिकालज्ञ ऋषियों-को था, वह क्रमशः लुप्त होता ही चला गया । इस समय हमारे अनुमानसे वह प्रायः नब्बे प्रतिशत लुप्त हो चुका है और जो बचा-खुचा है, उसका भी दिन-पर-दिन ह्रास होता जा रहा है । आस्थावान् विद्वान् वैद्य उठते चले जा रहे हैं । जो हैं, उनकी इसके प्रति अनास्था बढ़ रही है । इसीका परिणाम है कि आज देशके बड़े-बड़े वैद्य भी प्रायः अपने बच्चोंको डाक्टरी पढ़ाते हैं और स्वयं भी डाक्टरी दवाओं-का व्यवहार करते हैं । यह निश्चित है कि भारतवासियोंके लिये भारतवर्षकी आयुर्वेदोक्त देशी ओषधियाँ जितनी लाभप्रद हो सकती हैं, उतनी विदेशी ओषधि नहीं । कहा भी है—

'यस्य देशस्य यो जन्तुस्तज्जं तस्यौषधं हितम् ।'

'जो जिस देशका प्राणी है, उसके लिये उसी देशसे उत्पन्न ओषधि हितकारी है ।'

इस देशमें आयुर्वेद-विज्ञान एक दिन कितना उन्नत था, इसका पता महाभारतकी इस कथासे लगता है—महाभारतके आदिपर्वमें कथा आती है कि काश्यप नामके एक श्रेष्ठ ब्राह्मण थे । वे मृत व्यक्तिको भी ओषधियोंसे जीवित करनेकी शक्ति रखते थे । उन्हे जब पता लगा कि राजा परीक्षित्‌को तक्षक नाग डँसनेवाला है, तब वे परीक्षित्‌के पास जानेके लिये घरसे चले । रास्तेमे उन्हे तक्षकसे भेंट हो गयी । मानवरूपधारी तक्षकके पूछनेपर काश्यपने अपने वहाँ जाने-का यह हेतु बतलाया कि 'राजा परीक्षित्‌को तक्षक काटेगा, तो मै

उन्हे अपनी ओषधिसे जिला दूँगा ।' यह सुनकर तक्षकने कहा, 'मै ही तक्षक हूँ । मेरे काटे हुएकी तुम चिकित्सा नही कर सकते ।' काश्यपने कहा, 'मै तुम्हारे डँसे हुएको जिला दूँगा ।' इसपर तक्षक बोला—'मै इस वृक्षको डँसकर भस्म करता हूँ, तुम इसे जिला दो ।' तक्षकके काटते ही वृक्ष जलकर भस्म हो गया । तब काश्यपने मन्त्र और ओषधियोके बलसे पुनः उसे जीवित करके तुरंत हरा-भरा कर दिया । तक्षकने अपने मानकी रक्षाके लिये काश्यप ब्राह्मणको बहुत-सा धन देकर उसे वहींसे लौटा दिया ।

इससे हमे यह ज्ञात होता है कि हमारे यहाँ आयुर्वेदने कितनी अद्भुत उन्नति की थी कि जिसके द्वारा मृत मनुष्य ही नहीं, समूल जले हुए वृक्षको भी हरा-भरा किया जा सकता था । ऐसी आदरणीय विद्याका शनैः-शनैः लोप हुआ और होता जा रहा है । यह कितने परितापका विषय है ! अब भी यह विज्ञान जिस रूपमे वर्तमान है, यदि सरकार तथा देशवासी और निष्ठावान् सद्वैद्य ध्यान देकर इसके रक्षण, अन्वेषण और संवर्द्धनका प्रयत्न करे, तो इसमे इतने महान् गुण छिपे है कि उनके प्रकट होनेपर जगत् चकित हो सकता है; परंतु इसके लिये सबके सम्मिलित प्रयत्नकी आवश्यकता है । हम सरकारसे, देशवासियोसे और वैद्य महोदयोसे विनयपूर्वक प्रार्थना करते है कि वे इस ओर ध्यान दें और आयुर्वेदकी रक्षा तथा उन्नति करके अपने कर्तव्यका पालन करे ।

डाक्टरी दवाओमे प्रायः मांस, मज्जा, चर्बी, ग्रन्थियाँ, मदिरा आदि अपवित्र घृणित पदार्थोंका भी प्रयोग किया जाता है, जो सब

प्रकारसे अपवित्र, हिंसापूर्ण अतएव अवाञ्छनीय है। देशवासियोंको चाहिये कि विदेशी डाक्टरी दवाइयोंको कतई काममे न लेकर चरक, सुश्रुत, वाग्भट्ट आदिद्वारा रचित आयुर्वेदीय शास्त्रोमे बतलायी हुई वनस्पति, धातु और रस आदि पवित्र दवाओंके सेवनका ही दृढ़ नियम ले ले। यदि किसीसे सर्वथा ऐसा न हो सके तो कम-से-कम यह तो निश्चय करे कि जहाँतक हो डाक्टरी दवा काममे न लेकर देशी आयुर्वेदीय दवाके प्रयोगकी ही विशेषरूपसे चेष्टा रक्खेगे। इन ग्रन्थों और ओषधियों-के निर्माणकर्ता ऋषि त्रिकालज्ञ और अनुभवी थे, उनका अनुभव और ज्ञान अलौकिक था। ऐसा अनुभव वर्तमान युगके मनुष्योंमे सम्भव नहीं है। हमे उन ऋषियोके अनुभव और ज्ञानका सम्मान करके उससे लाभ उठाना चाहिये।

हिंदुस्थान और हिंदी भाषा

हमारे इस भारतवर्षका नाम पहले 'आर्यावर्त' था, जिसे वर्तमान-में हम हिंदुस्थान कहते है। मुसलमान भाई 'हिंदू' शब्दका आक्षेपसे काफिरके अर्थमे प्रयोग करते है, किंतु हमारे लिये 'हिंदू' शब्द पवित्र और गौरवकी वस्तु है। हमारे इस देशका नाम हिंदुस्थान क्यों पड़ा? हिमालयका 'हि' और 'बिंदु' का 'न्दु'—इस प्रकार इन दोनोके आदि और अन्तके दो शब्दोंको लेकर 'हिंदु' शब्द बना है। हिमालयसे तात्पर्य है—उत्तरमें स्थित सबसे ऊँचा गौरीशङ्कर पहाड़ (हिमगिरि) और बिंदुसे अभिप्राय है—पूर्व और पश्चिमसहित दक्षिण समुद्र। अथवा यों समझे कि हिमालयका 'हि' और सिन्धु (समुद्र) का 'इन्धु' लेकर 'हिन्धु' शब्द बना है; उसीका अपभ्रंश 'हिंदू' शब्द है। हिमालयसे लेकर दक्षिण समुद्रतकके बीचका जो देश है,

उसका नाम है—'हिंदुस्थान' और जो उसमे बसते है, उनकी जाति है 'हिंदू' तथा उनकी भाषा है 'हिंदी'। उनका जो धर्म है, वही 'हिंदूधर्म' कहलाता है और उनके चाल-चलन, आहार-व्यवहार तथा वेश-भूषाको कहते है—'हिंदू-संस्कृति'। इन सबकी रक्षासे ही हिंदू-जाति और हिंदूधर्मकी रक्षा हो सकती है।

अतः हिंदुस्थानमें निवास करनेवाले भाइयोंको अपनी रक्षाके लिये अपने हिंदुस्थानकी भाषा, वेश-भूषा, खान-पान और चाल-चलनको ही अपनाये रहना चाहिये, विदेशी प्रभावमे आकर इन्हे कभी नही बदलना चाहिये। जो जाति अपनी संस्कृतिको छोड़कर दूसरी जातिकी संस्कृतिको अपना लेती है, वह नष्ट हो जाती है।

हमारी प्राचीन भाषा है संस्कृत और वर्तमान भाषा है हिंदी तथा हमारी लिपि देवनागरी है। हमारी प्राचीन भाषा संस्कृत यदि राष्ट्र-भाषा न हो सके तो हिंदी भाषा तो राष्ट्रभाषा अवश्य होनी ही चाहिये तथा हर तरह हमे हिंदीकी उन्नति करनी चाहिये। श्रुति-स्मृति-इतिहास-पुराणोक्त जो अनादिकालसे चला आनेवाला सनातन धर्म है, वही हमारी आर्यजाति हिंदुस्थानियोका सनातन हिंदूधर्म है। प्रत्येक हिंदुस्थानी भाईको ऐसी चेष्टा करनी चाहिये कि जिससे कम-से-कम अपने देश हिंदुस्थानमे तो हमारा हिंदूधर्म, हिंदूजाति, हिंदी-भाषा और हिंदू-संस्कृति कायम रहे।

गीता-रामायणका प्रचार

संस्कृतमे श्रीमद्भगवद्गीता और हिंदीमे गोस्वामी श्रीतुलसीदास-कृत रामचरितमानस—ये दोनों उत्तम शिक्षा देनेवाले सर्वश्रेष्ठ ग्रन्थ है। इनके अनुसार आचरण करनेपर मनुष्यका जीवन उच्चकोटिका हो

जाता है। इन दोनों ग्रन्थोकी महात्मा गाँधीजीने भी बहुत प्रशंसा की है। इनको सारे संसारके लिये उपयोगी कहें तो भी अत्युक्ति न होगी। इनकी शैली बड़ी ही सुन्दर है। इनमें श्लोक, छन्द, चौपाई, दोहे आदि काव्यकी दृष्टिसे भी अत्यन्त रसयुक्त, मधुर, सुन्दर और विशुद्ध है। अतएव इन दोनो ग्रन्थोंका सार्वजनिक प्रचार होना बहुत ही आवश्यक है। श्रीमद्भगवद्गीतापर जितनी टीकाएँ, भाष्य और अनुवाद मिलते है, उतने किसी भी संस्कृत या हिंदीके अन्य ग्रन्थपर नही मिलते। इससे सिद्ध होता है कि यह बहुत उच्चकोटिका ग्रन्थ है और सभी सम्प्रदायवालोने इसको अपनाया है तथा भारतवर्षके सभी प्रान्तों-मे इसका सम्मान है। इसी प्रकार विदेशोंमे भी इसका बड़ा आदर है। रामचरितमानसका हिंदी वाङ्मयमे सबसे बढ़कर स्थान है, भारत-के सभी प्रान्तोमें इसका समादर है। विदेशोमे भी लोग इसे मानते है। अभी रूसी भाषामें इसका अनुवाद हुआ है। गीताप्रेस, गोरख-पुरमे भी श्रीमद्भगवद्गीता और श्रीरामचरितमानसके प्रकाशनको प्रथम स्थान दिया गया है। दोनों ग्रन्थ प्रचुर संख्यामे और सस्ते मूल्यमें दिये जाते है।

गीता-रामायण-परीक्षा-समितिके नामसे एक अलग समिति चल रही है, जिसका उद्देश्य है कि गीता और रामायणका बालकोंको विशेष ज्ञान हो। इसके लिये अलग-अलग परीक्षाएँ रक्खी गयी है। सैकड़ों स्कूल-कालेजो तथा पाठशालाओमे इनकी परीक्षाएँ होती है, जिनमे कई जगह तो इनका अध्ययन करना अनिवार्य है। जो सज्जन इन परीक्षाओके सम्बन्धमे विशेष जानना चाहे, वे 'गीता-रामायण-परीक्षा-समिति'की नियमावली ऋषिकेशसे मँगाकर जान सकते है।

जिन भाइयोंने पाठशालाएँ, हाई-स्कूल और कालेज खोल रक्खे है या जो उनमे सहायता देते है, उनसे तथा सरकारसे हमारी यह प्रार्थना है कि वे अपनी संस्थाओमे गीताप्रेस, गोरखपुरसे प्रचारित गीता-रामायणकी परीक्षाएँ रक्खे, जिससे बालक इनके लाभसे वञ्चित न रहे।

इसी प्रकार मनुष्यमात्रके लाभके लिये एक विभाग और है, जिसका नाम 'गीता-रामायण-प्रचार-संघ' है। इसमें गीता-विभागमें पाँच प्रकारके और श्रीरामायण-विभागमें तीन प्रकारके सदस्य बनाये जाते है। प्रत्येक वर्ण, जाति और आश्रमके नर-नारी, बालक, युवा, वृद्ध—सभी इसके सदस्य बन सकते है। सदस्योसे कोई शुल्क नही लिया जाता। प्रेमपूर्वक गीता और रामायणका पारायण और अध्ययन ही इसकी सदस्यताका मूल्य है। अबतक २५००० के लगभग सदस्य बन चुके है और बन रहे है। सदस्योंके प्रकार नीचे दिये जाते है, पाठकोको उन्हे पढ़कर तथा समझकर उनका घर-घर प्रचार करना चाहिये।

श्रीगीता-विभागमे सम्मिलित होनेवाले सदस्योंके निम्न पाँच प्रकार है—

(१) जो प्रतिदिन सम्पूर्ण गीताका (१८ अध्यायोंका) अर्थपर लक्ष्य रखते हुए प्रेमसहित एक पाठ करे।

(२) जो प्रतिदिन गीताके ९ अध्यायोंका अर्थपर लक्ष्य रखते हुए प्रेमपूर्वक पाठ करे।

(३) जो प्रतिदिन गीताके ६ अध्यायोका अर्थपर लक्ष्य रखते हुए प्रेमपूर्वक पाठ करे।

(४) जो पन्द्रह दिनोमे सम्पूर्ण गीताका प्रेमपूर्वक अर्थसहित एक पाठ करे। इस प्रकार वर्षभरमे २४ पाठ अर्थसहित करें।

(५) गीताके अनुसार जीवन बनानेके लिये गीता-तत्त्वविवेचनी टीकाका प्रतिदिन कम-से-कम एक घंटा या दो श्लोकोंका गम्भीरता-पूर्वक विचार करे । (पाँचवें प्रकारके सदस्य उन्हीं लोगोंको बनना चाहिये जिनका गीतापर अध्ययन हो और जो गम्भीरताके साथ उसके अर्थपर विचार कर सकते हों ।)

गीताका पाठ करनेवाले प्रत्येक सज्जनसे यह निवेदन है कि यदि हो सके तो प्रतिदिन 'गीताप्रेससे प्रकाशित गीता-तत्त्वविवेचनी' टीका-मेंसे गीताके दो श्लोकोंका भावसहित प्रेमपूर्वक पठन और मनन करें ।

श्रीरामायण-विभागमें सम्मिलित होनेवाले सदस्योंके निम्न तीन प्रकार हैं—

(१) जो प्रतिदिन नवाह्न-पारायणकी रीतिसे श्रीरामचरित-मानसका अर्थपर लक्ष्य रखते हुए प्रेमपूर्वक पाठ करें ।

(२) जो प्रतिदिन मासपारायणकी रीतिसे अर्थपर लक्ष्य रखते हुए प्रेमपूर्वक पाठ करें ।

(३) जो प्रतिदिन कम-से-कम सात दोहोंका (चौपाई-छन्द आदिसहित) प्रेमपूर्वक अर्थसहित पाठ करें । इस प्रकार सालभरमें सम्पूर्ण रामायणके अर्थसहित कम-से-कम दो पाठ कर लें ।

जो सज्जन उपर्युक्त दोनों विभागों या किसी एक विभागके अन्तर्गत सदस्य बनना चाहें, वे गोरखपुर 'गीता-रामायण-प्रचार-संघ' 'पो० गीताप्रेसके नामसे पत्र देकर आवेदन-पत्र मँगा लें ।

इनमें जो अर्थसहित गीता-रामायणका पाठ है, उससे बहुत अधिक

लाभ होता है। एक भाई जो नित्यप्रति गीताके अठारहो अध्यायोके केवल श्लोकोंका ही पाठ करता है, उससे वह श्रेष्ठ है जो अर्थ और भावसहित केवल एक अध्यायका ही नित्य पाठ करता है और वह तो सबसे श्रेष्ठ है, जो कम-से-कम किसी एक श्लोकके अर्थ और भाव-को समझकर उसके अनुसार भक्ति, ज्ञान, वैराग्य और सदाचारयुक्त अपना जीवन बनाता है।

इसी प्रकार सम्पूर्ण रामायणका मूल पाठ करनेवालेकी अपेक्षा जो अर्थ और भाव समझकर मूल पाठ करता है या भाव समझकर अर्थ-सहित पाठ करता है, वह बहुत उत्तम दर्जेका है और उससे भी श्रेष्ठ वह है, जो रामायणका अर्थ और भाव समझकर यथाशक्ति उसके अनुसार अपना जीवन बनाता है।

अतः हमारी सभी पाठक-पाठिकाओसे यह प्रार्थना है कि गीता और रामायणके पाठ करनेका नियम यथाशक्ति लेना चाहिये तथा उसके अर्थ और भावको समझकर उसके अनुसार जीवन बनानेकी विशेष चेष्टा करनी चाहिये।

उपर्युक्त गीता और रामायण दोनो ही अध्यात्मदृष्टिसे तो बहुत लाभकी वस्तु है ही, साथ-ही-साथ संस्कृत और हिंदीके ज्ञानकी दृष्टिसे तथा बौद्धिक, नैतिक, सामाजिक और व्यावहारिक लाभकी दृष्टिसे भी बहुत उपयोगी है। अतः सरकारसे तथा भारतवासी भाइयोसे हमारी प्रार्थना है कि साम्प्रदायिक दृष्टिको छोड़कर सभीके बौद्धिक, नैतिक, सामाजिक तथा व्यावहारिक लाभकी दृष्टिसे इनका प्रचार करे।

सभी वर्णाश्रमोंमें मुक्ति

कई सज्जन कहते है कि मुक्ति संन्यास-आश्रममे ही होती है, गृहस्थमे नही; किंतु उनका यह कहना कहाँतक उचित है—समझमे नही आता; क्योकि श्रुति-स्मृति, इतिहास-पुराणोंको देखनेसे माळूम होता है कि सभी वर्ण और आश्रमोंमे मुक्ति होती है। मुक्तिमे वर्ण, आश्रम और जातिकी प्रधानता नहीं; सद्गुण, सदाचार, ईश्वरभक्ति और ज्ञानकी ही प्रधानता है; और यह बात शास्त्रसंगत एवं युक्तियुक्त है।

यदि कहे कि मुक्ति तो ज्ञानसे ही होती है—'ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः'—इस सिद्धान्तके अनुसार निष्कामकर्म और ईश्वरभक्ति आदि साधनोसे मुक्ति नहीं होती तो यह कहना उचित नहीं; क्योंकि जिस परमात्माके ज्ञानसे मुक्ति बतलायी गयी है, वह ज्ञान निष्कामकर्म करनेसे अन्तःकरण शुद्ध होनेपर अपने-आप ही हो जाता है।

गीतामे भगवान्‌ने कहा है—

न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते।
तत्स्वयं योगसंसिद्धः कालेनात्मनि विन्दति॥
(४। ३८)

'इस संसारमे ज्ञानके समान पवित्र करनेवाला निःसन्देह कुछ भी नहीं है। उस ज्ञानको कितने ही कालसे कर्मयोगके द्वारा शुद्धान्तःकरण हुआ मनुष्य अपने-आप ही आत्मामे पा लेता है।'

इसके सिवा, गीतामे जगह-जगह निष्कामकर्मसे मुक्ति बतलायी है (जैसे–२ । ५१; ३ । १९; ५ । ११-१२ आदि-आदि)।

जब निष्कामकर्मसे ही अन्तःकरण शुद्ध होकर अपने-आप ही ज्ञान होकर मुक्ति हो जाती है, तब ईश्वरकी भक्तिसे ज्ञानकी प्राप्ति होकर मुक्ति हो जाय, इसमे तो कहना ही क्या है। श्रीमद्भगवद्गीतामे स्वयं भगवान्‌ने कहा है—

तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते॥
तेषामेवानुकम्पार्थमहमज्ञानजं तमः।
नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता॥

(१० । १०-११)

'उन निरन्तर मेरे ध्यान आदिमे लगे हुए और प्रेमपूर्वक भजनेवाले भक्तोंको मै वह तत्त्वज्ञानरूप योग देता हूँ, जिससे वे मुझको ही प्राप्त होते है। हे अर्जुन! उनके ऊपर अनुग्रह करनेके लिये उनके अन्तःकरणमे स्थित हुआ मैं स्वयं ही उनके अज्ञान-जनित अन्धकारको प्रकाशमय तत्त्वज्ञानरूप दीपकके द्वारा नष्ट कर देता हूँ।'

तथा श्रीभगवान्‌ने नवे अध्यायके बत्तीसवे श्लोकमे कहा है—

मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः।
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम्॥

'हे अर्जुन ! स्त्री, वैश्य, शूद्र तथा पापयोनि—चाण्डालादि जो कोई भी हों, वे भी मेरे शरण होकर परम गतिको ही प्राप्त होते हैं ।'

ईश्वरकी भक्तिसे जब स्त्री, वैश्य, शूद्र और पापयोनि आदितककी परम गति बतलायी है, तब फिर यह कहना बन ही कैसे सकता है कि गृहस्थाश्रममें मुक्ति नहीं होती ? ईश्वरके भक्तोंकी शरण लेनेसे भी जातिसे नीच मनुष्योंतकके कल्याणकी बात श्रीमद्भागवतमें आती है—

किरातहूणान्ध्रपुलिन्दपुल्कसा
आभीरकङ्का यवनाः खसादयः ।
येऽन्ये च पापा यदुपाश्रयाश्रयाः
शुद्ध्यन्ति तस्मै प्रभविष्णवे नमः ॥
(श्रीमद्भा० २ । ४ । १८)

'जिनके आश्रित भक्तोका आश्रय लेकर किरात, हूण, आन्ध्र, पुलिन्द, पुल्कस, आभीर, कङ्क, यवन और खस आदि अधम जातिके लोग तथा इनके सिवा और भी बड़े-से-बडे पापी मनुष्य शुद्ध हो जाते है, उन जगत्प्रभु भगवान् विष्णुको नमस्कार है ।'

—फिर भगवान्की शरण लेनेसे उद्धार हो जाय इसमे तो कहना ही क्या है (देखिये गीता १८ । ६२)!

शास्त्रोंमे सभी वर्णों और सभी आश्रमोंमे भक्ति, ज्ञान और निष्कामभाव आदि सभी साधनोंसे मुक्ति बतलायी है और इसके अनेको उदाहरण भी वेद-पुराण और इतिहासमे मिलते हैं ।

छान्दोग्योपनिषद्मे बतलाया है कि उद्दालक मुनिने अपने

पुत्र श्वेतकेतुके प्रति ज्ञानका उपदेश देकर उसका उद्धार कर दिया। जबालाके पुत्र सत्यकामको गुरुकी आज्ञा पालन करनेसे ब्रह्मचर्याश्रममे रहते हुए ही ब्रह्मज्ञान होकर ब्रह्मकी प्राप्ति हो गयी एवं सत्यकामके शिष्य उपकोशलने भी ब्रह्मचर्याश्रममें ही गुरुकी सेवासे ब्रह्मको प्राप्त कर लिया। इसी प्रकार राजर्षि अश्वपति और राजा जनक स्वयं तो मुक्त थे ही, उनके पास बड़े-बड़े ऋषि-मुनि भी ज्ञान लेने जाते और मुक्ति प्राप्त किया करते थे। राजा अश्वपतिके पास जाकर प्राचीनशाल आदि ऋषियोने ज्ञान प्राप्त किया और वे मुक्त हो गये।

याज्ञवल्क्य ऋषिसे उनकी पत्नी मैत्रेयीने ज्ञान प्राप्त किया। वचक्नुकी पुत्री गार्गी स्वयं ही जीवन्मुक्त थीं, जिन्होंने राजा जनककी सभामे ब्रह्मवेत्ताओंके प्रसंगमे याज्ञवल्क्यसे प्रश्न किये थे। इनकी कथा बृहदारण्यकोपनिषद्मे देखनी चाहिये।

यमराजसे उपदेश प्राप्त करके नचिकेताके जीवन्मुक्त होनेकी बात कठोपनिषद्मे आती ही है।

माता-पिताकी सेवासे मूक चाण्डाल, पातिव्रत्यके पालनसे शुभा नामकी स्त्री, न्याययुक्त सत्यतापूर्वक क्रय-विक्रयसे तुलाधार वैश्य, उत्तम गुणोसे सज्जन अद्रोहक एवं भगवद्भक्तिसे वैष्णव परमात्माको प्राप्त हो गये। इनका आख्यान पद्मपुराणके सृष्टिखण्डमे बड़े ही विस्तारसे आता है, वह देखने योग्य है।

राजा चोल तथा ब्राह्मण विष्णुदास भी ईश्वरकी भक्तिसे परमपदको प्राप्त हो गये, यह कथा पद्मपुराणके पातालखण्डमें आती

है। राजा अम्बरीष और भीष्मपितामहको भगवद्भक्तिके प्रभावसे भगवान्‌की प्राप्ति होनेका उल्लेख श्रीमद्भागवतमे आता है तथा भक्त अर्जुन और द्रौपदीको परमपद-प्राप्तिका वर्णन महाभारतके स्वर्गारोहणपर्वमे है। मार्कण्डेयपुराणमे भगवतीकी उपासनासे समाधि वैश्यकी परमपद-प्राप्तिकी कथा है। लोमहर्षण, उग्रश्रवा, संजय और दासीपुत्र विदुर, जिनकी कथा महाभारतमें आती है, भगवान्‌की भक्तिसे भगवान्‌को प्राप्त हो गये। शबरी भीलनीने भी भगवान्‌की भक्ति करके भगवत्प्राप्ति कर ली, जिसकी कथा वाल्मीकीय रामायणके अरण्यकाण्डमे मिलती है।

इस प्रकार सभी वर्ण और सभी आश्रमोमे अनेक स्त्री-पुरुषोंको कर्म, उपासना तथा योग आदि साधनोंसे परमात्माकी प्राप्ति होनेका उल्लेख शास्त्रोमे जगह-जगह पाया जाता है, कहाँतक दिखलावें।

उपर्युक्त उदाहरणोमे अधिकांश गृहस्थाश्रमी है। फिर वानप्रस्थी और संन्यासियोंका कल्याण हो जाय, इसमें तो कहना ही क्या है! अन्य सभी आश्रमियोका भरण-पोषण गृहस्थाश्रमसे ही होता है, इसलिये पुराणोमे कही-कहीं तो गृहस्थाश्रमको अन्य आश्रमोंसे श्रेष्ठ भी बतलाया है। अतः जो नर-नारी गृहस्थाश्रममें रहकर अपने वर्णधर्मका निष्कामभावसे पालन करते हुए ईश्वरकी अनन्यभक्ति करते है, उनकी मुक्तिमे कोई संदेह नहीं है। श्रीस्कन्दपुराणके माहेश्वरखण्डमे महात्मा नन्दभद्र वैश्यकी बड़ी ही महत्त्वपूर्ण कथा है, जिनमे अपने वर्णधर्मका निष्कामभावसे आचरण

करना, सम्पूर्ण धर्मोंके वास्तविक सारतत्त्वको समझकर सबको आदर देना एवं साथ ही भगवान् सदाशिवकी अनन्य भक्ति करना—ये तीनों विशेषताएँ विद्यमान थीं। उनका विस्तृत आख्यान स्कन्दपुराणके माहेश्वरखण्डान्तर्गत कुमारिकाखण्डके ४०-४१वें अध्यायोंमें देखने योग्य है। यहाँ पाठकोंकी जानकारीके लिये उसका संक्षेपसे कुछ दिग्दर्शन कराया जाता है।

नन्दभद्र नामक एक वैश्य थे। वे साक्षात् धर्मराजकी भाँति समस्त धर्मोंके तत्त्व-रहस्यको जाननेवाले थे। वे सबके सुहृद् थे और सदा सभीके हितसाधनमें संलग्न रहते थे। उन्होने मन, वाणी और क्रियाद्वारा इस परोपकार-धर्मका ही आश्रय ले रक्खा था। नन्दभद्रने इस विशाल धर्मसमुद्रका सब ओरसे मन्थन करके सारतत्त्व ग्रहण किया था।

वे जीविकाके लिये न्याययुक्त वाणिज्यको श्रेष्ठ मानते थे और उसीको अपनाये हुए थे। उन्होने थोड़ेसे काठ और घास-फूससे अपने रहनेके लिये घर बना रक्खा था और सब लोगोंकी भलाईके लिये तथा शरीरनिर्वाहके लिये वे कम मुनाफा लेकर व्यापार करते थे। उनके क्रय-विक्रयकी वस्तुओंमे मदिरा सर्वथा वर्जित थी। उनके यहाँ ग्राहकोंके साथ भेदभाव न करके समताका व्यवहार किया जाता था। झूठ और कपटका तो वहाँ नाम भी न था। वस्तुओंके आदान-प्रदानमें वे सबके साथ समतापूर्ण बर्ताव करते थे। बिना छल-कपटके दूसरोंसे खरीदकी वस्तु लेकर उसे बिना किसी धोखाधड़ीके वे सब लोगोको समानभावसे बेचते थे; यही उनका श्रेष्ठ व्रत था।

कुछ लोग यज्ञकी प्रशंसा करते हैं, परंतु नन्दभद्र सर्वथा ऐसा नहीं मानते थे। वे श्रद्धापूर्वक देवपूजन, नमस्कार, स्तुति, नैवेद्य-निवेदन आदि यज्ञकी सारभूत बातोंका सदा ही पालन करते थे। कोई-कोई संन्यासकी प्रशंसा करते है; परंतु नन्दभद्र उनसे भी सर्वथा सहमत नहीं थे। उनका कहना था कि जो विषयोंका बाहरसे त्याग करके मनसे उनका चिन्तन करता है, वह पुरुष गृहस्थ और संन्याससे अथवा इहलोक और परलोक—दोनों ओरसे भ्रष्ट होकर फटे हुए बादलकी भाँति नष्ट हो जाता है। संन्यासका जो सारभूत उत्तम तत्त्व है, उसका आदर तो नन्दभद्र भी करते थे।

वे किसीके कर्मोंकी निन्दा या प्रशंसा नहीं करते थे। किसीके साथ न उनका द्वेष था, न राग; न अनुरोध था, न विरोध। पत्थर और सुवर्णको वे समान समझते तथा अपनी निन्दा और स्तुतिमें भी समान भाव रखते थे। वे स्वभावसे ही धीर थे। सम्पूर्ण भूतोंसे निर्भय रहते थे। अपनी आकृति ऐसी बनायी रखते थे, मानो अंधे और बहरे हों; अर्थात् वे दूसरोंके दोषोंको न देखते और न सुनते। कर्मोंके फलकी उन्हें कोई आकाङ्क्षा नहीं थी। अतः प्रत्येक कर्म उनके लिये भगवान् सदाशिवकी आराधनाका अङ्ग बन जाता था। इसी कारण वे धर्मका अनुष्ठान तो चाहते और करते थे, परंतु उसमें कोई स्वार्थ नहीं रखते थे। नन्दभद्रने भलीभाँति विचार करके इस मोक्षप्राप्तिके साररूप धर्मको ग्रहण किया था।

कुछ लोग खेतीकी प्रशंसा करते है; परंतु नन्दभद्रने उसके भी सारभागको ही अपनाया था। खेतीकी आयमेसे तीसवें भागका त्याग करना चाहिये—उसे धर्मके कार्यमे लगा देना चाहिये। बूढ़े

पशुओंका भी स्वयं ही पालन-पोषण करना चाहिये। जो ऐसा करे, वही श्रेष्ठ किसान है। नन्दभद्रने इसीको खेतीका सार मानकर इसका आदर किया था।

प्रतिदिन अपनी शक्तिके अनुसार देवताओं, पितरों, मनुष्यों (अतिथियों), ब्राह्मणों तथा पशु-पक्षी, कीट-पतंगादि भूतोंके लिये अन्न देना चाहिये। सदा इन सबको देकर ही स्वयं भोजन करना उचित है। यह उनका मत था।*

कुछ लोग ऐश्वर्यकी प्रशंसा करते हैं, परंतु नन्दभद्र उसे प्रशंसाके योग्य नहीं मानते थे; क्योंकि ऐश्वर्यशाली पुरुष अपनेको चिरस्थायी समझकर दूसरोंके साथ दुर्व्यवहार करते है। वास्तवमें जो धनके मदसे उन्मत्त होता है, वह पतित होकर विवेक खो बैठता है। अतः सम्पूर्ण प्राणियोंको अपनी ही आत्मा मानकर उनके प्रति अपने ही-जैसा बर्ताव करना चाहिये।†

---

* गीतामे भी भगवान्‌ने ऐसा ही कहा है—

यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्बिषैः।
भुञ्जते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात्॥
(३।१३)

'यज्ञसे बचे हुए अन्नको खानेवाले श्रेष्ठ पुरुष सब पापोंसे मुक्त हो जाते हैं और जो पापीलोग अपना शरीरपोषण करनेके लिये ही पकाते हैं, वे तो पापको ही खाते हैं।'

† श्रीमद्भगवद्गीतामे भी भगवान्‌ने अर्जुनसे कहा है—

सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि।
ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः॥
(६।२९)

जिसकी सर्वत्र आत्मदृष्टि है, वह ऐश्वर्यसे मतवाला नहीं होता। इसलिये वे अपनी शक्तिके अनुसार सभी प्राणियोंकी सेवा करते थे, किसीकी भी सेवासे विमुख नहीं होते थे। इस आचरणसे रहनेवाले साधुशिरोमणि नन्दभद्रके सद्व्यवहारकी देवतालोग भी स्पृहा रखते थे।

इसी स्थानमें एक शूद्र भी रहता था, जो नन्दभद्रका पड़ोसी था। उसका नाम तो था सत्यव्रत, किंतु वह बड़ा भारी नास्तिक

आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन।
सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः॥
(६। ३२)

'अर्जुन! सर्वव्यापी अनन्त चेतनमे एकीभावसे स्थितिरूप योगसे युक्त आत्मावाला तथा सबमे समभावसे देखनेवाला योगी आत्माको सम्पूर्ण भूतोमे बर्फमे जलके सदृश व्यापक देखता है और सम्पूर्ण भूतोंको आत्मामें देखता है, अर्थात् जैसे स्वप्नसे जगा हुआ पुरुष स्वप्नके संसारको अपने अन्तर्गत संकल्पके आधार देखता है, वैसे ही वह पुरुष सम्पूर्ण भूतोंको अपने सर्वव्यापी अनन्त चेतन आत्माके अन्तर्गत संकल्पके आधार देखता है।'

'अर्जुन! जो योगी अपनी सादृश्यतासे सम्पूर्ण भूतोमे सम देखता है और सुख अथवा दुःखको भी सबमे सम देखता है, वह योगी परम श्रेष्ठ माना गया है।'

'अपनी सादृश्यतासे सम देखने'का तात्पर्य है—जैसे मनुष्य अपने मस्तक, हाथ, पैर, गुदाके साथ ब्राह्मण, क्षत्रिय, शूद्र और म्लेच्छादिकोंका-सा बर्ताव करता हुआ भी उनमे आत्मभाव अर्थात् अपनापन समान होनेसे उनके सुख और दुःखको समान ही देखता है, वैसे ही सब भूतोमें देखना चाहिये।

था । उसकी इच्छा थी, यदि इनका कोई छिद्र देख पाऊँ तो इन्हें धर्मसे गिरा दूँ । नन्दभद्रके वृद्धावस्थामे एक पुत्र हुआ, किंतु वह चल बसा । इसे प्रारब्धका फल मानकर उन महामति वैश्यने शोक नहीं किया । तदनन्तर, नन्दभद्रकी प्यारी पत्नी कनका, जो पतिव्रता अरुन्धतीकी भाँति साध्वी स्त्रियोके समस्त सद्गुणोंसे विभूषित थी, सहसा मृत्युको प्राप्त हो गयी । सत्यव्रतको बहुत दिनोंके बाद बड़ी प्रसन्नता हुई । 'बड़े कष्टकी बात हुई,' ऐसा कहता हुआ वह शीघ्र ही नन्दभद्रके पास आया और मित्रकी भाँति मिलकर उनसे बोला—'नन्दभद्र ! यदि तुम-जैसे धर्मात्माको भी ऐसा फल मिला तो इससे मेरे मनमे यही आता है कि यह धर्म-कर्म व्यर्थ ही है । मै वाणीके अठारह और बुद्धिके नौ दोपोंसे रहित सर्वथा निर्दोष वाक्य बोलूँगा ।* शास्त्रोके जालसे पृथक् हो मिथ्यावादोंको छोड़कर केवल सत्य कहना ही मेरा व्रत है । इसलिये मै 'सत्यव्रत' कहलाता हूँ । मै तुमसे सच्ची बात कहूँगा ।

'जबसे तुम पत्थर (शिवलिङ्ग) पूजनेमे लग गये, तबसे तुम्हें

---

* सूक्ष्मता, संख्या, क्रम, निर्णय और प्रयोजन—ये पॉच अर्थ जिसमें उपलब्ध होते है, उसे वाक्य कहते है । धर्म, अर्थ, काम और मोक्षके उद्देश्यसे जो कुछ कहा जाता है, वह 'प्रयोजन' नामक वाक्य कहा गया है । धर्म, अर्थ, काम और मोक्षके विषयमे प्रतिज्ञा करके वाक्यके उपसंहारमे 'यही वह है' ऐसा कहकर जो विशेषरूपसे सिद्धान्त बताया जाता है, वह 'निर्णय' नामक वाक्य है । 'यह पहले और यह पीछे कहना चाहिये'—इस प्रकार क्रमविभागपूर्वक जो प्रस्तुत विषयका प्रतिपादन किया जाता है, उसे वाक्यतत्त्वके ज्ञाता विद्वान् 'क्रम' कहते हैं । जहॉ दोषों और गुणोंका यथावत् विभाग करके दोनोके लिये प्रमाण उपस्थित किया जाय, उसे 'संख्या' वाक्य समझना चाहिये और जहॉ वाक्यके विभिन्न अर्थोमें

कोई अच्छा फल मिला हो, ऐसा मैं नहीं देखता। तुम्हारे एक ही तो पुत्र था, वह भी नष्ट हो गया। पतिव्रता पत्नी थी, सो भी संसारसे चल बसी। भैया! देवता कहाँ हैं? सब मिथ्या है। यदि होते तो दिखायी न देते? यह सब कुछ कपटी ब्राह्मणोंकी झूठी कल्पना है। संसारकी सृष्टि और संहार—ये दोनों बातें झूठी

अभेद देखा जाता है, उस अतिशय अभेदकी प्रतीतिमें जो हेतु है, उसे ही 'सूक्ष्मता' कहते हैं। यह वाक्यके गुणोंकी गणना हुई।

वाणीके अठारह दोष इस प्रकार समझने चाहिये—अपेतार्थ, अभिन्नार्थ, अप्रवृत्त, अधिक, अश्लक्ष्ण, संदिग्ध, पदान्त अक्षरका गुरु होना, पराङ्मुख-मुख, अनृत, असंस्कृत, त्रिवर्गविरुद्ध, न्यून, कष्टशब्द, अतिशब्द, व्युत्क्रमाभिहृत, सशेष, अहेतुक तथा निष्कारण। जिस वाणीके उच्चारण करनेपर भी अर्थका भान न हो, वह 'अपेतार्थ' है। जिससे अर्थभेदकी स्पष्ट प्रतीति न हो, वह 'अभिन्नार्थ' है। जो सदा व्यवहारमें न आता हो, ऐसा शब्द 'अप्रवृत्त' कहा गया है। जिसके न रहनेपर भी वाक्यार्थ-बोध हो जाता है, वह वाक् या शब्द 'अधिक' है। अस्पष्ट अथवा अपरिमार्जित वाणीको 'अश्लक्ष्ण' कहते हैं। जिससे अर्थमें संदेह हो, वह 'संदिग्ध' है। 'पदान्त अक्षरका गुरु उच्चारण' भी एक दोष ही है। वक्ता जिस अर्थको व्यक्त करना चाहता है, उसके विपरीत अर्थकी ओर जानेवाली वाणीको 'पराङ्मुख-मुख' कहा गया है। 'अनृत' का अर्थ है असत्य। व्याकरणसे सिद्ध न होनेवाली वाणीको 'असंस्कृत' कहते हैं। धर्म, अर्थ और कामके विपरीत विचार प्रकट करनेवाली वाणी 'त्रिवर्ग-विरुद्ध' कही गयी है। अर्थबोधके लिये पर्याप्त शब्दका न होना 'न्यून' दोष है। जिसके उच्चारणमें क्लेश हो, वह 'कष्टशब्द' है। अतिशयोक्तिपूर्ण शब्दको यहाँ 'अतिशब्द' कहा है। जहाँ क्रमका उल्लङ्घन करके शब्दप्रयोग हुआ हो, वह 'व्युत्क्रमाभिहृत' कहलाता है। वाक्य पूरा होनेपर भी यदि बात पूरी नहीं हुई तो वहाँ 'सशेष' नामक दोष है। कथित अर्थकी सिद्धिके लिये जहाँ उचित तर्क या युक्तिका अभाव हो, वहाँ 'अहेतुक' दोष है। जब

हैं । यह विश्व स्वभावसे ही सदा वर्तमान रहता है, ये सूर्य आदि ग्रह स्वभावसे ही आकाशमे विचरण करते हैं, स्वभावसे ही पृथ्वी स्थिर है, स्वभावसे ही समुद्र अपनी मर्यादामें स्थित है, स्वभावसे ही ये बहुतेरे जीव उत्पन्न होते है, स्वभावसे ही यह समस्त जगत् प्रकाशित होता है । इसका कोई प्रत्यक्ष दिखायी देनेवाला कर्ता (ईश्वर) नहीं है ।

'धूर्तलोग इस मनुष्ययोनिको भी सबसे श्रेष्ठ बतलाते हैं, किंतु मनुष्ययोनिसे बढ़कर दूसरी किसी योनिमें कष्ट नहीं है । ये पशु-पक्षी, कीड़े-मकोड़े बिना किसी बन्धनके सुखपूर्वक विहार करते हैं, इनकी योनि अत्यन्त दुर्लभ है । मनुष्योंकी अपेक्षा अन्य योनियोंमें उत्पन्न होनेवाले सभी जीव धन्य हैं । इसलिये नन्दभद्र ! तुम मिथ्याधर्मका परित्याग करके मौजसे खाओ, पीओ, खेलो और भोग भोगो । पृथ्वीपर बस यही सत्य है ।'

किसी बातके कहे जानेका कोई कारण नहीं बताया गया हो, अथवा किसी शब्दके प्रयोगका उचित कारण न हो, तब वहाँ 'निष्कारण' दोष है ।

काम, क्रोध, भय, लोभ, दैन्य, कुटिलता, दयाहीनता, सम्मानहीनता, धर्महीनता—ये नौ बुद्धिके दोष हैं । जब वक्ता, श्रोता और वाक्य तीनों अविकल रहकर बोलनेकी इच्छामे समान अवस्थाको प्राप्त हों, तभी वक्ताका अभिप्राय यथावत् रूपसे प्रकट होता है । बातचीत करते समय जब वक्ता श्रोताकी अवहेलना करता है अथवा श्रोता ही वक्ताकी उपेक्षा करने लगता है, तब बोला हुआ वाक्य बुद्धिपथपर नहीं चढ़ता । इसके सिवा, जो सत्यका परित्याग करके अपनेको अथवा श्रोताको प्रिय लगनेवाला वचन बोलता है, उसके उस वाक्यमे संदेह उत्पन्न होने लगता है, अतः वह वाक्य भी सदोष ही है । इसलिये जो अपनेको या श्रोताको प्रिय लगनेवाली बात छोड़कर केवल सत्य ही बोलता है, वही इस पृथ्वीपर यथार्थवक्ता है, दूसरा नहीं ।

सत्यव्रतके इन वाक्योंसे, जो अशुभकर, अयुक्तिसंगत तथा असमञ्जस (दोषपूर्ण) थे, महाबुद्धिमान् नन्दभद्र तनिक भी विचलित नहीं हुए। वे क्षोभरहित समुद्रकी भाँति गम्भीर थे। उन्होने हँसते हुए उत्तर दिया—'सत्यव्रतजी ! आपने जो यह कहा कि धर्मात्मा मनुष्य सदा दुःखके भागी होते हैं, वह झूठ है। हम तो पापियोंपर भी बहुतेरे दुःख आते देखते है। संसारबन्धनजनित क्लेश तथा पुत्र और स्त्री आदिकी मृत्युके दुःख पापी मनुष्योंके यहाँ भी देखे जाते हैं। इसलिये मेरे मतमें धर्म ही श्रेष्ठ है।

'दूसरी बात जो आप यह कहते है कि इस संसारका कारण कोई महान् ईश्वर नहीं है, यह भी बच्चोंकी-सी बात है। क्या प्रजा बिना राजाके रह सकती है ? इसके सिवा आप जो यह कहते है कि तुम झूठे ही पत्थरके लिङ्गकी पूजा करते हो, इसके उत्तरमें मुझे इतना ही निवेदन करना है कि आप शिवलिङ्गकी महिमाको नहीं जानते है। ठीक उसी तरह, जैसे अंधा सूर्यके स्वरूपको नहीं जानता। भगवान् श्रीरामने समुद्रके किनारे श्रीरामेश्वर-लिङ्गकी स्थापना की है, क्या वह झूठा ही है ?

'आप जो यह कहते है कि देवता नहीं है और यदि हैं तो कहीं भी दिखायी क्यो नहीं देते ? आपके इस प्रश्नसे मुझे बड़ा आश्चर्य हो रहा है। जैसे दरिद्रलोग द्वार-द्वार जाकर भीख माँगते हैं, उसी प्रकार क्या देवता भी आपके पास आकर याचना करें ? यदि आपके मतमे सब पदार्थ स्वभावसे ही सिद्ध होते है तो बताइये, कर्ताके बिना भोजन क्यों नहीं तैयार हो जाता ? इसलिये जो भी निर्माणकार्य है, वह अवश्य किसी-न-किसी कर्ताका ही है। और

आपने जो यह कहा है कि ये पशु आदि प्राणी ही सुखी तथा धन्य हैं, यह बात आपके सिवा और किसीने न तो कही है और न सुनी ही है। तमोगुणी और अनेक इन्द्रियोंसे रहित जो पशु-पक्षी आदि प्राणी है तथा उनके जो कष्ट है, वे भी यदि स्पृहणीय और धन्य है तो सम्पूर्ण इन्द्रियोसे युक्त मनुष्य श्रेष्ठ और धन्य क्यों नही है? मै तो समझता हूँ कि आपका जो यह अद्भुत सत्यव्रत है, इसे आपने नरक जानेके लिये ही संग्रह किया है। आपने पहले ही जो आडम्बरपूर्ण भूमिका बाँधकर अपने ज्ञानका परिचय देना आरम्भ किया है, उसीमे आपके इन वचनोकी सारहीनता व्यक्त हो गयी है। आपने प्रतिज्ञा तो की थी कुछ और कहनेके लिये, परंतु कह डाला कुछ और ही। इसमे आपका कोई दोप नहीं है, सब दोष मेरा ही है, जो मै आपकी बात सुनता हूँ। नास्तिक, सर्प और विष—इनका तो यह स्वभाव ही है कि ये दूसरेको मोहित करते है। प्रतिदिन साधुपुरुषोंका संग करना धर्मका कारण है। इसलिये विद्वान्, वृद्ध, शुद्ध भाववाले तपस्वी तथा शान्तिपरायण संत-महात्माओं-के साथ सम्पर्क स्थापित करना चाहिये। दुष्ट पुरुषोके दर्शन, स्पर्श, वार्तालाप, एक आसनपर बैठने तथा एक साथ भोजन करनेसे धार्मिक आचार नष्ट होते है। नीचोंके संगसे पुरुषोंकी बुद्धि नष्ट होती है, मध्यम श्रेणीके लोगोके साथ उठने-बैठनेसे बुद्धि मध्यम स्थितिको प्राप्त होती है और श्रेष्ठ पुरुषोके साथ समागम होनेसे बुद्धि श्रेष्ठ हो जाती है। इस धर्मका स्मरण करके मै पुनः आपसे मिलनेकी इच्छा नहीं रखता, क्योकि आप सदा ब्राह्मण आदिकोकी ही निन्दा करते है। वेद प्रमाण है, स्मृतियाँ प्रमाण है तथा धर्म

और अर्थसे युक्त वचन प्रमाण हैं; परंतु जिसकी दृष्टिमें ये तीनों ही प्रमाण नहीं हैं, उसकी बातको कौन प्रमाण मानेगा ?'

इस प्रकार कह महात्मा नन्दभद्र वहाँसे उठकर चले गये। वे सदा भगवान् शिवकी उपासनामें लगे रहते और इस प्रकार भगवान् शिवकी भक्ति करते हुए वे परम पदको प्राप्त हो गये।'

भक्तिसहित निष्काम कर्मके विषयमें तो शास्त्रका विधिवाक्य भी है। श्रीभगवान् स्वयं गीतामें कहते हैं—

स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः।
स्वकर्मनिरतः सिद्धिं यथा विन्दति तच्छृणु॥
यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः॥

(१८। ४५-४६)

'अपने-अपने स्वाभाविक कर्ममें तत्परतासे लगा हुआ मनुष्य भगवत्प्राप्तिरूप परम सिद्धिको प्राप्त हो जाता है। अपने स्वाभाविक कर्ममें लगा हुआ मनुष्य जिस प्रकारसे कर्म करके परम सिद्धिको प्राप्त होता है, उस विधिको तू सुन।'

'जिस परमेश्वरसे सम्पूर्ण प्राणियोंकी उत्पत्ति हुई है और जिससे यह समस्त जगत् व्याप्त है, उस परमेश्वरकी अपने स्वाभाविक कर्मोंद्वारा पूजा करके मनुष्य परम सिद्धिको प्राप्त हो जाता है।'

अतएव सभी मनुष्योंको परमात्माकी शरण होकर अपने-अपने वर्ण-आश्रमके अनुसार जगज्जनार्दनकी सेवा करके परमात्माकी प्राप्तिके लिये जीतोड़ प्रयत्न करना चाहिये।

नाम-कीर्तनसे शत्रुपर विजय

राजा गोपालसिंहका भगवान्में अद्भुत विश्वास

पूर्वजोंका संक्षिप्त परिचय

वि० सं० ७७५ के लगभगकी बात है। एक क्षत्रिय युवक अपनी पत्नीको साथ लेकर श्रीजगन्नाथजीके दर्शनार्थ पुरी जा रहे थे। पत्नी गर्भवती थी। उस समय मोटर, रेलगाड़ी आदि सवारियाँ थीं नहीं, अतः वे धीरे-धीरे पैदल ही यात्रा कर रहे थे; रात्रिके समय जब वे कोतुलपुर थानाके अधीन लाउग्राममे पहुँचे, तब वहाँ उन्होने विश्राम करनेके लिये एक गृहस्थका दरवाजा खटखटाया। गृहस्थने उनका इतना बड़ा सत्कार किया, मानो कोई बहुत पुराना मित्र आया हो और वे उसके आनेकी आशासे इतनी राततक प्रतीक्षामें बैठे हों। उसी रात्रिमे क्षत्रिय युवककी पत्नीने एक सुन्दर पुत्र उत्पन्न किया। यही शिशु आगे चलकर मल्लराज्यका आदि संस्थापक हुआ; इसीसे इसे 'आदिमल्ल' कहते थे। आदिमल्लने जिनके घर जन्म ग्रहण किया, वे भी क्षत्रिय थे। उनकी उपाधि थी मल्ल। इसलिये इन राजाओंकी उपाधि 'मल्ल' और इनके राज्यका नाम 'मल्लभूमि' हुआ।

इस शिशुके जन्मके तीन दिन बाद ही इसके पिता जगन्नाथपुरी चले गये और उन्होने वहीं शरीर त्याग कर दिया। शिशुकी माताका भी बीस दिन बाद लाउग्राममे ही देहान्त हो गया। अतः लाउग्रामके उस आश्रयदाता दम्पतिने ही शिशुका पालन-पोषण किया। उसका

नाम रक्खा गया रघुनाथ । रघुनाथके पालक पिताकी आर्थिक अवस्था अच्छी नहीं थी, इसलिये रघुनाथ बालक अवस्थामें ही गाँवके पण्डित मनोहर पञ्चाननकी पाठशालामें पढ़ने चला गया और वेतनके बदले उनकी गायें चराने लगा । रघुनाथकी बुद्धि तीव्र थी, यह देखकर सभी कहते कि यह लड़का होनहार होगा । थोड़े ही दिनोंमें उसने पाठशालाकी पढ़ाई समाप्त कर दी ।

एक दिन रघुनाथ पण्डित पञ्चानन महाशयकी गायें चराने खेत गया था; किंतु जब दोपहरतक घर नहीं लौटा, तब पण्डितजीको बड़ी चिन्ता हुई । वे उसकी खोजमें निकले । खोजते-खोजते उन्होंने श्रान्त रघुनाथको एक बरगदके पेड़की छायामें सोये देखा । उसके मुखपर पत्तोंके भीतरसे आकर धूप लग रही थी । उससे बचानेके लिये एक बड़ा भारी विषधर साँप उसके सिरहाने फनको छत्रकी तरह फैलाये बैठा था । यह देखकर पण्डितजीको बड़ा विस्मय हुआ और वे तुरंत समझ गये कि यह बालक साधारण मनुष्य नहीं, कोई महापुरुष है । कुछ देर बाद साँप चला गया और पञ्चानन पण्डित रघुनाथको लेकर घर लौटे ।

कुछ समय बाद लाउग्रामके राजाकी मृत्युके अनन्तर ये रघुनाथ ही वहाँके राजा बनाये गये । तबसे मल्ल-राज्यका आरम्भ हुआ । रघुनाथके मरनेपर उनके पुत्र जयमल्ल राजा हुए । वे प्रद्युम्नपुरको जीतकर अपनी राजधानी लाउग्रामसे वहाँ ले आये । प्रद्युम्नपुरमें एकके बाद एक राजा होते गये । बारहवीं पीढ़ीमें खड्गमल्ल हुए, जिन्होंने वर्तमान खड्गपुरको जीता और उसका नाम खड्गपुर रक्खा । तत्पश्चात् उन्नीसवें राजा जगतमल्ल हुए । उन्होंने पासके वनमें नयी

राजधानी स्थापित की। अपने कुलदेवताके नामपर उसका नाम 'विष्णुपुर' रक्खा और वे वहीं आकर रहने लगे।

मल्ल हम्बीरकी वीरता और वैष्णवता

शताब्दियाँ बीत गयीं। एकके बाद एक राजा होते गये। हरेक राजा अपने इच्छानुसार राजधानीकी उन्नतिकी चेष्टा करते थे। जिस समय दिल्लीके सिंहासनपर बादशाह अकबर विराज रहे थे, उस समय मल्लभूमिके राजा मल्ल हम्बीर थे। मल्लराजाओंमें वीर हम्वीर सर्वप्रधान राजा हुए। वे जैसे साहसी थे, वैसे ही विद्वान् और राज्य-संचालनमे सुदक्ष थे। इन्होंने मुसलमान आक्रमणकारियोंसे राजधानीको सुरक्षित रखनेके लिये दो दुर्ग बनाये थे।

इन्हीं वीर हम्बीरके समय पठानसेनापति दाउदखाँने विष्णुपुर-पर आक्रमण किया। भयानक युद्ध हुआ। मल्लसेनाने प्रबल पराक्रमके साथ युद्ध किया और अन्तमे दाउदखाँको बुरी तरह पराजित होकर भागना पड़ा। इस युद्धमे पठानोकी सेनाके इतने आदमी मरे कि युद्धस्थल सैनिकोके मुण्डोंसे भर गया। इसीसे उस स्थानका नाम 'मुण्डमालाघाट' पड़ा। यह स्थान वर्तमानमे विष्णुपुरसे तीन मीलपर नदीके किनारे स्थित है। वहाँ दुर्गका ध्वंसावशेष अब भी दिखायी पड़ता है। कई वर्ष हुए, बाढ़के प्रवाहमे मिट्टी बह जानेसे एक बड़ी तोप मिट्टीके नीचेसे निकली थी, वही तोप इस समय विष्णुपुरकी फौजदारी अदालतके सामने रक्खी है।

वीर हम्वीर बड़े ही योद्धा और विष्णुभक्त थे। वीर हम्बीरके समयसे ही मल्लवंशीय राजाओने वैष्णवधर्मकी दीक्षा लेनी शुरू की और वैष्णवधर्मके प्रचारार्थ वे इच्छानुसार खर्च करने लगे। राजा वीर

हम्वीर अपने प्रारम्भिक जीवनमें वैष्णवधर्मके सम्बन्धमे विशेष नहीं जानते थे। एक बार वृन्दावनसे श्रीजीवगोस्वामी और श्रीकृष्णदास कविराज आदि वैष्णवोंने आचार्य श्रीनिवास, नरोत्तमदास और और श्यामानन्द—इन तीन वैष्णवोंके साथ वहुत-से वैष्णवग्रन्थ तीन-चार वैलगाड़ियोंपर लादकर गौड़ देशमें भेजे थे। रास्ता वहुत दूरका था। तीनों गोस्वामी मार्गके कष्ट सहते हुए अपने देश जा रहे थे। मार्गमे जब वे रघुनाथपुर मलिआड़ा पार करके गोपालपुरमे पहुँचे, तब उन्होने बैलोको खोल दिया और स्वयं विश्राम करने लगे। उन्हे गहरी नींद आ गयी। तब विष्णुपुरके राजसैनिक गाड़ियोंपर वहुमूल्य चीजें समझकर उनको वहाँसे धीरे-धीरे विष्णुपुर ले गये।

इधर नींदसे जगकर गोस्वामियोने जब वैलगाड़ियो और पुस्तकों-को न देखा, तब वे बहुत व्याकुल हो गये। श्रीनिवास तो पागलकी तरह फटा-मैला कपड़ा पहने ग्रन्थोंकी खोजमे इस गाँवसे उस गाँव चक्कर लगाने लगे। दो गोस्वामी तो हताश होकर वृन्दावन लौट गये, परंतु श्रीनिवास वन-वन और गाँव-गाँव घूमते हुए एक दिन विष्णुपुरसे चार मील दूर देवलीग्राममें आये। वहाँ श्रीकृष्ण-वल्लभ चक्रवर्ती महाशयसे इनकी भेंट हुई। चक्रवर्ती महाशयने बातचीतमें इनका सारा वृत्तान्त जान लिया। उन्होने श्रीनिवासको आश्वासन देकर कहा कि 'आप इसके लिये कोई चिन्ता न करे। हमारे राजा परम दयालु और धार्मिक हैं। उनसे सब बातें स्पष्ट कह देनेपर वे निश्चय ही इसकी व्यवस्था कर देगे।'

तदनन्तर एक दिन चक्रवर्ती महाशय श्रीनिवासको साथ लेकर राजदरबारमे गये। उस समय वहाँ बड़े समारोहके साथ श्रीमद्भागवत-

की कथा हो रही थी। कथावाचक थे राजपण्डित व्यास चक्रवर्ती। वे रासपञ्चाध्यायीका अर्थ कर रहे थे; किंतु उनका अर्थ ठीक नहीं था। इसलिये आचार्य श्रीनिवासके साथ उनका विवाद छिड़ गया। श्रोताओं तथा राजाने भी श्रीनिवास महाशयसे कथा कहनेके लिये विनयपूर्वक प्रार्थना की। श्रीनिवास बेचारे क्या करते, उनको बाध्य होकर कथा सुनानी पड़ी। वे भागवतके प्रत्येक श्लोकका अर्थ करके ऐसी मधुर भाषामे सबको समझाने लगे कि श्रोता मुग्ध हो गये। राजा, मन्त्री, सभासद्—सभी कथा सुनकर आनन्दित हुए। राजाने अतिशय भक्तिके साथ श्रीनिवासको प्रणाम किया और उनकी चरणरज मस्तकपर लगाकर परिचय पूछा। श्रीनिवासने परिचयके साथ ही राजदरबारमें उपस्थित होनेका कारण भी बतलाया।

श्रीनिवास आचार्यकी बात सुनकर राजा अपने बुरे कामके लिये पश्चात्ताप करने लगे तथा हाथ जोड़कर उनसे बोले—'महाराज ! सचमुच हमारा यह बहुत बड़ा भाग्य था कि हमने गाड़ीसहित आपकी पुस्तकोंको यहाँ रक्खा, नहीं तो आप-जैसे महापुरुष मेरे दरबारमें क्यों आने लगे। आपके श्रीचरणोंको देखकर मै धन्य हो गया, मेरा वंश और पुरी धन्य हो गयी। अब इस अधमके अपराधोंको क्षमा करें। आपके वे ग्रन्थ सुरक्षित हैं, उन्हे ले ले और मेरे अपराधका जो दण्ड देना हो दें।' यों कहकर राजा श्रीनिवासके चरणोंमें लोट पड़े। आचार्य श्रीनिवासको दया आ गयी। उन्होंने राजाको सान्त्वना दी और बादमें आषाढ़ मासकी कृष्णा तृतीयाको उनको श्रीराधाकृष्णमन्त्रकी दीक्षा दी। तबसे मल्लभूमिके राजा वैष्णवधर्मकी दीक्षा ग्रहण करने लगे।

राजा वीर हम्बीर परम वैष्णव थे। राजाके अनुरोधसे आचार्य श्रीनिवास कुछ दिन विष्णुपुर रहे। कुछ समय बाद राजा गुरुदेव श्रीनिवासको साथ लेकर वृन्दावन गये और वहाँके सब तीर्थोंमे घूम-फिरकर वापस राजधानी लौट आये। वृन्दावनसे आकर राजाने राजधानीको वैष्णवधर्मकी शिक्षाके अनुसार सजाना आरम्भ किया। बहुत धनराशि व्यय करके यमुना, कालिन्दी, श्यामकुण्ड और राधाकुण्ड नामक चार तालाब बनवाये। विष्णुपुरके पास ही दो गाँवोंके नाम द्वारका और मथुरा रक्खे गये। यही सब देखकर वैष्णव कवि और साधुओंने विष्णुपुरको 'गुप्त वृन्दावन' कहा।

राजाने प्रसिद्ध कारीगरोंसे कालाचाँद (कृष्णचन्द्र) विग्रहकी एक मूर्ति बनवाकर बड़े समारोहके साथ उसकी प्रतिष्ठा करायी। वे अपने जीवनकालमे कालाचाँद देवका मन्दिर न बनवा सके। बादमे उनके सुयोग्य पुत्र रघुनाथसिंहने मन्दिर-निर्माण करवाया। यह कालाचाँद-मन्दिर आज भी है। मन्दिरके ऊपर जो शिलालेख है, उसके अनुसार यह मन्दिर १६५६ ई० मे तैयार किया गया था।

राजा रघुनाथका भगवत्प्रेम और श्रीमदनमोहनजीकी स्थापना

वीर हम्बीरकी मृत्युके बाद उनके पुत्र रघुनाथ वहाँके राजा हुए। ये भी पिताकी भाँति साहसी योद्धा और बुद्धिमान् थे। राजमहलके नवाब शाहशुजाने एक दिन किसी बहानेसे रघुनाथको अपने दरबारमे बुलाकर उन्हे बंदी कर लिया। अन्तमे उनके वीरत्व और साहसकी परीक्षाके लिये नवाबने अपने एक दुष्ट घोड़ेकी पीठपर चढ़ाकर दौड़ आनेकी रघुनाथको आज्ञा दी। घोड़ा बहुत ही उद्धत था, पर रघुनाथ बड़ी बहादुरीसे उसको

वशमे रक्खे हुए दौड़ाकर वापस ले आये । इससे नवाब बहुत प्रसन्न हुए एवं रघुनाथको बन्धनमुक्त करके उनके साथ मित्रता की । नवावने राजा रघुनाथके सम्मानमें उन्हें 'सिंह'की उपाधि दी । रघुनाथके समयसे ही मल्ल राजाओंकी उपाधि 'सिंह' हुई ।

नवाबसे विदा लेकर राजा रघुनाथसिंह विष्णुपुरकी ओर चले । चलते-चलते वे एक गाँवमें पहुँचे । वे पूरे वैष्णव थे; ब्राह्मणके सिवा अन्य किसीके घर नही खाते थे एवं विष्णुका चरणोदक और तुलसी लिये बिना जल ग्रहण नहीं करते थे । पता लगाकर वे धरणीधर नामक ब्राह्मणके अतिथि हुए । धरणीधर अत्यन्त ही गरीब थे । फिर भी उन्होने बहुत यत्न करके रघुनाथको घरपर रक्खा और जो कुछ पत्र-पुष्प मिल सका, उसीसे रघुनाथका आदर-सत्कार किया और भोजन कराया । गरीब होनेपर भी ब्राह्मण बड़े धार्मिक थे; कभी अन्याय नही करते और झूठ नहीं बोलते थे । ब्राह्मणके घरमे भगवान् श्रीराधाकृष्णकी मूर्ति थी, नाम था मदनमोहनजी । मदनमोहनजीके अद्भुत अपूर्व रूपको देखकर राजा मुग्ध हो गये । उन्होने ब्राह्मणसे दस हजार रुपये लेकर मदनमोहनको देनेका प्रस्ताव किया । रुपयोके बदले मदनमोहनको देना होगा—यह सोचकर ब्राह्मण व्याकुल होकर रोने लगे । छोटे बालककी तरह रोते-रोते उन्होने कहा—'नहीं, तुम चाहे जितने रुपये दो, मैं अपने भगवान्‌को तुम्हे नहीं दे सकता ।'

रात्रिमे मन्दिरमे सोते हुए रघुनाथको भगवान्‌का स्वप्नादेश हुआ और तदनुसार उन्होंने चुपचाप मदनमोहनजीको अपनी गोदमे उठा लिया और उन्हे चद्दरसे ढककर वे घरसे निकल पड़े ।

उनके हाथ, पैर और हृदय काँप रहे थे। राजाने अपने जीवनमें कभी इस तरहका काम नहीं किया था, इसीसे उनका सारा शरीर काँप रहा था। क्या करे, इष्टदेवका आदेश था। वे धीरे-धीरे घरके किवाड़ बंद करके चल दिये। दो-तीन दिनो बाद वे विष्णुपुर पहुँचे। रानीसे मदनमोहनकी सारी बाते बतलाकर अन्तःपुरके एक कोनेमे श्रीमदनमोहनजीको छिपाकर पधरा दिया।

ब्राह्मण धरणीधर सवेरे जगे और नित्यकी भाँति फूल तोडने चले गये। लौटकर जब मन्दिरके किवाड़ खोले, तब देखा कि वहाँ न तो भगवान् श्रीमदनमोहनजी है और न राजा रघुनाथ ही है। ब्राह्मण बहुत दुखी हुए और सिर पीटकर रोने लगे। उन्हें निश्चय हो गया कि रघुनाथ ही मदनमोहनजीको लेकर भाग गये है। यह सोचकर ब्राह्मण जिस अवस्थामे थे, उसी अवस्थामे शोकसे व्याकुल होकर रघुनाथ और मदनमोहनजीकी खोजमें घरसे निकल पड़े। धरणीधर ब्राह्मण अनेक जगह घूमते-घामते अन्तमे एक दिन विष्णुपुर पहुँचे। वहाँ वे करीब एक मासतक घर-घर भटके, पर कहीं श्रीमदनमोहनजीका पता न चला। तब वे प्राणत्यागका विचार करके नदी-तटपर पहुँचे।

वहाँ एक बुढ़ियाने उन्हे नदीमे कूदनेसे रोका और उनसे सारी बातें जानकर कहा—'यह किसीसे कहना नहीं, यहाँके राजा रघुनाथसिंह कहींसे एक भगवान्‌को लाये है और उनको अन्त.पुरके किसी गुप्त स्थानमे छिपा रक्खा गया है, यह मैने सुना है। वहाँ जाकर पता लगाओ, वही तुम्हारे मदनमोहन है कि नहीं।'

वृद्धाकी बातें सुनकर ब्राह्मण बहुत प्रसन्न हुए और राजाके

दरवारमें उपस्थित हुए । राजाने ब्राह्मणको पहचान लिया तथा उनका श्रद्धाभक्तिपूर्वक बहुत आदर-सत्कार करके धन-रत्न आदि जो भी वे लेना चाहे, देनेको कहा । ब्राह्मण रोते-रोते बोले—'राजन्! मै गरीब हूँ और गरीब ही रहना चाहता हूँ, धन-दौलत लेकर भी क्या करूँगा । इनकी मुझे आवश्यकता नहीं है । आप मेरे भगवान् मदनमोहनको ले आये है, उनको मुझे लौटा दीजिये । मैं आपके पैरों पड़ता हूँ । मै भगवान्को अपनी आँखों देखना चाहता हूँ, कृपया एक बार मुझे मेरे भगवान्को दिखला दीजिये ।' राजा बड़ी चिन्तामे पड़े । उन्होने कोई उपाय न देखकर ब्राह्मणसे कहा—'आप दया करके यहाँ कुछ दिन विराजिये । आजसे तीन दिन बाद मै आपको मदनमोहनजीके दर्शन करा दूँगा ।' ब्राह्मणको राजाके वचनोसे बड़ा आनन्द हुआ, उन्होने दोनो हाथ उठाकर राजाको आशीर्वाद दिया ।

एक दिनकी बात है, रातमे ब्राह्मणने स्वप्न देखा, मानो उनके मदनमोहन उनके सिरपर हाथ फिराते हुए कह रहे हैं—'मै तुम्हारी भक्तिसे संतुष्ट हो गया । तुम दुःख मत करो, घर लौट जाओ । यहाँका यह राजा भी मेरी बड़ी भक्ति करता है, मेरे लिये यह सब राजपाट भूल गया है, इसकी भक्तिसे मै बँध गया हूँ; इसलिये मै अब यहीं रहूँगा । पर तुम्हारे यहाँ मै प्रतिदिन जाऊँगा और प्रतिदिन ही तुम मुझे देखोगे । मै सिंहासनपर प्रतिदिन इमलीके फूलके काँटे रख आऊँगा । उनको देखकर तुम समझ जाओगे कि मै रोज ही आता हूँ ।'

सवेरा होते ही ब्राह्मणको बुलाने राजा स्वयं गये और ब्राह्मणसे

विनयपूर्वक बोले—'ब्रह्मन् ! आप मेरा कोई अपराध न मानें; मेरे साथ पधारें, मै आपको मदनमोहनजीके दर्शन करा देता हूँ । इसके बाद आप जैसा ठीक समझें, करें ।' राजाकी बात सुनकर धरणीधरके आनन्दकी सीमा न रही । वे राजा रघुनाथसिंहके पीछे-पीछे चलने लगे । अन्त:पुरमे जाकर धरणीधरने मदनमोहनजीके दर्शन किये और दर्शन करते ही वे वेसुध-से हो गये, उनमे बोलनेकी शक्ति नहीं रही । नेत्रोसे जलधारा प्रवाहित होने लगी, जिससे उनका सारा वक्ष:स्थल भीग गया । वे एकटक भगवान्की ओर ही देखते रहे । भगवान् मदनमोहनजीका विग्रह बड़ा ही चित्ताकर्षक और सर्वविध सुसज्जित था । राजा रघुनाथसिंह मदनमोहनजीको विष्णुपुरसे लानेके बाद सब काम छोड़कर भगवान्के पास ही रहते और उन्हें बहुमूल्य पदार्थोंसे विविध भाँतिसे सजाते रहते थे । ब्राह्मण धरणीधर आश्चर्यचकित होकर भगवान्के विग्रहका दर्शन करते रहे । उनकी आँखोकी पलकें नहीं पड़ती थीं । फिर बहुत देरतक उन्होंने भक्तिभावपूर्वक प्रणाम और स्तवन किया ।

राजाने ब्राह्मणसे बहुत प्रार्थना की, पैर पकड़े, हाथ जोड़कर अनुरोध किया कि आप विष्णुपुरमें रहिये । उन्होंने जमीन देनी चाही, घर बनवा देना चाहा, यहाँतक कि मदनमोहन भगवान्की पूजा-अर्चनाका भार देना चाहा; परंतु ब्राह्मण किसी तरह भी विष्णुपुर रहनेके लिये राजी नहीं हुए । हाथ जोड़कर बार-बार भगवान्को प्रणाम किया और स्वप्नादेशको याद करके भगवान्को विष्णुपुरमे ही छोड़कर भगवान्की ओर देखते-देखते वे चले गये ।

एक बार रथयात्रा-महोत्सवके समय सैकड़ो हाथी और घोड़े

जोड़ने तथा श्रद्धाभक्तिपूर्वक प्रार्थना करनेपर भी श्रीमदनमोहनजीका रथ नहीं चला। कारण यह था कि एक बुढ़िया वीरसिंहपुरसे रथयात्राके दर्शनार्थ आ रही थी, वह थककर रास्तेमे गिर पड़ी। उसको दर्शन दिये बिना रथ आगे नहीं बढ़ता था। आखिर उसे पालकीमे बैठाकर लाया गया, तब रथ चला।

'राजा गोपालसिंहकी बेगार'

इन्हीं भक्त रघुनाथके पवित्र वंशमे कुछ पीढ़ियोंके बाद सन् १७१२ ई० मे गोपालसिंह राजा हुए। वे परम वैष्णव थे। दिन-रात केवल भगवन्नामका जप किया करते। राजकार्यसे उदासीन-से रहते और हरिनाममाला हाथमे लिये भक्तोंके साथ धर्मचर्चा करते तथा वैष्णवग्रन्थ पढ़ते रहते। रास्तेमे कहीं किन्हीं वैष्णव साधु-संन्यासीको देखते तो उन्हे दरबारमे ले आते और बड़े भक्तिभावसे उनकी सेवा-पूजा करते। भक्त राजा गोपालसिंहने अनेको वैष्णवोको बहुत-सी करहीन भूमि दान की थी; उन सब वैष्णवोंके वंशधर विष्णुपुरमे आज भी उसे भोग रहे हैं।

एक बार राजाने आज्ञा दी कि 'राजदरबारके प्रत्येक कर्मचारीको प्रतिदिन कम-से-कम एक बार समयानुसार हरिनामकी माला जपनी पड़ेगी। जो नहीं जपेगा, उसे दण्ड दिया जायगा।' सब माला मँगाकर नित्य जपने लगे। कुछ दिनों बाद अन्तःपुरकी सेविकाओं तथा महिलाओंने भी रोज माला जपनी शुरू कर दी। उसके बाद एक दिन राजाने यह आदेश दिया कि 'राजधानी विष्णुपुरके प्रत्येक व्यक्तिको रोज माला जपनी पड़ेगी। बूढ़े, युवक, बालक, बालिका, स्त्री सभीको दिनमे कम-से-कम एक बार माला अवश्य

जपनी ही होगी ।' राजाकी आज्ञा थी, बाध्य होकर सब लोग भगवन्नाम जपने लगे । दिनमे कम-से-कम एक बार सभीको हरिनामकी माला लेकर बैठना पड़ता था । बहानाबाजी करके बचनेका कोई रास्ता न था; क्योंकि प्रत्येक मनुष्य प्रतिदिन माला जपता है या नहीं, यह जाननेके लिये राजाने बहुत-से गुप्तचर नियुक्त कर रक्खे थे और स्वयं राजा भी समय-समयपर छिपे वेषमे घूम-घूमकर देखा करते थे । समय-असमयका कोई हिसाब नहीं था, जिस किसी समय भी दिनमे एक बार माला जपनी थी, क्योंकि राजाने माला जपनेका समय निश्चित नहीं किया था । लोग भोजन करने जाते, परंतु रसोई होनेमे या परसनेमे कुछ देर होती तो उसी समय हाथमे माला लेकर बाहर बैठ जाते और जप करने लगते । राजा गोपाल-सिंहजीका यह कार्य वस्तुतः बहुत ही स्तुत्य था । सच्चा हितैषी बन्धु तो वही है, जो किसी प्रकार भी अपने आत्मीयको भगवान्मे लगा दे—

तुलसी सो सब भाँति परम हित पूज्य प्रानतें प्यारो ।
जाते होय सनेह रामपद एतो मतो हमारो ॥

यह लोगोंको 'गला पकड़कर अमृत पिलाना' था, परंतु कुछ लोग इससे नाराज हो गये और वे इसे 'गोपालसिंहकी बेगार' कहने लगे ।* आगे चलकर यह एक साधारण कहावत हो गयी । बाँकुड़ा

---

* कुछ लोग गोपालसिंहके इस कार्यको अन्याय और अत्याचार बतलाते हैं, उन्हे देखना चाहिये कि आज क्या हो रहा है । जबरदस्ती भगवान्का नाम छुड़ाया जा रहा है । मानो अमृतका प्याला छीनकर, गला पकड़कर जबरन् विष पिलाया जा रहा है ! रूस-जैसे देशमे भगवान्की

और विष्णुपुरके आसपास आज भी इसका प्रचार है। जब कोई काम करनेके बाद अपनी मजदूरी या लाभ नहीं पाता, तब उस काम करनेको वह 'गोपालकी बेगार' कह देता है। जो काम करनेसे जी चुराता है, उसे उसका मालिक कह देता है कि 'तू तो 'गोपालकी बेगार' काट रहा है।'

विष्णुपुरपर आक्रमण और सामुदायिक कीर्तन

मराठा सेनापति भास्कर पण्डित बहुत दिनोंसे मल्लराज्यपर आक्रमण करनेका सुयोग देख रहे थे, परंतु मल्लसैनिकोंकी शक्ति और युद्धकौशल देखकर उन्हे आक्रमण करनेका साहस नहीं होता था; किंतु गोपालसिंहको राज्यसंचालनमे उदासीन सुनकर भास्कर पण्डितने मल्लराज्यपर आक्रमण करनेका अच्छा अवसर समझा और बड़ी भारी सेना लेकर उन्होने मल्लराज्यपर चढ़ाई कर दी।

मल्लराज गोपालसिंहके सेनापतियोंको मराठोंकी इस चढ़ाईका कुछ भी पता न चला। उस ओर किसीका ध्यान भी नहीं था। मराठोंकी सेना मुण्डमालाघाटपर आकर डट गयी। वहाँ एक दुर्ग था, जिसपर बहुत-सी तोपें सजायी हुई थीं। पुरानी व्यवस्थाके अनुसार मल्लराज्यमें पैर रखनेके पहले शत्रुको या तो इस दुर्गपर अधिकार

सत्ता माननेवालोको दण्ड देनेका विधान बनाया गया था। यहाँ भारतकी संसद्मे भगवान्का स्मरण करके काम शुरू करनेका प्रस्ताव गिर गया। प्रजाको ईश्वरके माननेसे बलपूर्वक रोकना 'एक दल'का सिद्धान्त है। पर इन लोगोको आज लोग बुरा नहीं कहते, लेकिन जो भगवान्की ओर लगानेमें बलपूर्वक काम लेता है, उसे अत्याचारी बताया जाता है। कैसी विडम्बना है !!

करना पड़ता था या पराजय स्वीकार करके भागना पड़ता था। मराठा सैनिक मुर्शिदाबाद, ढाका और मल्लराज्यके अनेक ग्रामोंको लूटकर विष्णुपुर आये थे।

उस समय दोपहरका समय था; किंतु सेनापतिके आदेशसे एक दल सैनिक तुरंत दौड़कर दुर्गके निकट पहुँच गया। पर दुर्गपर बहुत-सी तोपें सजी देखकर उसे बड़ा भय हुआ और उसके आगे बढ़नेकी चाल मन्द पड़ गयी। मराठा सेनापति भास्कर पण्डितके सौभाग्यसे उस समय दुर्गमे सैनिकोमेसे कोई न था। दुर्गके सैनिक इच्छानुसार जहाँ-तहाँ स्वच्छन्द विचरा करते थे, नहीं तो, भास्कर पण्डितको वहीं पराजय स्वीकार करनी पड़ती। मराठा सैनिक और आगे बढ़े। इसी समय दुर्गके एक तोपचालकने उनको देख लिया। उसने तत्काल दुर्गके भीतर जाकर तोपे दागनी आरम्भ कर दीं। तोपोंकी आवाज सुनकर मल्लराज्यके अन्य सैनिक भी दौड़ आये और तोपे दागने लगे। तोपोके मुँहसे गोले बरसने लगे और मराठा सैनिक मरने लगे। दुर्गमे केवल पंद्रह सैनिक थे, उन्होने देखा कि अत्यन्त समीप आ जानेके कारण मराठा सैनिकोंपर गोलोंकी मार ठीक नहीं पड़ रही है, तब उन्होने बंदूकें चलाना शुरू किया और एक आदमीने दौड़कर सेनापतिको सूचना दी।

राजा गोपालसिंहने मराठासेनापति भास्कर पण्डितके आक्रमणकी बात सुनकर सेनाकी एक टुकड़ी मुण्डमालाघाटकी ओर भेजी। भयङ्कर युद्ध छिड़ गया। मल्लसेना संख्यामें कम थी, पर वह प्राणपणसे लड़ने लगी। मराठोके भी बहुत सैनिक मरे; परंतु अन्तमे उन्होंने दुर्गपर अधिकार कर लिया, तब शेष मल्लसेना धीरे-धीरे हटकर राजदरबारमे आ गयी।

युद्धमें विजय पाकर भास्कर पण्डित आनन्दित हो विष्णुपुरकी ओर बढ़ने लगे। बीचमे रात हो जानेके कारण सेनापतिने रास्तेके पास ही पड़ाव डाल दिया। इस समय विष्णुपुरमे जहाँ फौजदारी और दीवानी अदालत है, वहीं भास्कर पण्डितने छावनी डाली थी, इससे अब भी उस जगहका नाम 'मराठाडाँगा' है।

गढ़की सेनाने भागकर राजाको सूचना दी। मराठे राजधानीकी ओर आ रहे है, यह जानकर राजाने प्रजाको आदेश दिया कि 'सब लोग अपनी धन-सम्पत्ति और परिवारको लेकर भीतरी दुर्गके अंदर चले आवे।' प्रजा भयभीत हो गयी। जिसके पास जो कुछ था, लेकर बाल-बच्चोंसहित सबने दुर्गमे आश्रय लिया। कुछ लोग धन-सम्पत्तिको वहीं छोड़कर केवल अपने प्राण बचानेके लिये ही दुर्गमे दौड़ आये!

अपनी सेनाकी पराजयकी बात सुनकर राजा गोपालसिंहने सोचा कि 'अब कोई उपाय नहीं है।' तब उन्होने विश्वासपूर्वक दुर्गमे सबको हरिनाम-कीर्तन करनेकी आज्ञा दी। यद्यपि उस समय भी गढ़मे चालीस हजार शिक्षित सेना मौजूद थी और उसको परास्त करना मराठासेनापति भास्कर पण्डितके लिये सीधा काम न था, पर राजाने यह सब कुछ नही सोचा। उन्होने राजधानीके सब लोगोंके साथ हरिनामकीर्तन करना आरम्भ कर दिया। हरिनामकी तुमुल ध्वनिसे गढ़ गूँज उठा। भास्कर पण्डितकी थकी सेना रात्रिमे विश्राम करने लगी।

पर मल्लसेनापति निश्चिन्त नही थे। राज्यमे एक सन्थाली

सेना थी; वे लोग बहुत विश्वासी और साहसी थे। अन्तःपुरकी रक्षामे चारों ओर उनको नियुक्त कर दिया गया। मल्लसेनापतियोंने प्रतिज्ञा की कि 'प्राण भले ही चले जायँ, मराठोंको गढ़की ओर एक पैर भी नहीं बढ़ने दिया जायगा।' इसी उद्देश्यसे उन्होंने राजाकी आज्ञाकी कोई प्रतीक्षा न करके मल्लभूमिकी स्वाधीनता-रक्षाके लिये रातोंरात गढ़के चारो ओर सेना सजा दी और वड़ी तोपोंको बारूद भरकर तैयार कर लिया। धनभण्डारको राजप्रासादके गुप्त स्थानोंमे छिपाकर रख दिया गया। राजाको इन सब बातोंका कुछ भी पता न था, वे तो गढ़मे प्रजाके साथ मिलकर जोरोंसे केवल हरिनाम-कीर्तन कर रहे थे।

सवेरा होते ही मल्लसेनाओंने तोपे चलानी शुरू कर दीं। मराठे सैनिक भी आ डटे। लड़ाई आरम्भ हो गयी। मराठे सैनिक दुर्गपर आक्रमण करनेके लिये दुर्गकी खाई पार करनेकी चेष्टा करने लगे; किंतु वड़े-बड़े तालावोंसे खाईमे जल प्रवाहित करनेकी सुव्यवस्था होनेके कारण खाईका पानी बरसाती नदीके प्रवाहकी भाँति बड़े जोरोंसे बह रहा था, अतः उसे पार करना सम्भव नहीं था। उधर गढ़पर बहुत-सी तोपे सजाकर हजारों सैनिक प्रतीक्षा कर रहे थे। दुर्गका सुदृढ़ लौहद्वार वंद था। इससे मराठोंने अनुमान कर लिया कि दुर्गमे निश्चय ही वड़ी भारी सेना है; परंतु बहुत देशोंको पराजित करनेसे उनका लोभ बढ़ा हुआ था। फिर उनका अहङ्कार भी बढ़ा था। वे तेजस्वी-साहसी योद्धा भी थे। अतः मल्लसेनासे पराजय स्वीकार कैसे करते! उन्होने बड़ा प्रयत्न करके किसी तरह खाई पार कर ली और वंदूकें चलाकर युद्धारम्भका संकेत कर दिया।

मल्लसैनिकोंने मराठा सैनिकोंको खाई पार करते देखकर एक ही साथ तोपे दागनी शुरू कर दीं और साथ-साथ बंदूकें भी चलाने लगे। तोपोंके गोलों और बंदूकोंकी गोलियोंसे मराठासैनिक मरने लगे और उनके शव खाईके जलमें बहने लगे। जो मराठादल खाईमे पहले उतरा था, उसमेंसे एक भी न बचा। मराठासेनापति भास्कर पण्डितने दूसरे दलको आज्ञा दी। उसमेंसे कुछ सैनिक पार हो गये; परंतु द्वारके पास जाते-न-जाते वे सब भी मारे गये। इस तरह मराठा सेनापतिने तीन बार चेष्टा की और तीनों ही बार वे विफल रहे। मराठे सैनिक मरने लगे।

राजा गोपालसिंह उस समय भी दुर्गके भीतर हरिनामकीर्तन कर रहे थे। सब लोग आतुर थे और बड़ी करुणासे तन्मय होकर भगवान्‌का पवित्र नाम-कीर्तन कर रहे थे। युद्धके सम्बन्धमें वे कुछ नहीं जानते थे। दुर्गमें प्रजाका समय डरते-डरते बीत रहा था। लोग तोप-बंदूकोंकी आवाजे तो सुन रहे थे, पर युद्धका क्या परिणाम हो रहा है, इसका किसीको पता न था। सच्ची आर्तभक्तिका मानो मूर्तिमान् प्रवाह बह रहा था। सामुदायिक सच्ची पुकार (प्रार्थना) का शुभ परिणाम हुआ। सहज दयालु भगवान्‌का करुणासमुद्र उमड़ा और उसका कार्य आरम्भ हो गया।

मदनमोहनजीके द्वारा तोपोंका चलाया जाना और शत्रुकी पराजय

युद्ध करते-करते दोनों ओरकी सेनाएँ थक गयीं। मराठा सैनिक खाई पार करके विश्राम करने जंगलमे चले गये। तब मल्ल-सेनाको भी विश्राम मिल गया। इस बीचमें समय पाकर मल्ल-

सेना तोपोंमें बारूद भरने लगी और नये-नये सैनिकोंके दल दुर्गमें आने लगे। अचानक, आश्चर्यचकित होकर मल्लसैनिकोंने देखा कि एक अश्वारोही राजप्रासादसे निकलकर बड़े जोरसे दुर्गकी ओर घोड़ा दौड़ाता आ रहा है। घोड़ेके खुरकी धूल चारो ओर उड़ रही है और वह घुड़सवार इतने वेगसे चला आ रहा है कि वह कौन है, यह भी अच्छी तरह दिखलायी नहीं पड़ता। सहसा दल-मादल तोपें गरजने लगीं और थोड़ी ही देर बाद देखा गया कि जंगलमे, जहाँ मराठे विश्राम कर रहे थे, वहाँ दल-मादल तोपोके गोले वर्षाकी असंख्य बूँदोंकी भाँति पड़ रहे है और इसके फलस्वरूप असंख्य मराठे सैनिक मौतके शिकार हो रहे है। देखते-देखते भास्कर पण्डितकी आधी सेना समाप्त हो गयी। कोई उपाय न देखकर मराठा सेनापतिने पराजय स्वीकार कर ली और वे शेष सेनाको लेकर धीरे-धीरे पीछे हटने लगे। सुयोग देखकर मल्लसैनिक भी दुर्गसे निकल आये और मराठा सैनिकोके पीछे आक्रमण करते हुए वेगसे चलने लगे। मराठोंकी सेना भङ्ग हो गयी और सैनिकोने, जहाँ जिसे रास्ता मिला, भागकर प्राण बचाये। मराठा सेनापति भास्कर पण्डित कुछ सैनिकोको लेकर वनमे छिप गये; परंतु जंगलमे वे रास्ता नहीं खोज सके। बहुत दिनों-तक घूम-फिरकर छिपे-छिपे वे मेदिनीपुर जिलेके चन्द्रकोणाकी तरफ भाग गये। इस प्रकार मल्लभूमिके सैनिकोने दुर्धर्ष मराठोंका गर्व चूर्ण कर दिया।

दल-मादल तोपोंके चलानेके सम्बन्धमे सबका यह कहना है कि स्वयं प्रभु मदनमोहनजीने उनको चलाया था। राजाकी प्रार्थनासे संतुष्ट होकर राजधानी विष्णुपुरका शत्रुओसे उद्धार करनेके लिये स्वयं

भगवान्‌ने ही आकर तोपे चलायीं, जिससे मराठे तो हारकर भाग गये और मल्लसैनिकोंके आनन्दकी सीमा न रही। राजधानी विष्णुपुरके रास्तोंपर सैनिक स्वच्छन्द टहलने लगे और राजधानीकी प्रजा सैनिकोंको अनेक प्रकारके उपहार देने लगी। भगवान्‌की भृत्यवत्सलता और भगवान्‌मे विश्वाससे अद्भुत परिणामका यह ज्वलन्त उदाहरण है !

गोपालसिंहके राजत्वकालमें राज्यकी सुव्यवस्था

राजा गोपालसिहके राजत्वकालमे फ्रांसके आबिरेन्याल नामक भ्रमणकारी विष्णुपुर आये थे। उन्होने मल्लराज्यमे भ्रमण करके राज्य-रक्षाकी व्यवस्था, प्रजाका सरल व्यवहार और अतिथि-सत्कारके सम्बन्धमे बहुत प्रशंसा की है। उन्होने लिखा है कि मल्लभूमिकी प्रजाकी स्वाधीनता और धन-सम्पत्तिको कोई अपहरण नहीं करता था, राज्यमे कभी चोरी या डकैती नहीं होती थी। कोई विदेशी सज्जन यदि कभी मल्लराज्यमे आते तो मल्लराजा उनकी रक्षाका भार और जितने दिन वे राज्यमे रहते, उनका समस्त व्यय वहन करते थे। विदेशी सज्जनके साथ सदा ही राज्यकी ओरसे एक सहायक नियुक्त रहता। वे राज्यमे जहाँ जाना चाहते, वह उन्हे वहीं ले जाता। इसके लिये किसीको एक पैसा भी खर्च नहीं करना पड़ता था। राज्यके लोग कभी किसीकी हिंसा नहीं करते, कोई किसीका अनिष्ट नहीं करते थे। सब इतने सरल और धर्मभीरु थे कि यदि कोई रास्तेमे रुपयोंकी थैली पा जाता तो वह तुरंत उसे राजाके पास पहुँचा देता और राजा चारों ओर ढोल पिटवा देते कि जिसकी थैली खो गयी हो, वह आकर ले जाय। [illegible] मल्लराज्यकी ऐसी व्यवस्था थी।

राजा गोपालसिंहकी मृत्युके बाद उनके लड़के चैतन्यसिंह राजा हुए। वे भी पिताकी तरह ही परम वैष्णव थे और दिन-रात धर्मकी आलोचना, धर्मग्रन्थपाठ तथा नाम-संकीर्तनमे लगे रहते एवं ब्राह्मणोंकी खूब भक्ति करते।

सुना जाता है कि ब्राह्मण धरणीधरके यहाँसे जो मदनमोहन-जीकी मूर्ति विष्णुपुर लायी गयी थी और जिनकी भक्ति राजा रघुनाथ-सिंह—गोपालसिंह आदि करते रहे, वही आजकल कलकत्तेके बाग-बाजारके श्रीमदनमोहनजीके मन्दिरमे विराजित है।*

उपसंहार

विष्णुपुरके राजा गोपालसिंहकी 'दल-मादल' तोपोंके विषयमे ऐसी लोकोक्ति है कि जिस समय शत्रुओंकी सेनाने विष्णुपुरके चारो ओर बड़ा भारी घेरा डाल दिया और विष्णुपुरके गढ़मे रहनेवाले सैनिक निराश हो गये, उस समय दल-मादल तोपोंको एक बहुत बड़े घोड़ेपर दोनों ओर सजाकर भगवान् मदनमोहन ही घोड़ेपर सवार होकर किलेसे बाहर निकले और शत्रु-सेनाके घेरेपर तोप दागते हुए चारों ओर अलातचक्रकी तरह घूमने लगे। उन तोपोंके गोलोंसे बहुत-सी शत्रुसेना मारी गयी और बचे हुए लोग भाग गये। तदनन्तर घोड़ेसहित भगवान् किलेमे लौट आये और तोपोंको लालबाँध (तालाब) पर उतारकर स्वयं अपने मन्दिरमें प्रवेश कर गये।

शत्रु-सेनापतिको बड़ा आश्चर्य हुआ और उन्होंने सोचा कि 'न जाने इनके पास ऐसे कितने घुड़सवार होंगे, जब कि इस एक ही घुड़सवारने हमारी सेनाको परास्त कर दिया।' वे भयभीत हो मन्त्री-

* यह कथा एक बंगला पुस्तकके आधारपर संक्षेपमे लिखी गयी है।

सहित घोड़ेके पीछे-पीछे विष्णुपुरके राजा गोपालसिंहके पास मन्दिरमे आकर उनके शरणापन्न हुए। उन्होने राजाके चरणोंमे पड़कर अपराधके लिये क्षमा माँगी। राजा गोपालसिंहने पूछा—'अपराध किस बातका?' इसपर शत्रु-सेनापतिने सारा हाल आद्योपान्त कह सुनाया कि 'आपके एक ही घुड़सवार वीर पुरुषने तोपोके गोलेद्वारा हमारी सारी सेनाको तहस-नहस करके पराजित कर दिया। आपके पास ऐसे कितने वीर पुरुष है?' राजा गोपालसिंहने कहा—'हमारे पास तो ऐसा कोई सवार नहीं है, जो घोड़ेपर तोप बाँधकर युद्ध करे।' सेनापति बोले—'यह तो प्रत्यक्ष घटना है। दोनो तोपें लाल-बाँधके इधर-उधर पड़ी हैं और घोड़ा मन्दिरके अहातेमे मन्दिरके दरवाजेके बाहर मौजूद है एवं घुड़सवारको हमने स्वयं इस सभामण्डप-मे प्रवेश करते देखा है।' यह सुनकर राजाको बड़ा आश्चर्य हुआ।

दोनों वहाँसे सभामण्डपके भीतर गये तो शत्रुसेनापतिने मदन-मोहनकी विशाल मूर्तिको देखकर तुरंत कहा कि 'बस, ये ही तो थे।' तब राजा गोपालसिंहने भगवान् मदनमोहनके वस्त्रोंको देखा तो वे पसीनेसे भीगे हुए थे। राजा गोपालसिंह करुणभावसे अश्रुपात करते हुए बोले—'मै बड़ा ही राज्यलोलुप हूँ। मेरे इस तुच्छ कामके लिये आपको युद्धमे जाना पड़ा।' फिर उन्होने शत्रुसेनापतिको आश्वासन देकर आदरपूर्वक बिदा कर दिया और कहा—'आप धन्यभाग्य है, जो आपको साक्षात् भगवान्के दर्शन हुए। आपने जो कुछ आश्चर्य देखा है, यह सब इन भृत्यवत्सल शरणागतपालक दयासिन्धु भगवान् मदनमोहनजीकी ही लीला है।'

उन दोनो तोपोमेसे एक तो लालबाँध तालाबके कच्चे परकोटेके

बाहर पास ही पड़ी हुई अभी मौजूद है और सुना जाता है कि दूसरी लालबाँध तालावके कीचड़मे धँस गयी है। इन्हीं दोनों तोपोंका नाम 'दल-मादल' था। ये दोनो तोपे राज्यमे पहलेसे ही थीं या स्वयं भगवान् ही इन्हे लाये, यह तो भगवान् ही जाने, पर जो तोप मौजूद है, उसकी लम्बाई करीब १२॥ फुट और उसके पीछेके गोलेका माप करीब ८ फुट है तथा गोले निकलनेका तोपका मुँह करीब १ फुट है। उसे देखनेसे मालूम होता है कि उस जमानेमे इतनी बड़ी तोप ढालनेका कोई यन्त्र नहीं था और वह धातु भी इतनी चिकनी तथा अद्भुत-सी प्रतीत होती है, जैसे कई धातु मिलाकर बनायी गयी हो। सैकड़ो वर्ष बीतनेपर भी उसपर कहीं कोई जंग बिल्कुल नही लगा है। दूसरे, यह भी आश्चर्य होता है कि इतनी-इतनी बड़ी दो तोपे एक घोड़ेपर लादना और उनका चलाना, कैसे सम्भव हुआ। इसीसे यह अनुमान होता है कि ये तोपे स्वयं भगवान्के द्वारा ही लायी हुई है। भगवान्के लिये सभी कुछ सम्भव है; वे असम्भवको भी सम्भव कर सकते हैं। वास्तवमे क्या बात है, सो तो भगवान् ही जानें।

तर्कवादी लोग कहते हैं कि 'यह सब 'मिथ्या कल्पनामात्र' है। नामकीर्तनसे शत्रुसेनापर विजय प्राप्त करनेकी बात करना निरा पागलपन है और भगवान्ने तोप चलाकर शत्रुको परास्त कर दिया, यह तो सर्वथा अयुक्त है। साथ ही 'शत्रुसेना सिरपर खड़ी हो और कोई सबको लेकर कीर्तन करने बैठ जाय'—यह तो प्रत्यक्ष कर्तव्यविमुखता है।'

कर्तव्यकी दृष्टिसे बात सर्वथा सत्य है। जिनकी भगवान्में

पूर्ण विश्वासयुक्त निर्भरता नहीं है, वे यदि मोहवश भगवान्‌के नामकी मिथ्या आड़ लेकर बैठ जायँ अथवा भयसे कर्तव्यविमुख होकर अपनी कमजोरी छिपानेके लिये कोई कीर्तनका ढोंग करें तो अवश्य ही उनका कार्य पागलपन और अयुक्त है तथा कर्तव्यविमुखता भी स्पष्ट है और उन्हे सफलता भी नहीं मिल सकती; परंतु जिनको पूर्ण विश्वास है, उनके लिये न तो यह कल्पना है, न पागलपन और न अयुक्त ही है। उनके लिये तो यह ज्वलन्त सत्य है। प्राचीन तथा अर्वाचीन ग्रन्थोंमें ऐसे बहुत-से उदाहरण मिलते हैं, जहाँ भगवान्‌ने भक्तोंके कार्य स्वयं किये है। बर्बरीकने बताया था कि 'रणक्षेत्रमे केवल श्रीकृष्णका ही चक्र चल रहा था।' राणा जयमल्लके लिये भगवान्‌ने उनके शत्रुसे लड़कर उसे परास्त किया था। और भी अनेकों कथाएँ है। गीतामें भगवान्‌ने जो 'योगक्षेमं वहाम्यहम्' की प्रतिज्ञा की है, उसके अनुसार भगवान्‌का ऐसा करना स्वाभाविक ही है। चाहिये विश्वासपूर्ण सच्ची निर्भरता! महात्मा गाँधी तो बड़े बुद्धिमान् थे, उन्होने भी एक स्थानपर कहा है—'मै बिना किसी हिचकिचाहटके कह सकता हूँ कि लाखों आदमियोद्वारा सच्चे दिलसे एक ताल और लयके साथ गायी जानेवाली रामधुनकी ताकत फौजी ताकतके दिखावेसे बिल्कुल अलग और कई गुना बढ़ी-चढ़ी है।' इतनेपर भी सर्वसाधारणके लिये उचित और सुरक्षित यही है कि 'भगवान्‌का-स्मरण करते हुए कर्तव्यका पूर्णरूपसे पालन किया जाय।' इसमें भगवद्विश्वास भी है और कर्तव्यपालन भी! विश्वासी पुरुषोंको इस इतिहाससे अपने विश्वासको और भी सुपुष्ट और सुदृढ़ करना चाहिये।

भक्त बननेका सरल साधन

योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना ।
श्रद्धावान्भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः ॥
(गीता ६ । ४७)

'सम्पूर्ण योगियोमे भी जो श्रद्धावान् योगी मुझमे लगे हुए अन्तरात्मासे मुझको निरन्तर भजता है, वह योगी मुझे परम श्रेष्ठ मान्य है ।'

परमात्माकी प्राप्तिके लिये शास्त्रोंमें भक्तियोग, ज्ञानयोग, कर्मयोग, अष्टाङ्गयोग आदि बहुत-से उपाय बतलाये गये हैं, किंतु भक्तियोग सबसे सुगम होनेके कारण मनुष्योंके लिये सर्वोत्तम है; क्योंकि भक्तियोगमे स्त्री, पुरुष, बालक और सभी वर्ण-आश्रमके मनुष्योंका अधिकार है और सबके लिये यह सहज भी है (गीता ८ । १४) । कैसा भी पापी क्यो न हो, भगवान्की भक्तिके प्रभावसे उसका भी शीघ्र उद्धार हो जाता है । श्रीभगवान्ने कहा है—

अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक् ।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः ॥
क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति ।
कौन्तेय प्रति जानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति ॥
(गीता ९ । ३०-३१)

'यदि कोई अतिशय दुराचारी भी अनन्यभावसे मेरा भक्त होकर मुझको भजता है तो वह साधु ही मानने योग्य है; क्योंकि वह यथार्थ निश्चयवाला है—अर्थात् उसने भलीभाँति निश्चय कर

लिया है कि परमेश्वरके भजनके समान अन्य कुछ भी नहीं है। इसलिये वह शीघ्र ही धर्मात्मा हो जाता है और सदा रहनेवाली परम शान्तिको प्राप्त होता है। अर्जुन! तू निश्चयपूर्वक सत्य जान कि मेरा भक्त नष्ट नहीं होता।'

इसी प्रकार जातिसे भी नीच-से-नीचका उद्धार हो सकता है। श्रीभगवान् कहते है—

मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः।
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम्॥

(गीता ९। ३२)

'अर्जुन! स्त्री, वैश्य, शूद्र तथा पापयोनि—चाण्डालादि जो कोई भी हों, वे भी मेरी शरण होकर परम गतिको ही प्राप्त होते हैं।'

जिसकी मृत्यु निकट आ पहुँची है, भक्तिके प्रतापसे उसे भी तत्क्षण परमात्माकी प्राप्ति हो सकती है। गीतामे कहा है—

अन्तकाले च मामेव स्मरन्मुक्त्वा कलेवरम्।
यः प्रयाति स मद्भावं याति नास्त्यत्र संशयः॥

(८। ५)

'जो पुरुष अन्तकालमें भी मुझको ही स्मरण करता हुआ शरीर त्यागकर जाता है, वह मेरे साक्षात् स्वरूपको प्राप्त होता है—इसमें कुछ भी संशय नहीं है।'

यदि कहें कि बिना ज्ञानके कल्याण नहीं हो सकता, सो ठीक है; किंतु भगवान्‌की भक्तिके प्रभावसे उसको ज्ञानकी प्राप्ति भी भगवत्कृपासे हो जाती है।

गीतामें स्वयं भगवान्‌ने कहा है—

तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते॥
तेषामेवानुकम्पार्थमहमज्ञानजं तमः।
नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता॥
(१०। १०-११)

'निरन्तर मेरे ध्यान आदिमे लगे हुए और प्रेमपूर्वक भजनेवाले उन भक्तोंको मै वह तत्त्वज्ञानरूप बुद्धियोग देता हूँ, जिससे वे मुझको ही प्राप्त होते है। अर्जुन! उनके ऊपर अनुग्रह करनेके लिये उनके अन्तःकरणमें स्थित हुआ मै स्वयं ही उनके अज्ञानजनित अन्धकारको प्रकाशमय तत्त्वज्ञानरूप दीपकके द्वारा नष्ट कर देता हूँ।'

इससे यह बात सिद्ध हुई कि मनुष्योंके लिये भगवान्‌की प्राप्ति बहुत ही सुगम है, चाहे वे जाति और आचरणोंसे नीच तथा चाहे जैसे भी मूर्ख क्यो न हों। भगवान्‌मे श्रद्धा-प्रेम होना चाहिये, फिर उनका भक्तिके प्रभावसे सुगमतापूर्वक शीघ्र उद्धार हो सकता है।

गीता, रामायण और भागवत आदि ग्रन्थोंमें भगवद्भक्तिकी जितनी महिमा मिलती है, उतनी और किसी भी साधनकी नही मिलती। इसलिये सर्वोपयोगी समझकर भक्तिका साधन करनेके लिये भलीभाँति परिश्रम करना चाहिये। यों तो सभी युगोमें सदा ही भक्तिका साधन सुगम बतलाया है, किंतु कलियुगमें तो इसकी और भी विशेष महिमा गायी गयी है। श्रीवेदव्यासजीने कहा है—

कलिं सभाजयन्त्यार्या गुणज्ञाः सारभागिनः।
यत्र संकीर्तनेनैव सर्वः स्वार्थोऽभिलभ्यते॥
(श्रीमद्भा० ११। ५। ३६)

'कलियुगमे केवल नाम-संकीर्तनसे ही सारे स्वार्थ और परमार्थ प्राप्त हो जाते हैं, इसलिये उस युगका गुण जाननेवाले सारग्राही श्रेष्ठ पुरुष कलियुगका बड़ा आदर करते है।'

इन सब बातोंसे यह सिद्ध हुआ कि परमात्माकी प्राप्ति कलियुगमे बहुत ही सुगमतासे शीघ्र हो सकती है।

हमलोगोंपर ईश्वरकी बड़ी कृपा है कि हमलोगोंका उत्तम देश, उत्तम काल, उत्तम जाति और उत्तम धर्ममे जन्म हुआ। और भी हमपर ईश्वरकी यह विशेष कृपा है कि हमे ऐसे कलिकालमे समय-समयपर सत्सङ्ग और स्वाध्याय करनेका अवसर भी मिल जाता है। आत्मोद्धारके लिये तीनों लोकोंमे यह पृथ्वी उत्तम है और पृथ्वीमे भी यह भारतभूमि सर्वोत्तम मानी गयी है। पूर्वकालमें समस्त पृथ्वीके लोग इस भारतभूमिमे आकर ही शिक्षा लिया करते थे। इसीलिये मनु महाराजने कहा है—

एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः।
स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवाः॥
(२।२०)

'इस देश (भारतवर्ष) मे उत्पन्न हुए ब्राह्मणोंके पाससे अखिल भूमण्डलमे निवास करनेवाले सभी मनुष्य अपने-अपने आचारकी शिक्षा लिया करे।'

हमलोगोका जन्म और निवास उसी भारतभूमिमें है। अभी काल भी हमलोगोके लिये बहुत ही उत्तम है। कलियुग समस्त दोषोंकी खान होते हुए भी इसमें यह एक विशेष गुण है कि

इसमें भगवान्‌की भक्तिसे मनुष्यका अनायास ही उद्धार हो जाता है। श्रीस्कन्दपुराणमे बतलाया है—

कलेर्दोषनिधेश्चैव शृणु चैकं महागुणम्।
यदल्पेन तु कालेन सिद्धिं गच्छन्ति मानवाः॥
(स्क० मा० कुमा० ३५। ११५)

'कलियुग समस्त दोषोंका खजाना है; साथ ही इसमें एक महान् गुण भी है, उसे सुनो। इसमे थोड़े ही समयतक साधन करनेसे मनुष्य सिद्धिको प्राप्त हो जाते है।'

श्रीतुलसीदासजी भी कहते है—

कलिजुग सम जुग आन नहिं जौं नर कर बिस्वास।
गाइ राम गुन गन बिमल भव तर बिनहिं प्रयास॥

मनुष्यशरीरमे ही परमात्मप्राप्तिका मुख्यतया अधिकार है, इसलिये शास्त्रोमें जगह-जगह मनुष्यशरीरकी भूरि-भूरि प्रशंसा की गयी है। श्रीतुलसीदासजी कहते है—

बड़ें भाग मानुष तनु पावा। सुर दुर्लभ सद ग्रंथन्हि गावा॥

धर्म भी जितने हैं, उनमे वैदिक सनातनधर्म अनादि और सर्वोत्तम है। यो तो धर्मके नामसे संसारमे बहुत-से मत-मतान्तर प्रचलित हैं; किंतु जिनको करोड़ों मनुष्य मानते हों, ऐसे चार ही धर्मके नामसे इस समय विशेष प्रचलित हैं। हिंदूधर्म, बौद्धधर्म, मुस्लिमधर्म और ईसाईधर्म। इनपर विचार करके देखनेसे जो वैदिक सनातन हिंदूधर्म है, वही सबसे पहलेका सिद्ध होता है। श्रीगौतमबुद्धका प्रचलित किया हुआ बौद्धधर्म करीब ढाई हजार वर्षसे है; क्योकि इसके प्रचारक स्वयं बुद्धदेवको हुए करीब

इतना ही समय हुआ है। ईसाईधर्म भी दो हजार वर्षके अंदर ही प्रचलित हुआ सिद्ध होता है; क्योंकि इसके प्रचारक जो संत ईसा है, उन्हे हुए १९५६ वर्ष ही हुए है। इस्लामधर्मका मूलग्रन्थ जो कुरानशरीफ है, उस कुरानके प्रकाशक हजरत मुहम्मदको हुए भी करीब चौदह सौ वर्ष हुए हैं। किंतु वैदिक सनातनधर्मके कालका कोई भी निर्णय नहीं कर सकता कि यह इतने वर्षोंसे है; क्योंकि यह अपौरुषेय और अनादि है। संसारमे जितने भी मत-मतान्तर धर्मके नामसे प्रचलित है, उन सभी धर्मवालोंको इस वैदिक धर्मसे ही मदद मिली है। मनुष्योंकी बुद्धियाँ विचित्र होनेके कारण नाना प्रकारके मत-मतान्तर और सम्प्रदायोंकी सृष्टि हो गयी; अतः श्रुति-स्मृतिकथित जो सनातनधर्म है, इसे ही सर्वोत्तम कहा जाय तो कोई अत्युक्ति नहीं है। हमारे इस धर्मके मूल मन्त्रब्राह्मणात्मक वेद है; उनकी अनेक शाखाएँ थीं, जिनमेंसे बहुत-सी विधर्मियोंद्वारा नष्ट कर दी गयीं। फिर भी मूलभूत मन्त्र और ब्राह्मण-भाग आज भी प्राप्त है। ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद—इन चारो संहिताओको मन्त्रभाग कहते है तथा ऐतरेय, तैत्तिरीय, शतपथ ब्राह्मण आदि एवं और भी अधिकांश उपनिषद् ब्राह्मणभाग हैं। यह वैदिक धर्म अनादिकालसे चला आता है, इसीलिये इसको सनातनधर्म माना गया है। ऐसे सनातनधर्मके माननेवाले मनुष्योंमे हमारा जन्म हुआ है।

इसके सिवा, हमे जो समय-समयपर सत्पुरुषोंका सङ्ग प्राप्त हो जाता है, यह भगवान्‌की विशेष दया है। श्रीस्कन्दपुराणमे कहा है—

तदैव जीवस्य भवेत्कृपा विभो
दुरन्तशक्तेस्तव विश्वमूर्ते ।
समागमः स्यान्महतां हि पुंसां
भवाम्बुधिर्येन हि गोष्पदायते ॥
सत्सङ्गमो देव यदैव भूयात्
तर्हीश देवे त्वयि जायते मतिः ।
(स्क० वै० वै० मा० १६ । १८-१९)

'प्रभो ! विश्वमूर्ते ! जीवपर जब आप अनन्तशक्ति परमेश्वरकी कृपा होती है, तभी उसे महापुरुषोंका सङ्ग प्राप्त होता है, जिससे निश्चय ही यह संसारसमुद्र गोपदके समान हो जाता है; तथा देव ! परमेश्वर ! जब सत्सङ्ग मिलता है, तभी आप परम देवमे निश्चयपूर्वक पूर्ण श्रद्धा होती है ।'

श्रीतुलसीदासजी कहते है—

संत विसुद्ध मिलहिं परि तेही । चितवहिं राम कृपा करि जेही ॥

तथा भक्त विभीषणने हनुमान्‌जीसे कहा है—

अब मोहि भा भरोस हनुमंता । बिनु हरि कृपा मिलहिं नहिं संता ॥

इस प्रकार भगवान्‌की दयासे सब संयोग मिल जानेपर भी हमलोग भगवान्‌की प्राप्तिसे वञ्चित रह जायँ तो यह हमारे लिये बहुत ही दुःख और लज्जाकी बात है ! श्रीगोस्वामीजी कहते हैं—

जो न तरइ भव सागर नर समाज अस पाइ ।
सो कृत निंदक मंदमति आत्माहन गति जाइ ॥

अतएव हमलोगोंको इस अमूल्य मनुष्यजीवनको पाकर शरीर और संसारसे मोह हटाकर तन-मन-धनसे परमात्माकी प्राप्तिके लिये

तत्परताके साथ प्राणपर्यन्त चेष्टा करनी चाहिये, नहीं तो आगे जाकर घोर पश्चात्ताप करना पडेगा । श्रीतुलसीदासजी कहते हैं—

सो परत्र दुख पावइ सिर धुनि धुनि पछिताइ ।
कालहि कर्महि ईस्वरहि मिथ्या दोष लगाइ ॥

इन सब बातोंको सोचकर मनुष्यको परमात्माकी प्राप्तिके लिये शीघ्रातिशीघ्र साधनमे लग जाना चाहिये; क्योंकि मृत्युका कोई भरोसा नही, न मालूम किस समय आकर प्राप्त हो जाय ।

हमलोगोंको यह समझना चाहिये कि भगवान् ही हमारे जीवनके आधार है, भगवान्‌के बिना संसारमे हमारे उद्धारका कोई उपाय नहीं है । हम भगवान्‌के बिना जी नहीं सकते । इस प्रकारकी अत्यन्त आवश्यकता समझनेसे भी भगवान्‌की प्राप्ति शीघ्र हो सकती है । जो इस प्रकार समझता है, वह भारी-से-भारी संकट पड़नेपर भी भगवान्‌को भुला नहीं सकता । जैसे राजा उत्तानपादके पुत्र भक्त ध्रुव ध्यानमे मग्न थे, उस समय राक्षसोंके अनेको विघ्न करनेपर भी वे विचलित नहीं हुए, वरं भगवान्‌के ध्यानमे ही मस्त रहे । तब भगवान्‌ने उनको शीघ्र ही दर्शन दे दिये । ध्रुवजीको सत्ययुगमें जप, तप और ध्यानके तीव्र अभ्याससे साढ़े पाँच महीनेमे भगवान् मिले; किंतु इस कलिकालमे तो उस प्रकारका जप, तप और ध्यान करनेपर और भी शीघ्र भगवान् मिल सकते है । श्रीस्कन्दपुराणमें बतलाया है—

दशवर्षैस्तु यत्पुण्यं क्रियते तु कृते युगे ।
त्रेतायामेकवर्षेण तत्पुण्यं साध्यते नृभिः ॥

द्वापरे तच्च मासेन तद्दिनेन कलौ युगे। *
(स्क० ब्रा० से० मा० ४२ । ३-४)

'सत्ययुगमे दस वर्षोंतक साधन करनेसे मनुष्य जिस पुण्यका संग्रह करते है, त्रेतामे उसी पुण्यको एक वर्षमे सिद्ध कर लेते हैं और द्वापरमे उसीको एक मासमे एवं कलियुगमे उसे एक दिनमें ही सिद्ध कर लेते है ।'

त्रेतायां वार्षिको धर्मो द्वापरे मासिकः स्मृतः ।
यथाक्लेशं चरन् प्राज्ञस्तदह्ना प्राप्यते कलौ ॥
(स्क० मा० कुमा० ३५ । ११७)

'त्रेतामे एक वर्षतक तथा द्वापरमे एक मासतक क्लेश-सहनपूर्वक धर्मानुष्ठान करनेवाले बुद्धिमान् पुरुषको जो फल प्राप्त होता है, वह कलियुगमे एक दिनके अनुष्ठानसे मिल जाता है ।'

इस प्रकार यदि हिसाब लगाकर देखा जाय तो इस कलियुगमे ध्रुवकी तरह साधन करनेपर करीब तीन घड़ीमे ही भगवान् मिल जाने चाहिये । यदि कहें कि 'हम उनकी तरह श्वास रोकनेमें असमर्थ है' तो ठीक है; आपको तीन घड़ीके स्थानमे बिना श्वास रोके साधन करनेसे भी तीन दिनमे तो मिल ही जाने चाहिये । यदि कहें कि 'हम तीन दिनतक एक पैरसे खड़े भी नहीं रह सकते' तो ठीक है; ऐसी अवस्थामें आपको बैठकर साधन करनेपर तीन दिनकी जगह छः दिनमे तो मिलने ही चाहिये । यदि आप मल-मूत्रका अवरोध तथा भूख-प्यास

* इसी आशयका श्रीविष्णुपुराणके छठे अंशके दूसरे अध्यायका १९ वॉ श्लोक भी है ।

और निद्राका सर्वथा त्याग नहीं कर सकते तो इन सबका त्याग न करके भी आठ पहरमे केवल एक बार दूध, फल खाकर ही ध्रुवकी तरह नामका जप, स्वरूपका ध्यान निरन्तर करे तो भी ध्रुवके जितने समयमे तो भगवान् मिलने ही चाहिये; नहीं तो फिर कलियुगकी क्या विशेषता रही। इस कलियुगमे इतनी छूट तो है ही। श्रीतुलसीदासजीने भी कहा है—

पय अहार फल खाइ जपु रामनाम षट मास।
सकल सुमंगल सिद्धि सब करतल तुलसीदास॥

(दोहावली)

'छः महीनेतक केवल दूधका आहार करके अथवा फल खाकर रामनामका जप करो। श्रीतुलसीदासजी कहते है कि ऐसा करनेसे सब प्रकारके सुमङ्गल और सब सिद्धियाँ करतलगत हो जाती है अर्थात् अपने-आप ही मिल जाती है।'

इसमे प्रधान बात यह है कि और कुछ भी न बन सके तो छः महीनेतक लगातार भजन-ध्यानका तार तो टूटना ही नहीं चाहिये तथा वह भजन-ध्यान सकाम यानी सांसारिक पदार्थोंके लिये नहीं, केवल भगवान्‌की प्राप्तिके लिये विश्वासपूर्वक निष्काम प्रेमभावसे होना चाहिये।

यह छः महीनेकी बात हमारे श्रद्धा-प्रेमकी कमीका ही दिग्दर्शन है, नहीं तो भगवान्‌मे विशुद्ध और अनन्य प्रेम होनेसे तो निद्रा, भूख और प्यासकी परवा ही नहीं होती तथा फिर उसे भगवान्‌के सिवा किसी दूसरी चीजकी तो बात ही क्या, अपने देहकी भी सुध-

बुध नहीं रहती । ऐसी दशा होनेपर तो भगवान् विलम्ब नहीं कर सकते, उसी समय मिल सकते है; क्योंकि भगवान्‌के मिलनेमें कालका नियम नहीं है, केवल मिलनेकी तीव्र लगन और उत्कट इच्छा होनी चाहिये ।

लगन लगन सब कोइ कहै लगन कहावै सोइ ।
नारायन जिस लगन में तन मन दीजै खोइ ॥

सगरवंशी महाराज विश्वसहके पुत्र राजा खट्वाङ्गकी बात श्रीमद्भागवतमें आती है । जब उन्होंने देवताओंसे पूछा कि 'मेरी आयु कितनी शेष है', तब देवताओंने कहा कि 'तुम्हारी आयु दो घड़ी ही बाकी है ।' यह सुनकर राजा सब कामोंको छोड़कर परमात्माके ध्यानमें तन्मय हो गये और इस प्रकारकी उनकी तीव्र लगनसे दो घड़ीमें ही वे भगवान् श्रीहरिको प्राप्त हो गये ।

परमात्माकी प्राप्तिके लिये बहुत समयकी आवश्यकता नहीं है, केवल परमात्माके मिलनकी तीव्र इच्छा होनी चाहिये; तीव्र इच्छा होनेके साथ ही परमात्मा मिल जाते हैं, विलम्ब नहीं करते । उदाहरणके लिये, कोई आदमी पैर फिसल जानेसे नदीके पानीमें डूब जाय और तैरना न जानता हो तो वह बाहर निकलनेके लिये बहुत आतुर हो जाता है, छटपटाने लगता है और उस समय उसे बाहरका ही लक्ष्य लगातार बना रहता है; उसकी यह बाहर निकलनेकी जो छटपटाहट है, इसीका नाम तीव्र इच्छा है । इसी प्रकार जिसकी संसार-सागरसे बाहर निकलनेकी तीव्र इच्छा हो जाती है तथा जिसके परमात्माका ही निरन्तर लक्ष्य होता है, उसका स्वयं भगवान् तुरंत भवसागरसे उद्धार कर देते है । श्रीमद्भगवद्गीतामें कहा है—

तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात् ।
भवामि नचिरात्पार्थ मय्यावेशितचेतसाम् ॥
(१२ । ७)

'अर्जुन ! मुझमें चित्त लगानेवाले उन प्रेमी भक्तोंका मै शीघ्र ही मृत्युरूप संसार-समुद्रसे उद्धार करनेवाला होता हूँ ।'

उपर्युक्त तीव्र लगन और उत्कट इच्छा श्रद्धापूर्वक अनन्य विशुद्ध प्रेम-से ही होती है । जब साधकका भगवान्‌मे अनन्य विशुद्ध प्रेम हो जाता है, तब उसको तुरंत भगवान्‌की प्राप्ति हो जाती है । अनन्य प्रेमका लक्षण यह है कि वह प्रेमास्पदके वियोगको सहन न कर सके, वह भगवान्‌के विरहमें भरतजीकी भाँति व्याकुल हो जाय और भगवान्‌के वियोगमे उसके प्राण जानेकी तैयारी हो जाय । श्रीतुलसी-दासजीने भरतजीकी दशाका वर्णन करते हुए कहा है—

राम बिरह सागर महँ भरत मगन मन होत ।
बिप्र रूप धरि पवनसुत आइ गयउ जनु पोत ॥

प्रेमास्पदके वियोगमे इस प्रकारकी विरह-व्याकुलता हो जानेपर फिर भगवान्‌के आनेमे विलम्ब नहीं होता । अतः जैसे मछली जलके वियोगमे जलके लिये तड़फड़ाती है, उसी प्रकारकी तड़पन हमलोगोंमें भगवान्‌के लिये होनी चाहिये । यदि कहें कि 'मछली तो जलके वियोगमें तड़पकर मर जाती है, किंतु उसे जल आकर नहीं मिलता' सो ठीक है । पर जल तो जड है, भगवान् जलकी तरह जड नहीं है; वे चेतन तथा परम प्रेमी और दयालु हैं, वे भला कैसे रुक सकते है ! उनकी तो यह प्रतिज्ञा है कि 'जो मुझे जैसे भजते है, उन्हें मैं वैसे ही भजता हूँ (गीता ४ । ११) ।'

जैसे चकोर पक्षी पूर्णिमाके चन्द्रमाको, जबतक चन्द्रमा छिपता नहीं, तबतक एकटक देखता ही रहता है, उसी प्रकार भगवान्‌का नित्य-निरन्तर ध्यान करनेसे भगवान् सहजमे ही मिल जाते है। भगवान् कहते हैं—

अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः।
तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः॥
(गीता ८। १४)

'हे अर्जुन! जो पुरुष मुझमें अनन्यचित्त होकर सदा ही निरन्तर मुझ पुरुषोत्तमको स्मरण करता है, उस नित्य-निरन्तर मुझमें युक्त हुए योगीके लिये मैं सुलभ हूँ अर्थात् सहज ही प्राप्त हो जाता हूँ।'

यदि कहे कि 'चकोर पक्षीके तो चन्द्रमा प्रत्यक्ष ही सम्मुख है, इसलिये उसे सुगमता है' सो ठीक है; किंतु श्रद्धा-भक्ति हो तो हमारे लिये भी भगवान् प्रत्यक्ष ही हैं और यदि श्रद्धा-भक्ति नहीं है तो प्रत्यक्ष और निकट होनेपर भी दूर ही हैं। जब भगवान् श्रीकृष्ण मौजूद थे, उस समय जिनकी उनमे श्रद्धा-भक्ति नहीं थी, ऐसे दुर्योधनादिके लिये भगवान् मौजूद और निकट रहते हुए भी दूर ही थे, प्राप्त होते हुए भी अप्राप्त थे; किंतु ध्रुव आदिके अप्राप्त और दूर होते हुए भी भगवान्‌में परम श्रद्धा और अनन्य प्रेम होनेके कारण निकट ही थे। अतः जिस प्रकार ध्रुवजीने देवर्षि नारदजीके वचनोंको लक्ष्य बनाकर ध्यान किया, उसी प्रकार हमलोगोको गीता, रामायण और भागवत आदि ग्रन्थों तथा महात्माओंके वचनोंके अनुसार लक्ष्य बनाकर श्रद्धा-प्रेमपूर्वक ध्यान करना चाहिये एवं भगवान्‌के ध्यानरूप

अपने उस लक्ष्यको भारी-से-भारी कष्ट पड़नेपर भी पपीहेकी भाँति नहीं छोड़ना चाहिये। यद्यपि सभी बादल नही बरसते, किंतु पपीहा साधारण बादलको देखकर भी 'पिउ-पिउ' करने लगता है और उन बादलोमेसे ही कोई बरस भी जाता है। इसी प्रकार हमलोगोंको भी भगवान्‌के भक्तोंको देखकर भगवान्‌के मिलनेकी इच्छा और आशा रखनी चाहिये। जब पपीहेपर ओले पड़ते है और उसके पंख टूट जाते है, तब भी वह अपनी टेकको नहीं छोड़ता और बूँदकी आशा लगाये रहता है, इसी प्रकार हमलोगोंको भारी कष्ट पड़नेपर भी भगवान्‌के स्वरूपका लक्ष्य नहीं छोड़ना चाहिये और भगवत्प्राप्तिरूप बूँदकी आशा लगाये रहना चाहिये। पपीहेका यह नियम है कि चाहे उसके प्राण भले ही चले जायँ, वह बादलोंसे बरसते हुए बूँद-को ही ग्रहण करता है, दूसरे जलकी कभी इच्छा ही नहीं करता; इसी प्रकार हमे भगवान्‌की प्राप्तिके अतिरिक्त संसारके अन्य भोगोंकी कभी इच्छा ही नहीं करनी चाहिये। इस प्रकारकी तीव्र इच्छा और आवश्यकता होते हुए भी पपीहेको तो शायद जल न भी मिले, किंतु भगवान् तो तीव्रतम इच्छावाले साधकको अवश्य ही मिलते है; क्योंकि पपीहेको तो जलकी आवश्यकता है, पर जड होनेके कारण जलको तो पपीहेकी आवश्यकता नहीं है, परंतु जिस प्रकार भक्त भगवान्‌के लिये आतुर है, भगवान् भी भक्तके लिये वैसे ही आतुर है। भगवान् कहते हैं—

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।

(गीता ४। ११)

इसके सिवा भगवान्‌ने यह भी कहा है—

समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः।
ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम्॥
(गीता ९। २९)

'मैं सब भूतोंमें समभावसे व्यापक हूँ, न कोई मेरा अप्रिय है और न प्रिय है; परंतु जो भक्त मुझको प्रेमसे भजते हैं, वे मुझमें हैं और मैं भी उनमें प्रत्यक्ष प्रकट हूँ।'

जो ज्ञानी भक्त भगवान्‌को निष्काम प्रेमभावसे भजता है और भगवान् जिसे अत्यन्त प्यारे हैं, भगवान्‌को भी वह अत्यन्त प्यारा है; यह भगवान्‌की घोषणा है—

तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते।
प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः॥
(गीता ७। १७)

'उनमें नित्य मुझमें एकीभावसे स्थित अनन्य प्रेमभक्तिवाला ज्ञानी भक्त अति उत्तम है, क्योंकि मुझको तत्त्वसे जाननेवाले ज्ञानीको मैं अत्यन्त प्रिय हूँ और वह ज्ञानी मुझे अत्यन्त प्रिय है।'

अतएव हमें भगवान्‌में अनन्य और विशुद्ध प्रेम होनेके लिये श्रद्धा-भक्तिपूर्वक ध्यानका नित्य-निरन्तर निष्कामभावसे अभ्यास करना चाहिये।

हमें या तो हर समय इस प्रकार भगवान्‌का ध्यान करना चाहिये कि 'जैसे वायु, तेज, जल, पृथ्वीके अंदर आकाश व्याप्त है, इसी प्रकार सबमें भगवान् व्यापक है और सब कुछ भगवान्‌के एक अंशमें है।' गीतामें बतलाया है—

योगेश्वर

यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति।
तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति॥
(गीता ६। ३०)

'जो पुरुष सम्पूर्ण भूतोंमें सबके आत्मरूप मुझ वासुदेवको ही व्यापक देखता है और सम्पूर्ण भूतोंको मुझ वासुदेवके अन्तर्गत देखता है, उसके लिये मैं अदृश्य नहीं होता और वह मेरे लिये अदृश्य नहीं होता।'

भगवान्‌के बतलाये हुए इस उपर्युक्त साधनको निरन्तर उत्साहके साथ करना चाहिये। अथवा वस्तुमात्रको भगवान्‌का स्वरूप और चेष्टामात्रको भगवान्‌की लीला समझ-समझकर हर समय आनन्दमें मुग्ध होना चाहिये; क्योंकि संसारमें जो कुछ भी वस्तु है, स्वयं भगवान् ही उसके रूपमें बने हैं। उपनिषदोंमें बतलाया है कि पहले एक भगवान् ही थे, फिर उनमें यह इच्छा हुई कि 'मैं बहुत हो जाऊँ' —'सोऽकामयत। बहु स्यां प्रजायेयेति।' (तैत्तिरीय० २।६) तब भगवान् स्वयं ही अनेक रूप हो गये। द्वापरयुगमें जब ब्रह्माजीने ग्वाल-बालों और बछड़ोंको ले जाकर गुफामें छिपा दिया था, उस समय स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण ही ग्वाल-बाल और बछड़ोंके रूपमें प्रकट हो गये और लीला करने लगे। श्रीमद्भागवतमें कहा है—

यावद्वत्सपवत्सकाल्पकवपुर्यावत्कराङ्घ्र्यादिकं
यावद्यष्टिविषाणवेणुदलशिग्यावद्विभूषाम्बरम्।
यावच्छीलगुणाभिधाकृतिवयो यावद्विहारादिकं
सर्वं विष्णुमयं गिरोऽङ्गवदजः सर्वस्वरूपो बभौ॥
(श्रीमद्भा० १०।१३।१९)

'जितने बछड़े और ग्वाल-बाल थे; जैसे उनके छोटे-छोटे शरीर थे;

जैसे हाथ-पैर आदि अङ्ग थे; जैसी और जितनी उनकी छड़ियाँ, सींग, बाँसुरी, पत्ते और छींके थे; जैसे और जितने उनके वस्त्र, आभूषण थे; जैसे उनके शील, स्वभाव, गुण, नाम, आकृति और अवस्थाएँ थीं और जैसा उनका चलना-फिरना आदि था; ठीक वैसे-के-वैसे ही और उतने ही रूपोंमें सर्वस्वरूप अजन्मा भगवान् सुशोभित हुए । उस समय 'यह सब जगत् विष्णुमय है'—यह वेद-वाणी मानो मूर्तिमती होकर प्रकट हो गयी ।'

इसी प्रकार हमें पदार्थमात्रको भगवान्‌का स्वरूप और चेष्टामात्रको भगवान्‌की लीला समझकर क्षण-क्षणमें आनन्दमें मुग्ध होना चाहिये । भक्तोंके लिये यह साधन बहुत ही उत्तम और सरल है ।

जैसे नेत्रोंपर हरे रंगका चश्मा लगा लेनेपर सारा संसार हरे रंगका दीखने लग जाता है, इसी प्रकार हृदयरूपी नेत्रपर 'श्रीहरि'के भावका चश्मा लगानेसे सारा संसार वस्तुतः भगवान् श्रीहरिके रूपमें ही दीखने लग जाता है । हरे रंगके चश्मेकी अपेक्षा इसमें यह विशेषता है कि संसार तो विभिन्न रंगोंवाला है, चश्मेके प्रभावसे हमें हरा रंग प्रतीत होता है; पर यह संसार तो वास्तवमें श्रीहरिका रूप ही है, अज्ञानके कारण हम इस रहस्यको नहीं समझते, इसीलिये हमें श्रीहरि संसारके रूपमें दीख रहे हैं, वास्तवमें सब कुछ भगवान् ही थे और भगवान् ही हैं ।

गीतामें भी सबमें परमात्मबुद्धि होनेकी बड़ी महिमा गायी है । भगवान् कहते हैं—

बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते ।
वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः ॥

(गीता ७ । १९)

'बहुत जन्मोंके अन्तके जन्ममे तत्त्वज्ञानको प्राप्त पुरुष 'सब कुछ वासुदेव ही है'—इस प्रकार मुझको भजता है, वह महात्मा अति दुर्लभ है ।'

यह साधन बहुत ही उत्तम है । अतएव हमलोगोंको सबमें भगवद्बुद्धि करनी चाहिये, इस अभ्याससे भी भगवान्‌की प्राप्ति शीघ्र हो सकती है । छान्दोग्य उपनिषद्‌की कथा है । महर्षि उद्दालकने अपने पुत्र श्वेतकेतुसे पूछा कि 'तूने वह विद्या सीखी या नहीं, जिस एकके ज्ञानसे सबका ज्ञान हो जाता है ?' इसपर उसने कहा—'वह विद्या तो मेरे गुरुदेव भी नहीं जानते थे, यदि जानते तो वे मुझे अवश्य बतलाते; अब कृपया आप ही बतलाइये ।' तब उद्दालकने बतलाया कि 'जिस प्रकार एक सुवर्णके ज्ञानसे सुवर्णसे बने हुए सारे आभूषणोंका ज्ञान हो जाता है, जितने भी भिन्न-भिन्न नाम, रूप और आकृतिवाले नाना प्रकारके आभूषण हैं, वह सब सोना ही है, इसी प्रकार परमात्माका तत्त्व समझ लेनेपर उसके लिये सब कुछ परमात्मा ही प्रतीत होने लगते है । जैसे जलके तत्त्वका ज्ञान होनेपर बादल, भाप, कुहरा, बूँद, बर्फ आदि सभीमे एक जल-ही-जल प्रतीत होने लगता है, इसी प्रकार परमात्माके तत्त्वका ज्ञान होनेपर समस्त संसारमे परमात्मा ही प्रतीत होने लग जाते है । भेद और अभेद दोनों ही सिद्धान्तोंको माननेवालोंने इस बातको मुक्तकण्ठसे स्वीकार किया है । अन्तर केवल इतना ही है कि अभेद-उपासक तो यों समझते हैं कि 'जो कुछ है सो ब्रह्म है और मै भी ब्रह्म ही हूँ ।' तथा

भेदोपासकगण यह समझते हैं कि 'जो कुछ है सो ब्रह्म है और मैं उसका सेवक हूँ ।' बस, इस विषयमें उन दोनोंका इतना ही अन्तर है । अधिकारीभेदके अनुसार दोनों प्रकारकी साधनाएँ ही उत्तम हैं । श्रीरामचरितमानसका वर्णन है; किष्किन्धाकाण्डमें भगवान् श्रीरामने भक्तिकी दृष्टिसे भक्त हनुमान्‌से कहा है—

समदरसी मोहि कह सब कोऊ । सेवक प्रिय अनन्यगति सोऊ ॥
सो अनन्य जाकें असि मति न टरइ हनुमंत ।
मैं सेवक सचराचर रूप स्वामि भगवंत ॥

सर्वसाधारणके लिये यह भक्तिका मार्ग सरल और सुगम होनेसे उत्तम है । भक्तिमार्गके सभी कोई अधिकारी हो सकते हैं, चाहे वे जातिसे हीन, मूर्ख और पापी ही क्यों न हों; केवल भगवान्‌में विशुद्ध प्रेम होना चाहिये । भगवान् तो केवल प्रेमको ही देखते हैं । शबरी न तो कुछ विशेष पढ़ी-लिखी थी और जातिसे भी अत्यन्त हीन थी । उसने स्वयं भगवान् श्रीरामचन्द्रजीसे कहा है—

केहि बिधि अस्तुति करौं तुम्हारी । अधम जाति मैं जड मति भारी ॥
अधम ते अधम अधम अति नारी । तिन्ह महँ मैं मतिमंद गवाँरी ॥

—इसपर भगवान्‌ने यही कहा कि—

कह रघुपति सुनु भामिनि बाता । मानउँ एक भगति कर नाता ॥

भगवान्‌ने उसके प्रेमभावको देखकर उसकी कुटियापर जाकर उसके हाथसे दिये हुए बेर खाये । धन्य है दयामय प्रभुकी इस अहैतुकी दयाको !

जिनके हृदयमें न श्रद्धा-प्रेम है और न विश्वास है, उनसे न तो असली भजन ही हो सकता है और न उन्हें भगवान् ही शीघ्र

मिल सकते है। अतः हमलोगोंको भगवान्‌के गुण और स्वभावकी ओर देखकर भगवान्‌के मिलनेकी पूरी आशा रखकर प्रतिक्षण उनकी प्रतीक्षा करते रहना चाहिये। मनमें यह दृढ़ विश्वास रखना चाहिये कि भगवान् है, बहुतोको मिले है, मिलते है और हमे भी निश्चय ही मिलेगे। वे हमारे अवगुणोंकी ओर नहीं देखेंगे; उनका हृदय बहुत ही कोमल, सरल तथा दया और प्रेमसे भरा हुआ है। वे सर्वान्तर्यामी, सर्वशक्तिमान् परमात्मा सब जगह सदा ही मौजूद है, भक्तका श्रद्धा-प्रेम होनेके साथ ही वे प्रकट हो जाते है।

रामचरितमानसमे श्रीशिवजीने कहा है—

हरि ब्यापक सर्बत्र समाना। प्रेम तें प्रगट होहिं मैं जाना॥

इस प्रकारका दृढ़ निश्चय करके शबरीकी भाँति प्रतिक्षण भगवान्‌की विश्वासपूर्वक प्रतीक्षा करनी चाहिये। इस प्रकार प्रतीक्षा करनेसे भगवान् शीघ्र ही मिल सकते है। किंतु यदि इसके विपरीत संशययुक्त भावना होती है कि 'क्या पता, भगवान् है या नहीं', 'पहले किसीको मिले है या नहीं', 'अब मिलते है या नहीं' और 'मुझे मिलेगे या नहीं' तो उसे भगवान्‌का प्राप्त होना कठिन है। क्योकि ऐसे अश्रद्धालु संशयग्रस्त अज्ञानीके लिये भगवान्‌की प्राप्ति तो दूर रही, उसके लिये तो न यह लोक है और न परलोक ही। भगवान् कहते हैं—

अज्ञश्चाश्रद्दधानश्च संशयात्मा विनश्यति।
नायं लोकोऽस्ति न परो न सुखं संशयात्मनः॥

(गीता ४। ४०)

'विवेकहीन और श्रद्धारहित संशययुक्त मनुष्य परमार्थसे अवश्य

भ्रष्ट हो जाता है। ऐसे संशययुक्त मनुष्यके लिये न यह लोक है, न परलोक है और न सुख ही है।'

क्योंकि जिसको भगवान्‌की प्राप्तिमे संशय है, उससे न तो भगवान्‌की प्राप्तिके लिये प्रयत्न ही होता है और न आशा-प्रतीक्षा ही; फिर उसका मन भगवान्‌मे लग ही कैसे सकता है? इसलिये हमलोग चाहे जैसे भी अधम, पापी, अज्ञानी, मूर्ख क्यों न हो, हमे भगवान्‌में अटल श्रद्धा-विश्वास करके उनकी प्राप्तिके लिये प्रयत्नशील हो जाना चाहिये। वे परमप्रेमी और दयालु भगवान् हमलोगोके अवगुणोकी ओर नहीं देखते। भरतजीने कहा है—

जन अवगुन प्रभु मान न काऊ। दीनबंधु अति मृदुल सुभाऊ॥
मोरे जियँ भरोस दृढ सोई। मिलिहहिं राम सगुन सुभ होई॥

इस आधारपर भगवान्‌के विरदकी ओर ध्यान देकर हमे निश्चय रखना चाहिये, भगवान् हमारी ओर न देखकर अवश्य हमे अपनायेगे और दर्शन देगे।

भक्त पद्मनाभ ब्राह्मण इसी भावसे भावित होकर मन-ही-मन ऐसा सोचा करते कि 'भगवान् मुझे अवश्य ही मिलेगे' मै उनके चरणोपर लोटूँगा, अपने प्रेमाश्रुओसे उनके चरण भिगो दूँगा और वे मुझे उठाकर अपने हृदयसे लगा लेगे। तब मै आनन्दके समुद्रमे डूबता-उतराता रहूँगा। जब वे कहेगे कि वरदान माँगो, तब मैं कहूँगा कि मुझे कुछ भी नहीं चाहिये, मैं तो आपकी सेवा करूँगा और आपको देखता रहूँगा।' इस प्रकार मन-ही-मन वे विचारते रहते और आनन्दमें निमग्न हो जाते। उनके शरीरमे रोमाञ्च हो जाता और

आँखोंसे आँसू गिरने लगते। उनकी यह प्रेममुग्ध-अवस्था बहुत समयतक रहा करती थी। उनके ऐसे श्रेष्ठ भाव और उत्कट प्रेमको देखकर भगवान्‌ने साक्षात् प्रकट होकर उन्हें दर्शन दिये। उस समय सारा स्थान भगवान्‌की दिव्य अङ्ग-ज्योतिसे जगमगा उठा। भक्त पद्मनाभको हजारों सूर्योंके समान दिव्य प्रकाश और उसके भीतर शङ्ख-चक्र-गदा-पद्मधारी चतुर्भुज भगवान् श्रीविष्णुके दर्शन हुए। भक्त पद्मनाभका हृदय शीतल हो गया। उनकी आँखें निर्निमेष होकर उन अखिलरसामृतसागर भगवान्‌के रूप-रसका पान करने लगीं। भक्तिका साधन करनेवालोंके लिये यह बहुत ही सरल और रहस्यमय साधन है। इसलिये प्रेमी भक्तोंको भक्त पद्मनाभका अनुकरण करना चाहिये।

भगवान्‌की उपासनाके लिये जितने भी सेवन करने योग्य पदार्थ बताये गये है, उनमे चार प्रधान है—भगवान्‌के दिव्य नाम, रूप, लीला और धाम। इन चारोमें प्रत्येकमे गुण, प्रभाव, तत्त्व और रहस्यको समझना चाहिये। तथा कम-से-कम कान, नेत्र, मन और वाणी—इन चार मुख्य द्वारोसे तो उपर्युक्त चारोंका सेवन अवश्य ही करना चाहिये। अभिप्राय यह है कि भगवान्‌के नाम, रूप, लीला, धामके गुण, प्रभाव, तत्त्व, रहस्यको श्रद्धा-भक्तिपूर्वक कानोके द्वारा भगवद्भक्तोंसे श्रवण करना, नेत्रोंके द्वारा सत्-शास्त्रोमे पढ़ना, फिर मनसे इनका मनन करना तथा वाणीके द्वारा इनका कीर्तन करना और भगवद्भक्तोंमे इनका कथन करना चाहिये। इस प्रकार श्रद्धा प्रेमपूर्वक इन चारोका सेवन करनेसे परमात्माका साक्षात् दर्शन होकर परम आनन्द और परम शान्ति, असीम समता तथा परमात्माके

स्वरूपका यथार्थ ज्ञान हो जाता है । अब संक्षेपमें नाम, रूप, लीला, धामके गुण, प्रभाव, तत्त्व, रहस्य बतलाये जाते हैं ।*

क्षमा, दया, शान्ति, प्रेम, ज्ञान, समता, सरलता आदि जो परमात्माके अनन्त दिव्य गुण हैं, वही सब उनके नामके अंदर भी भरे हुए हैं । जैसे वटके बीजको भूमिमें बोकर जल सींचनेसे वटका वृक्ष उत्पन्न हो जाता है, इसी प्रकार भगवान्‌के नामरूपी बीजको हृदयरूपी भूमिमें बोकर सत्सङ्ग और स्वाध्यायरूप जल सींचनेसे दिव्य भगवद्गुणरूप वृक्ष उत्पन्न हो जाता है । अभिप्राय यह कि नामके जप, कीर्तन, श्रवण और स्मरण करनेसे उपासकके हृदयमें भगवान्‌के दिव्य गुण स्वाभाविक ही प्रकट हो जाते हैं । ये नामके गुण बतलाये गये ।

नामका जप, कीर्तन, श्रवण और स्मरण करनेसे समस्त पापोंका, अहंता-ममता, राग-द्वेष, काम-क्रोध, लोभ-मोह आदि समस्त दुर्गुणोंका, झूठ, कपट, चोरी, हिंसा, व्यभिचार, मद्यपान, द्यूत आदि दुराचारोंका तथा सम्पूर्ण दुःखोंका अत्यन्त अभाव हो जाता है एवं उपासकमें स्वाभाविक ही सद्गुण-सदाचार आदिका आविर्भाव होकर भगवान्‌की प्राप्ति हो जाती है । यह नामका प्रभाव है ।

भगवान्‌का नाम भगवान्‌से अभिन्न है; भगवान्‌का स्वरूप, उनका ज्ञान और उनका नाम—यह सब एक ही है । वस्तुतः भगवान् ही स्वयं नामके रूपमें प्रकट होते हैं । इस प्रकार समझना ही नामके तत्त्वको समझना है ।

---

* इस विषयको विस्तारसे जाननेके लिये गीताप्रेससे प्रकाशित 'तत्त्व-चिन्तामणि भाग ७' में 'नाम-रूप-लीला-धाम' शीर्षक लेख देखना चाहिये

वाणीके द्वारा नाम जपनेकी अपेक्षा मनसे जपना सौ गुना अधिक फलदायक है और वह मानसिक जप भी श्रद्धा-प्रेमसे किया जाय तो उसका अनन्त फल है तथा वही गुप्त और निष्कामभावसे किया जाय तो शीघ्र ही भगवान्‌की प्राप्ति करानेवाला है। जो इस रहस्यको समझ लेता है, वह कभी भगवन्नाम-जपकी ओटमें पाप नहीं करता। यह भगवन्नामका रहस्य है।

भगवान्‌का रंग, रूप, आकृति बहुत ही कोमल, लावण्यमय, रसमय, परम आकर्षक, कान्तिमय, अलौकिक, चमकदार, सुन्दर और अद्भुत है; और उनमें निरतिशय अत्यन्त विलक्षण क्षमा, दया, शान्ति, प्रेम, न्याय, समता, मधुरता, सरलता, उदारता आदि अनन्त दिव्य गुण है। ये भगवत्स्वरूपके गुण है।

सम्पूर्ण बल, ऐश्वर्य, तेज, शक्ति, महिमा, सम्भवको असम्भव और असम्भवको सम्भव करनेकी सामर्थ्य आदि भगवान्‌का अपरिमित प्रभाव है। भगवान्‌के स्वरूपके दर्शन, स्पर्श, वार्तालाप और स्मरणमात्रसे सम्पूर्ण पापों, दुःखो और दुर्गुण-दुराचारोंका अत्यन्त अभाव हो जाता है एवं भक्तमें स्वाभाविक ही समस्त सद्गुण-सदाचारोंका आविर्भाव होकर उसे भगवान्‌की प्राप्ति हो जाती है। यह भगवान्‌का प्रभाव बतलाया गया।

जिस प्रकार परमाणु, भाप, कुहरा, बादल, बूँद, ओला और बर्फ आदि सब तत्त्वसे जल ही है, इसी प्रकार सगुण-निर्गुण, साकार-निराकार, व्यक्त-अव्यक्त, जड-चेतन, स्थावर-जङ्गम, सत्-असत्, स्थूल-सूक्ष्म, कार्य-कारण आदि जो कुछ भी है और जो इससे परे है, वह सब तत्त्वतः एक भगवान् ही है। यह भगवान्‌के स्वरूपका तत्त्व है।

वे निर्गुण-निराकार परमात्मा ही सगुण-साकाररूपमें प्रकट होते है, इस रहस्यको उनकी कृपाके बिना ऋषि और देवतागण भी नहीं जानते; क्योंकि वे अपनी योगमायासे छिपे रहते हैं। उनका स्वरूप अचिन्त्य, असीम और दिव्य है, वे स्वयं आप ही अपने-आपको जानते है तथा जिसको वे कृपा करके जनाना चाहते हैं, वही जान सकता है। द्वापरयुगमे जब ब्रह्माजी ग्वाल-बाल और बछड़ोंको चुराकर ले गये, उस समय भगवान् श्रीकृष्ण ही उन ग्वाल-बाल और बछड़ोके रूपमे बन गये—इस रहस्यको बलदेवजी भी स्वयं नहीं समझ सके, जब भगवान्‌ने बलदेवजीको यह रहस्य समझाया, तभी समझे। उस समय ग्वाल-बाल और बछड़ोंके रूपमें भगवान् ही थे, इसे कोई नहीं जानता था; यह भगवान्‌के स्वरूपका रहस्य है।

जब रावणसे तिरस्कृत होकर विभीषण भगवान् श्रीरामकी शरणमें आया, उस समय भगवान्‌ने उसके साथ शरणागतवत्सलता, उदारता, दया और प्रेम आदिसे युक्त सुहृदताका व्यवहार किया, भगवान्‌के व्यवहारके इस प्रकारके गुणोको देखना ही भगवान्‌की लीलामे गुणोंका दिग्दर्शन है।

श्रीरामचरितमानसके बालकाण्डका वर्णन है कि धनुषभङ्गके अनन्तर श्रीपरशुरामजी पधारे और अन्तमें उन्होंने कहा कि—

राम रमापति कर धनु लेहू। खैंचहु मिटै मोर संदेहू॥
देत चापु आपुहिं चलि गयऊ। परसुराम मन बिसमय भयऊ॥

इस प्रकार बिना ही परिश्रम भगवान्‌के केवल छूनेमात्रसे ही धनुषका अपने-आप ही चढ़ जाना यह—भगवान्‌की लीलाका प्रभाव

है । तथा भगवान्‌की लीलाके गुण, प्रभाव, तत्त्व, रहस्यको समझते हुए उनकी लीलाका दर्शन, चिन्तन, पठन, श्रवण, कीर्तन और अनुकरण करनेसे मनुष्यका उद्धार हो जाता है, यह भी भगवान्‌की लीलाका प्रभाव है ।

जब ब्रह्माजी ग्वाल-बाल और बछड़ोको चुराकर ले गये थे, उस समय स्वयं भगवान्‌ने ही उन ग्वाल-बाल और बछड़ोंका रूप धारण करके सालभरतक क्रीड़ा की । लीलासे ही भगवान् एक क्षणमें अनेक रूप हो गये; अनेक रूप धारण करनेकी इस लीलाको भगवान्‌का स्वरूप समझना भगवान्‌की लीलाका तत्त्व समझना है; क्योंकि कर्त्ता, कर्म, क्रिया जो भी कुछ है, वह सब तत्त्वतः भगवान् ही है । इसी प्रकार वर्तमान संसारमे स्वाभाविक होनेवाली समस्त चेष्टामात्र भी भगवान्‌की लीला ही है और वह लीला उनसे अभिन्न होनेके कारण उनका स्वरूप ही है, यह समझना भी भगवान्‌की लीलाका तत्त्व समझना है ।

श्रीरामचरितमानसमे बतलाया है कि भगवान् श्रीराम जब चौदह वर्षकी अवधिके पश्चात् अयोध्यामे पधारे, तब समस्त अयोध्यावासियोंकी शीघ्र ही मिलनेकी अतिशय उत्कण्ठा जानकर वे वहाँ अनन्त रूपोमे प्रकट हो सबसे मिले—

अमित रूप प्रगटे तेहि काला । जथा जोग मिले सबहि कृपाला ॥
छन महिं सबहि मिले भगवाना। उमा मरम यह काहुँ न जाना॥

भगवान् क्षणमे सबसे एक साथ मिले । किंतु यह बात एक-दूसरेको मालूम नहीं हुई । हर एक व्यक्ति यही समझता था कि भगवान् मुझसे ही मिल रहे है । इस मिलन-लीलामे भगवान्‌के एक

व्यक्तिसे मिलनेका दूसरे व्यक्तिको ज्ञान नहीं है—यह भगवान्‌की लीलाका रहस्य है।

भगवान्‌का चिन्मय दिव्यलोक सर्वश्रेष्ठ, सर्वोपरि, नित्य और सत्य है। वहाँ मन, बुद्धि और वाणीकी पहुँच नहीं है तथा क्षमा, दया, शान्ति, प्रेम, समता, न्याय आदि जो भगवान्‌के नित्य दिव्य गुण है, वे उस धाममे स्वाभाविक ही है; क्योंकि स्वयं भगवान् ही धामके रूपमे प्रादुर्भूत हुए हैं। ये भगवद्धामके गुण कहे गये।

जो भक्त भजन, ध्यान, सत्सङ्ग, स्वाध्याय आदि साधनोंके द्वारा भगवान्‌के परम धाममे जाते है, उनमें उपर्युक्त प्रायः सभी गुण पहलेसे ही स्वाभाविक ही होते हैं; किंतु यदि किसीमे किसी कारण कुछ कमी रहती है तो उसकी पूर्ति उस परम धाममें प्रवेश होनेके साथ ही उसी क्षण हो जाती है और वहाँ जाकर कोई भी वापस नहीं लौटता तथा जो उस दिव्यधाममे रहते है, उनके शरीर जन्म मृत्यु-जरा-व्याधि आदि दोषों तथा समस्त विकारोंसे रहित परम पवित्र होते है एवं वे भगवान्‌की भाँति ही दिव्य, चिन्मय, अलौकिक और समस्त सद्गुणोसे युक्त होते है। उस धाममे जितने भी पदार्थ है, सब दिव्य, चिन्मय और अलौकिक हैं। यह सब भगवद्धामके प्रभावका दिग्दर्शन है।

सच्चिदानन्दघन परब्रह्म परमात्मा ही परम धामके रूपमें प्रादुर्भूत होते है, इसलिये वह परम धाम परमात्माका स्वरूप ही है—यह जानना ही भगवान्‌के धामका तत्त्व जानना है।

भगवान्‌के परम धाममें न जानी हुई वस्तु जानी जाती है,

न अनुभव की हुई अनुभव की जाती है और न देखी हुई देखी जाती है; क्योंकि वहाँ पहुँचनेपर बुद्धि, मन और इन्द्रियाँ आदि सभी दिव्य हो जाते है। यहाँ भगवान् और उनके धामके गुण, प्रभाव, तत्त्व, रहस्य और लीलाकी जो बातें सुनी-समझी जाती हैं, उनसे वहाँ अत्यन्त विलक्षण है। वहाँ जाते ही भगवान् और भगवान्का धाम वस्तुतः क्या चीज है, इसका रहस्य पूर्णतया समझमें आ जाता है। यह भगवान्के परम धामका रहस्य है।

इस प्रकार गुण, प्रभाव, तत्त्व, रहस्य समझकर साधन करनेवाले साधकको अपने इष्टदेवका साक्षात् दर्शन हो जाता है। उस समय उसकी विलक्षण अवस्था हो जाती है; वह प्रेम, आनन्द और आश्चर्यमे मुग्ध हो जाता है। उसे भगवान्के सिवा अन्य किसीका, यहाँतक कि अपने-आपका भी ज्ञान नहीं रहता; वह भगवान्को ही एकटक देखने लगता है, उसके नेत्रोंकी पलक भी नहीं पड़ती। उसकी शान्तिका पारावार नही रहता, उसमे अलौकिक समता आ जाती है। सगुण-निर्गुण, साकार-निराकार, व्यक्त-अव्यक्तस्वरूप परब्रह्म परमात्मा जैसा और जिस प्रभाववाला है, उसको वह वैसा-का-वैसा ही सम्पूर्णतया यथार्थरूपसे—तत्त्वतः जान जाता है। फिर वह समस्त संशय, भ्रम, अज्ञान, पापो और विकारोसे सदाके लिये मुक्त हो जाता है और उसके लिये कोई भी कर्तव्य या ज्ञातव्य शेष नहीं रहता।

अतएव हमलोगोंको भगवान्की प्राप्तिके लिये अनन्यभक्तिका साधन श्रद्धापूर्वक निष्कामभावसे तत्परताके साथ करनेकी प्राणपर्यन्त चेष्टा करनी चाहिये।

गोपियोंका विशुद्ध प्रेम अथवा रासलीलाका रहस्य

श्रीमद्भागवतकी रासपञ्चाध्यायीकी रासलीला-अध्यायके विषयमें कुछ विचार किया जाता है। साधारणतया लोग रासपञ्चाध्यायीका जो अभिप्राय व्यक्त किया करते हैं, वास्तविक रासपञ्चाध्यायी उससे भिन्न है। वस्तुतः रासपञ्चाध्यायीमें भगवान् श्रीकृष्णके प्रति गोपियों-का विशुद्ध माधुर्यका भाव है। उस विशुद्ध प्रेमके कारण ही आज संसारमे गोपियोंकी इतनी प्रशंसा की जाती है। गोपियोंमे श्रीराधिकाजी-का स्थान सबसे ऊँचा है, रासलीलामे प्रधान गोपीके नामसे इन्हींका संकेत है। ये भगवान्‌की आह्लादिनी शक्ति है। अनन्तकोटि ब्रह्माण्डों-के नायक भगवान् श्रीकृष्णको सुख पहुँचाना, उनको प्रसन्न एवं आनन्दित करना, यह उनका ही काम था। इनकी सखी गोपियोंका भी यही काम था। श्रीकृष्णलीलासम्बन्धी जितने भी ग्रन्थ है, उन

सबमें हम श्रीमद्भागवतको प्रधान समझते है, किंतु भागवतमें यत्किञ्चित् कही जो जारभाव-सा दिखता है, उसे हमारा मन स्वीकार नहीं करता। यह चीज हमारे कामकी नही, हमें तो विशुद्ध प्रेमभाव ही देखना चाहिये। पति-पत्नीका प्रेम तो कामभावको लेकर हो सकता है, किंतु भगवान्‌का गोपियोके साथ कामभावको लेकर प्रेम था, यह हम स्वप्न-मे भी स्वीकार नहीं कर सकते। भगवान् श्रीकृष्णका श्रीरुक्मिणीजीके साथ जो प्रेम है, जिससे कि संतानोत्पत्ति होती है, यह उनका ऐश्वर्ययुक्त प्रेम है। जिस प्रेममे कामभाव हो, वह प्रेम नही। भगवान् प्रेम और आनन्दके पुञ्ज है। उनका प्रेम पूर्ण विशुद्ध था। भगवान्‌की जितनी भी क्रियाएँ होती थी, केवल गोपियोको आह्लादित करनेके लिये ही होती थी। रासलीलामें जो उनका नृत्य, गान, वंशीवादन आदि होता था, सब गोपियोको सुख पहुँचानेके लिये, उनका प्रेम बढ़ानेके लिये ही होता था। इसी प्रकार गोपियोकी जितनी क्रियाएँ होती थी, केवल भगवान्‌को आह्लादित करनेके लिये ही थी।

भगवान् श्रीकृष्ण साक्षात् परब्रह्म परमात्मा थे, प्रेम-प्रचारके लिये ही इन्होने मनुष्यरूपमें अवतार धारण किया था, न कि कामोपभोगके लिये। और वास्तवमे इन्होने विशुद्ध प्रेमका प्रचार किया भी। मेरी एक लोकोक्ति सुनी हुई है, वह इस प्रकार है। एक समय नारदजीकी कामसे भेट हुई, तब नारदजीने कहा—'अरे मदन! तुमने तो मेरे मनमे भी काम-विकार पैदा कर दिया।' इसपर कामने नारदजीसे बड़े अहङ्कारपूर्ण वचन कहे। वह बोला—'तुम तो चीज ही क्या हो, मै ब्रह्मा, विष्णु एवं महेशको भी काममोहित करके नचा सकता हूँ, मेरे सम्मुख कोई भी खड़ा नही रह सकता।' तब

नारदजी भगवान् विष्णुके पास गये एवं कामदेवके वचन उन्होंने ज्यों-के-त्यों उन्हे कह सुनाये । नारदजीने भगवान्से कहा, 'उसको इतना घमंड हो गया है कि वह आपको भी कुछ नही समझता, यदि आप उसका अभिमान नष्ट न करेगे तो वह और उद्दण्ड हो जायगा । इसलिये आपको उसका अभिमान नष्ट करना चाहिये ।' भगवान् विष्णुने नारदजीसे कहा, 'जाओ—कामसे कह दो कि मै द्वापरमें मनुष्यरूपमे अवतार ग्रहण करूँगा । उस समय मुझसे तुम किलेकी लड़ाई करना चाहोगे या मैदानकी ।' तब नारदजीने कामके पास आकर उससे यह बात पूछी । काम बोला—'मुझे किलेकी लड़ाईमे* भी कोई नही जीत सकता, फिर मैदानकी लड़ाईमे† तो जीत ही कौन सकता है ?'

फिर नारदजीने भगवान्के पास जाकर सारी बाते कह दी । तब भगवान्ने नारदके द्वारा कामको सूचित कर दिया कि 'तुम्हारे साथ मैदानकी लड़ाई करनेके लिये मै श्रीकृष्णरूपमे अवतार लूँगा ।' भगवान्की तो बात ही क्या, भगवान्के साथ रासलीला करनेवाली गोपियोने ही मदनके मदको चूर कर दिया । जहाँ मधुवनकी अद्भुत शोभा एवं शीतल, मन्द, सुगन्धयुक्त पवन बह रहा था, जिसमें कि स्वाभाविक ही कामकी उत्पत्ति हो सकती है और ऋषि-मुनियोका भी कामसे मोहित

* किलेकी लडाईका अर्थ यह है कि गिरि-गुहा आदि एकान्त निर्जन स्थानमे जहॉ कि काम-क्रोधादिका प्रायः अवसर ही नही आता, वहॉ ब्रह्मचर्यसे रहकर कामको जीतना ।

† मैदानकी लड़ाईका अर्थ यह है कि गृहस्थमें स्त्रियोंके समूहमें रहकर कामको जीतना ।

होना सम्भव है, वहाँ वे सुन्दरी, युवा, कुमारी तथा विवाहिता गोपियाँ इतनी जितेन्द्रिया रहीं कि उनपर कामदेव अपना कुछ भी प्रभाव नहीं डाल सका। वे सुन्दरी गोपियाँ कामको जीतकर उसके मस्तकपर नाच-नाचकर उसके मदको चूर करती थीं। सुन्दरताके साथ पूर्ण युवावस्था होनेपर भी उन्होने विशुद्ध प्रेमभाव ही रक्खा। इस प्रकार जब गोपियोंने ही कामको जीत लिया, तब नित्यमुक्त भगवान्‌की तो बात ही क्या ?

रासमे तो विशुद्ध प्रेमसे नृत्य, गीत, वंशीवाद्य आदि कलाका प्रकाश होता है, न कि भोग-विलासका। भगवान् श्रीकृष्ण गोपियोमे विशुद्ध प्रेमकी वृद्धि करते थे, रासमें भगवान् गोपियोके साथ नृत्य करते थे, इससे गोपियोको बड़ी प्रसन्नता होती थी एवं विशुद्ध प्रेमका संचार होता था। उस समय उनको एक-दूसरेके सिवा कुछ भी सुधि नही रहती थी। कामकी सामर्थ्य नहीं कि उनकी ओर ताक भी सके। देखिये, गोपियोमे कैसा विशुद्ध प्रेम था। भगवान्‌ने गोपियोंको बुलानेके लिये बड़े ही मधुर स्वरसे वंशी बजायी थी। वंशीकी तान सुनते ही गोपियाँ सब काम छोड़कर श्रीकृष्णके पास चली आयी। उस समय भगवान्‌ने उनसे कहा—'गोपियो! रातका समय बड़ा भयावना होता है और इस वनमे बड़े-बड़े भयावने जीव-जन्तु रहते है; अतः तुम सब तुरंत व्रजमे लौट जाओ। रातके समय घोर जंगलमें स्त्रियोको नही रुकना चाहिये। तुम्हें न देखकर तुम्हारे मा-बाप, पति-पुत्र और भाई-बन्धु ढूँढ़ रहे होगे, उन्हे भयमे न डालो। तुम-लोगोंने रंग-विरंगे पुष्पोसे लदे हुए इस वनकी शोभाको देखा। पूर्ण चन्द्रमाकी कोमल रश्मियोसे यह रँगा हुआ है, मानो उन्होंने अपने

हाथोंसे चित्रकारी की हो और यमुनाजीके जलका स्पर्श करके बहने-वाली शीतल वायुकी मन्द-मन्द गतिसे हिलते हुए ये वृक्षोंके पत्ते तो इस वनकी शोभाको और भी बढ़ा रहे हैं; परंतु अब तो तुमलोगोंने यह सब कुछ देख लिया। अब देर न करो, शीघ्र-से-शीघ्र व्रजमें लौट जाओ। तुमलोग कुलीन स्त्री हो और स्वयं भी सती हो, जाओ, अपने पतियोंकी सेवा-शुश्रूषा करो। यदि मेरे प्रेमसे परवश होकर तुमलोग यहाँ आयी हो तो इसमें कोई अनुचित बात नहीं हुई, यह तो तुम्हारे योग्य ही है; क्योंकि जगत्के पशु-पक्षीतक मुझसे प्रेम करते हैं, मुझे देखकर प्रसन्न होते हैं। कल्याणी गोपियो! स्त्रियोंका परमधर्म यही है कि वे पति और उसके भाई-बन्धुओंकी निष्कपटभावसे सेवा करें और संतानका पालन-पोषण करें। गोपियो! मेरी लीला और गुणोंके श्रवणसे, रूपके दर्शनसे, उन सबके कीर्तन और ध्यानसे मेरे प्रति जैसे अनन्य प्रेमकी प्राप्ति होती है, वैसे प्रेमकी प्राप्ति पास रहनेसे नहीं होती। इसलिये तुमलोग अभी अपने-अपने घर लौट जाओ।'

इसपर गोपियाँ बोलीं—'प्यारे श्रीकृष्ण! तुम घटघटव्यापी हो। हमारे हृदयकी बात जानते हो। तुम्हें इस प्रकार निष्ठुरताभरे वचन नहीं कहने चाहिये। हम सब कुछ छोड़कर केवल तुम्हारे चरणोंमें ही प्रेम करती हैं। प्यारे श्यामसुन्दर! तुम सब धर्मोंका रहस्य जानते हो। तुम्हारा यह कहना कि 'अपने पति, पुत्र, भाई-बन्धुओंकी सेवा करना ही स्त्रियोंका स्वधर्म है'—अक्षरशः ठीक है, परंतु इस उपदेश-के अनुसार हमें तुम्हारी ही सेवा करनी चाहिये; क्योंकि तुम्हीं सब उपदेशोंके पद (चरम लक्ष्य) हो, साक्षात् भगवान् हो। तुम्हीं समस्त शरीरधारियोंके सुहृद् हो, आत्मा हो और परम प्रियतम हो।'

तदनन्तर भगवान्‌ने बड़े ही प्रेमसे सबके साथ रासलीला आरम्भ की। योगेश्वर भगवान् श्रीकृष्ण दो-दो गोपियोंके बीचमें प्रकट हो गये। इस प्रकार एक गोपी और एक श्रीकृष्ण, इस क्रमसे मण्डल बनाकर भगवान् रासलीला करने लगे। सभी गोपियाँ ऐसा अनुभव करती थीं कि हमारे प्यारे श्रीकृष्ण तो हमारे ही पास हैं। उस समय रासोत्सवको देखनेके लिये सभी देवता अपनी-अपनी पत्नियोंके साथ वहाँ आये। स्वर्गकी दिव्य दुन्दुभियाँ अपने-आप बज उठीं। स्वर्गीय पुष्पोंकी वर्षा होने लगी। गन्धर्वगण अपनी-अपनी पत्नियोंके साथ भगवान्‌के निर्मल यशका गान करने लगे। रासमण्डलमें सभी गोपियाँ अपने प्रियतम श्यामसुन्दरके साथ नृत्य करने लगीं। उनकी कलाइयोंके कंगन, पैरोंके पायजेब और करधनीके घुँघरू एक साथ बज उठे। जिससे वह मधुर ध्वनि बड़े ही जोरकी हो रही थी। यमुनाजीकी रमणीय वालुकापर व्रज-सुन्दरियोंके बीचमें भगवान् श्रीकृष्णकी बड़ी ही अनोखी शोभा हुई। ऐसा जान पड़ता था, मानो अनेक सुवर्ण-मणियोंके बीचमें महामरकतमणि चमक रही हो। नृत्यके समय गोपियाँ तरह-तरहसे पादन्यास करने लगीं। कभी अपने पैर आगे बढ़ाती और कभी पीछे हटा लेतीं। कभी धीरे-धीरे पैर रखतीं तो कभी बड़े वेगसे और कभी चाककी तरह घूम जातीं। कभी अपने हाथ उठा-उठाकर भाव बतातीं और कभी मुसकराने लगतीं। उनके कानोंके कुण्डल हिल-हिलकर कपोलोंपर आ जाते थे। नाचनेके परिश्रमसे उनके मुँह-पर पसीनेकी बूँदें झलकने लगीं। इस प्रकार गोपियाँ भगवान् श्रीकृष्ण-के साथ गा-गाकर नाच रही थीं। उस समय ऐसा जान पड़ता था, मानो बहुत-से श्रीकृष्ण तो साँवले-साँवले मेघमण्डल हैं और उनके

बीच-बीचमे चमकती हुई गौरवर्णा गोपियाँ बिजली हैं ।

उदारशिरोमणि सर्वव्यापक भगवान् श्रीकृष्णने जब इस प्रकार गोपियोंका सम्मान किया, तब गोपियोके मनमे ऐसा भाव आया कि संसारकी समस्त स्त्रियोमें हमी सर्वश्रेष्ठ है, हमारे समान और कोई नहीं है । जब भगवान्‌ने देखा कि इन्हे कुछ गर्व हो गया है, तब वे उनका गर्व दूर करनेके लिये अपनी प्रधान सखी (राधिकाजी) को लेकर अन्तर्धान हो गये । भगवान्‌के अन्तर्धान होते ही सब गोपियोंमे खलबली मच गयी, वे भगवान् श्रीकृष्णके वियोगमें अत्यन्त व्याकुल हो गयीं और वनमे श्रीकृष्णको खोजने लगीं । जब बहुत खोजनेपर भी भगवान् नहीं मिले, तब वे परस्परमें ही भगवान्‌की लीलाओंका अनुकरण करने लगीं । कोई श्रीकृष्ण बन गयी और कोई गोपी; इस प्रकार रासलीला करने लगीं ।

इधर जब भगवान् राधाजीको साथ लेकर वनमें जा रहे थे, तब राधाजीके मनमे यह अभिमान आया कि मै सबसे श्रेष्ठ हूँ, इसी-लिये भगवान् सब गोपियोंको छोड़कर मुझे साथ ले आये । इसके बाद चलते-चलते राधाजीने भगवान्‌से कहा कि 'मै थक गयी हूँ, मुझसे अब चला नहीं जाता । इसलिये आप मुझे अपने कंधेपर बिठा-कर ले चलिये ।' भगवान् बोले—'ठीक है ।' ऐसा कह भगवान् बैठ गये और जब राधिकाजी भगवान्‌के कंधेपर बैठने लगी, तब राधिकाजीके अभिमानको दूर करनेके लिये भगवान् झट अन्तर्धान हो गये । भगवान्‌को अन्तर्धान हुए देखकर राधिकाजी भी विलाप करने लगीं । वे 'हा कृष्ण ! हा कृष्ण !' कहती हुई कृष्णको खोजने लगीं ।

उधर गोपियाँ भी भगवान् श्रीकृष्ण और राधिकाजीको खोजनेके लिये वनमें घूमने लगीं। घूमते-घूमते उन्हे श्रीकृष्ण और राधिकाजीके पदचिह्न मिले। उन चिह्नोंको देखती हुई गोपियाँ आगे बढ़ गयीं। आगे जानेपर उनको श्रीकृष्णके बैठनेका चिह्न मिला; किंतु उससे और आगे बढ़नेपर केवल राधिकाजीके ही पदचिह्न मिले, श्रीकृष्णके नही। फिर वे सखियाँ राधिकाजीके पदचिह्नोंके पीछे-पीछे आगे बढ़ी और कुछ दूर जानेपर उनको विलाप करती हुई राधिकाजी मिल गयी। गोपियोने राधिकाजीसे पूछा—'श्रीकृष्ण कहाँ हैं ?' राधिकाजीने कहा—'भगवान् मेरे साथमे यहाँतक आये थे, किंतु मैने कुटिलतावश उनका अपमान किया; इसलिये वे मुझे भी छोड़कर चले गये।'

तब विरहमें व्याकुल हुई सभी गोपियाँ भगवान् श्रीकृष्णको आर्त्तभावसे पुकारने और उनके गुणोका गान करने लगी। उनको अत्यन्त व्याकुल देखकर भगवान् सहसा सबके बीचमे प्रकट हो गये।

उस समय गोपियोने भगवान्से पूछा—'नटनागर ! कुछ लोग तो ऐसे होते है, जो प्रेम करनेवालोसे ही प्रेम करते है और कुछ लोग प्रेम न करनेवालोंसे भी प्रेम करते हैं। और कोई-कोई दोनोंसे ही प्रेम नहीं करते। इन तीनोमे तुम्हे कौन-सा अच्छा लगता है ?'

भगवान् श्रीकृष्णने कहा—'मेरी प्यारी सखियो ! जो प्रेम करनेपर प्रेम करते है, उनका तो सारा उद्योग स्वार्थको लेकर है। न तो उनमें सौहार्द है और न धर्म ही। उनका प्रेम केवल स्वार्थके लिये ही है, इसके सिवा उनका और कोई प्रयोजन नहीं।

गोपियो ! जो लोग प्रेम न करनेवालेसे भी प्रेम करते है, जैसे स्वभावसे ही करुणाशील सज्जन और माता-पिता—उनका हृदय सौहार्दसे, हितैषितासे भरा रहता है और उनके व्यवहारमे निश्छल धर्म भी है। कुछ लोग ऐसे होते है, जो प्रेम करनेवालोंसे भी प्रेम नही करते। ऐसे लोग चार प्रकारके होते है। एक तो वे, जो अपने स्वरूपमे ही मस्त रहते है। दूसरे वे, जो आप्तकाम यानी कृतकृत्य हो चुके हैं। तीसरे वे है, जो अकृतज्ञ यानी कृतघ्नी है और चौथे वे है, जो अपना हित करनेवाले परोपकारी गुरुतुल्य लोगोंसे भी जान-बूझकर द्रोह करते है। गोपियो ! मै तो प्रेम करनेवालोंसे भी प्रेमका वैसा व्यवहार नहीं करता, जैसा करना चाहिये। जैसे निर्धन मनुष्यको कभी बहुत-सा धन प्राप्त हो जाय और फिर खो जाय तो उसका चित्त खोये हुए धनकी चिन्तासे भर जाता है, अन्यत्र नही जाता, वैसे ही मै भी उनकी चित्तवृत्ति और भी मुझमे लगी रहे, निरन्तर मुझमे ही लगी रहे, इसीलिये ऐसा करता हूँ। तुम्हारी चित्तवृत्ति अन्यत्र कहीं न जाय, मुझमे ही लगी रहे, इसीलिये तुमलोगोंसे प्रेम करता हुआ ही मै तुम्हारे अभिमानको नष्ट करने एवं प्रेमकी वृद्धि करनेके लिये छिप गया था। अतः तुमलोग मेरे प्रेममे दोष मत निकालो। तुम सब मेरी प्यारी हो और मै तुम्हारा प्यारा हूँ। मुझसे तुम्हारा यह मिलन सर्वथा निर्मल और निर्दोष है। यदि मै अमर शरीरसे अनन्त कालतक तुम्हारे प्रेमका बदला चुकाना चाहूँ तो भी नही चुका सकता। मैं तो तुम्हारा ऋणी हूँ।' ऐसा कहकर वे गोपियोके साथ पुनः रासलीला करने लगे।

गोपियोंमे कामकी गन्ध भी नहीं थी। भगवान् श्रीकृष्णमे तो काम था ही नहीं, वल्कि उनके प्रभावसे गोपियोमे भी कामभाव सर्वथा नष्ट हो गया था। भगवान् श्रीकृष्णके सोलह हजार एक सौ आठ रानियाँ थी, उन रानियोंसे लाखों ही संतानें हुई। इसमे भी उनमें कामकी गन्ध भी नही थी; उन्होने तो अपनी पत्नियोंके साथ केवल शास्त्रानुकूल व्यवहार किया था और वह भी कामभावसे विल्कुल रहित होकर।

इसपर भी यदि कोई भगवान्मे गोपियोंके साथ व्यभिचारके दोपकी कल्पना करता है तो मै तो यही कहता हूँ कि उसे नरकमे भी ठौर नही। कामकी सामर्थ्य नही कि वह भगवान् और गोपियोमें प्रवेश कर सके, उनके तो प्रभावसे ही काम दूर हो जाता है। गोपियोकी चर्चासे ही काम दूर भाग जाता है। यदि कोई गोपियोमे यह भाव करे कि उन्होंने व्यभिचार किया तो उसको कौन-सी गति मिलेगी, यह भी मेरी बुद्धिमे नही आता। भगवान्ने स्वयं गोपियोकी प्रशंसा की है। गोपियाँ प्रथम तो अवला थीं; स्त्रियोंमे पुरुपोंकी अपेक्षा आठगुना अधिक कामभाव वताया जाता है। फिर साथमे साक्षात् परब्रह्म परमात्मा ही श्यामसुन्दर श्रीकृष्णरूपमे थे। उनके-जैसा सुन्दर भी कोई नहीं। सारे संसारका सौन्दर्य एकत्र होकर भी भगवान्के सौन्दर्यके एक अंशकी भी समानता नहीं कर सकता। ऐसे परम सुन्दरके साथ रहकर भी गोपियाँ कामभावसे सर्वथा रहित थीं; अतः उनकी जितनी वड़ाई की जाय, सब थोड़ी ही है। गोपियोमे ऐसी शक्ति है कि उनके दर्शनसे

दर्शकका कामभाव नष्ट हो जाता है, फिर भगवान्‌की तो बात ही क्या ? उन परब्रह्म परमात्माने तो श्रीकृष्णरूपमें प्रकट होकर कामदेवका मद चूर्ण किया और सबको आदर्श शिक्षा दी। उनके तो आचरण अनुकरणीय थे। उन्होंने गीतामें स्वयं कहा है—

न मे पार्थास्ति कर्तव्यं त्रिषु लोकेषु किंचन।
नानवाप्तमवाप्तव्यं वर्त एव च कर्मणि॥
यदि ह्यहं न वर्तेयं जातु कर्मण्यतन्द्रितः।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः॥
उत्सीदेयुरिमे लोका न कुर्यां कर्म चेदहम्।
संकरस्य च कर्ता स्यामुपहन्यामिमाः प्रजाः॥

(३। २२–२४)

'हे अर्जुन! मुझे इन तीनों लोकोंमें न तो कुछ कर्तव्य है और न कोई भी प्राप्त करनेयोग्य वस्तु अप्राप्त है, तो भी मैं कर्ममें ही बरतता हूँ; क्योंकि हे पार्थ! यदि कदाचित् मैं सावधान होकर कर्मोंमें न बरतूँ तो बड़ी हानि हो जाय; क्योंकि मनुष्य सब प्रकारसे मेरे ही मार्गका अनुसरण करते हैं। इसलिये यदि मैं कर्म न करूँ तो ये सब मनुष्य नष्ट-भ्रष्ट हो जायँ और मैं संकरताका करनेवाला होऊँ तथा इस समस्त प्रजाको नष्ट करनेवाला बनूँ।'

ध्यान देकर सोचना चाहिये कि यदि भगवान् श्रीकृष्ण गोपियों-के साथ व्यभिचार करते तो व्यभिचारी और अधर्मी कहलाते; किंतु जिस समय परीक्षित् मृतक-अवस्थामें उत्तराके गर्भसे निकला तो उसको जीवित करनेके लिये भगवान्‌ने यह प्रतिज्ञा की कि 'यदि मैंने जीवनभर सत्यका पालन किया है, यदि मुझमें सत्य और धर्म

नित्य स्थित है, तो उत्तराका यह सुपुत्र जीवित हो उठे।' यह कहते ही बालक जी उठा। इससे यह समझना चाहिये कि यदि उनमे कुछ भी दोष होता तो क्या वे ऐसा कहते; कदापि नही। इसके सिवा, शिशुपाल भगवान् श्रीकृष्णका कट्टर शत्रु था, उसने भगवान्‌को अनेक अनुचित बाते कही है, यह बात महाभारतके सभापर्वमें विस्तार रूपसे है तथा दुर्योधनने भी मरते समय बहुत-सी गालियाँ दी, यह बात महाभारतके शल्यपर्वान्तर्गत गदापर्वमें आती है। यदि उनमे इस विषयका कुछ भी दोष होता तो शिशुपाल तथा दुर्योधन अन्य गालियोके साथ यह भी कहते कि तुमने गोपियोके साथ व्यभिचार किया है; किंतु उन्होने ऐसा नही कहा। इससे भी यह सिद्ध होता है कि उस समय भी यही प्रसिद्धि थी कि भगवान् श्रीकृष्ण इस दोषसे सर्वथा मुक्त है। इसी कारण शिशुपाल और दुर्योधन उनपर यह दोष नही लगा सके। उन्हे यदि थोड़ी-सी भी गुंजाइश मिलती तो वे अवश्य यह दोष लगाते। इसके सिवा, रास-लीलाके समय भगवान् श्रीकृष्णकी दस वर्षकी आयु थी—दस वर्षके बालकमे स्त्री-सहवासका दोष घटना सम्भव नही, अतएव भगवान् श्रीकृष्णमे व्यभिचार-दोषकी गन्धकी भी कल्पना नहीं करनी चाहिये। किंतु दम्भी और व्यभिचारी लोग भगवान्‌पर झूठा दोष आरोप करके अपनी कामवासना सिद्ध करनेके लिये ऐसा कहते है कि देखो, श्रीकृष्णने गोपियोके साथ भोग-विलास किया, इसीसे गोपियोकी मुक्ति हो गयी। इस प्रकार कहकर वे भोली-भाली स्त्रियोको अपने पंजेमे फँसाकर खुद तो श्रीकृष्ण बनते है और उन स्त्रियोको गोपी बनाते है;

एवं फिर उनके साथ पापकर्म करते हैं; भगवान् उनको कौन-सी घोर गति देंगे, यह तो वे भगवान् ही जानें।

भगवान् श्रीकृष्णका तो गोपियोंके साथ विशुद्ध प्रेम था, वहाँ कामका नाम-निशान भी नहीं था। उनका प्रेम जारभावको लेकर कदापि नहीं था। भागवतमें जो प्रेमका वर्णन है; वह विशुद्ध एवं अत्यन्त स्वच्छ है। अवश्य ही भागवतके कुछ श्लोकोंमे अश्लीलता और जारभावका उल्लेख मिलता है, उसे हम प्रक्षिप्त कहे तो भी ठीक नही और यदि उसे क्लिष्ट कल्पना करके वेदान्तके सिद्धान्तमे घटावे तो भी ठीक नहीं। पर वहाँ आये हुए रमण आदि अश्लील शब्दोंका जैसा स्पष्ट अर्थ व्याकरणसे समझमे आता है, वैसा मानना उचित नहीं है; क्योंकि भगवान् श्रीकृष्ण सम्पूर्ण दोषोंसे सर्वथा रहित और विशुद्ध सच्चिदानन्दघन ब्रह्म है। अतः उनमे अश्लीलताका दोष हमारी आत्मा स्वीकार नही करती और न ऐसी मान्यतामे कोई लाभ ही है; क्योंकि यह शास्त्रमर्यादा और युक्ति-संगत भी नहीं है। सिद्धान्तमे कोई गड़बड़ी नहीं है, उनका प्रेम विशुद्ध है, उसमें काम था ही नहीं; फिर भी गोपियोंके साथ उनके सम्बन्धमे जो ऐसी अश्लील बातें कहीं कुछ आती है, वे हमारी समझमे नहीं आतीं; इसलिये उन्हें नहीं मानना चाहिये। हमे भागवतपर दोष न लगाकर यही मानना चाहिये कि यह प्रकरण हमारी बुद्धिकी समझमे नहीं आता। इस प्रकार मनुष्यको अपनी बुद्धिकी कमजोरी माननेमे कोई हानि नहीं, किंतु भगवान्, भागवत तथा गोपियोंपर कभी दोषारोपण नहीं करना चाहिये।

इसी प्रकार बलदेवजी-जैसे महापुरुषोमे कोई मदिरापान, 'पर-स्त्रीसेवन आदिका दोष लगावे तो यह कैसे हो सकता है ? जहाँ-कहीं झूठ, कपट, चोरी, व्यभिचार, मदिरापान आदिका विषय आता है, जिसकी कि हर जगह निन्दा की गयी है, वह ईश्वर और भक्तोमे हो, यह असम्भव है । उनमे उसकी कल्पना ही नही की जा सकती । ध्यान दीजिये, यदि मेरे-जैसा कोई मनुष्य चोरी, बेईमानी, व्यभिचार आदि करे तो क्या आप कभी यह समझ सकते है कि यह जो कुछ करते है सब ठीक है, इनके लिये सब माफ है ? किंतु यह कदापि सम्भव नहीं है । ऐसा करना तो दुनियाको धोखा देना है एवं यह घृणित आचरण है । जो व्यक्ति यह प्रचार करता है कि 'मै महात्मा हूँ, समर्थ हूँ, ईश्वर और महात्मा जो कुछ करते है, सब ठीक करते है, इसलिये तुम मेरे साथ कामोपभोग करो ।' विश्वास रक्खे कि ऐसे विचारवाला व्यक्ति कदापि महात्मा नही, वह तो महान् दम्भी, व्यभिचारी, मान-बड़ाईका किंकर एवं लोगोकी आँखोमे धूल झोंकनेवाला है । ऐसे दम्भी-पाखण्डी लोगोकी बातोमे कभी नहीं आना चाहिये । श्रीकृष्णकी रासलीला बिल्कुल विशुद्ध है । इस रासलीलाके प्रति विशुद्ध प्रेमभाव हो तो भगवान्से शीघ्र प्रेम हो सकता है एवं कामभाव यदि कहीं छिपा हुआ हो तो वह भी भगवान् श्रीकृष्णके प्रभावसे नष्ट हो सकता है ।

अबतक मैने आपको रासलीलाके विषयमे थोड़ी-सी बाते बतलायी है । रासपञ्चाध्यायीके कुछ श्लोकोको, जिनमे खुला शृंगार या अश्लीलतायुक्त बाते है, छोड़कर शेष सभी बाते प्रेमकी वृद्धि करनेवाली

है। उन सबका आदर करना चाहिये और विशुद्ध प्रेम एवं विशुद्ध भाव रखना चाहिये। यदि वास्तवमे विशुद्ध एवं सच्चा प्रेम हो तो वाणी गद्गद हो जाती है, शरीरमे कँपकँपी और रोमाञ्च होने लगता है। प्रेमकी अधिकतासे वाणी और कण्ठ दोनो रुक जाते है एवं अश्रुपात होने लगते है। भगवान् श्यामसुन्दरकी मोहिनी छबिके आगे नेत्रोंकी पलक गिरती नही, बल्कि ऑखे उनके स्वरूपका पान करती ही रहती है। भावकी बात है। विशुद्ध और उच्चकोटिकी श्रद्धा तथा प्रेम हो तो उपर्युक्त बाते घट सकती है। भगवान् श्रीकृष्ण आनन्दके समुद्र है, गोपियॉ उनके संकेतपर नाचती थीं, भगवान् जो भी आज्ञा देते या संकेत करते, वे उसका पालन करती थीं।

यदि कहे कि संकेतपर चलनेवाली गोपियोंको जब भगवान्ने वापस अपने घर जानेके लिये कहा, तब उनकी आज्ञा मानकर वे घर क्यो नहीं लौट गयीं, तो इसका उत्तर यह है उस समय भगवान्के प्रेमसे वे इस प्रकार स्तम्भित हो गयी कि उनके पैर चलनेमे असमर्थ हो गये। स्वयं गोपियोंने कहा है—

चित्तं सुखेन भवतापहृतं गृहेषु
यन्निर्विशत्युत करावपि गृह्यकृत्ये।
पादौ पदं न चलतस्तव पादमूलाद्
यामः कथं व्रजमथो करवाम किं वा॥

(श्रीमद्भा० १०।२९।३४)

'हमारा जो चित्त घरमे आसक्त था तथा हमारे हाथ भी जो घरके कामोने लगे थे, उनको आपने सुखपूर्वक—अनायास ही चुरा लिया। एवं हमारे पैर भी आपके चरणप्रान्तसे एक पग भी इधर-

उधर नहीं चलते । अब हम किस प्रकार घर जायँ और वहाँ जाकर करे भी क्या ?'

जैसे, पद्मपुराणके पातालखण्डके ५६ वे और ५८ वे अध्यायोंमें आता है कि लोकापवादको सुनकर भगवान् श्रीरामने सीताको वाल्मीकि मुनिके आश्रमके पास वनमे छोड़ आनेके लिये शत्रुघ्न और भरतको आज्ञा दी, किंतु ऐसी बात सुनकर वे स्तम्भित और मूर्छित हो गये । उन्होंने जान-बूझकर भगवान्‌की आज्ञाका उल्लङ्घन नहीं किया, वरं वे वैसा करनेमे ही असमर्थ हो गये थे । इसी प्रकार गोपियोके विषयमें समझना चाहिये ।

असल बात यह है कि भगवान् सबके परम पति है, उनके पास गोपियोका जाना न्याययुक्त ही था । स्मृतियॉ जो आज्ञा देती है, उससे भी अधिक भगवान्‌की आज्ञाका महत्त्व है; क्योंकि वे परमपति है, उनकी आज्ञाके सामने पतिकी आज्ञा भी गौण है । गोपियाँ भगवान्‌के प्रेममे इतनी विवश थीं कि किसीके रोकनेपर भी वे रुक नही सकती थीं । जब गोपियोने भगवान्‌की वंशीध्वनि सुनी, तब वे इतनी प्रेमविवश हो गयी कि घरका सब काम-काज ज्यो-का-त्यों छोड़कर वे भगवान्‌के पास चली आयीं ।

ऊपर जो कामदेवका अभिमान नष्ट करनेके लिये नारदजीके प्रति भगवान्‌ने मनुष्यरूपमे अवतार लेनेकी बात कही है, यह लोकोक्ति चली आती है । आपलोगोने भी सम्भव है यह बात सुनी हो । मेरा हृदय इसे मानता है और शायद शास्त्रमे भी कही यह कथा मिल सकती है । मुसल्मानोके शासनकालमे हमारे बहुत-से धार्मिक ग्रन्थ

नष्ट कर दिये गये, इस कारण शास्त्रमें यह प्रसङ्ग न भी मिले तो भी इसे सत्य ही मानना चाहिये; क्योंकि यह बात रहस्यमयी तथा युक्तियुक्त एवं विशुद्ध प्रेमकी है।

भगवान् श्रीकृष्णके साथ गोपियोंका प्रेम अत्यन्त विशुद्ध और अलौकिक था, वहाँ अश्लीलता और कामकी तो गन्ध ही नही थी। गोपियोके प्रेमके सामने भगवान् मुग्ध हो जाते थे और इसी प्रकार गोपियाँ भी भगवान्के प्रेममे मुग्ध हो जाया करती थी। एक-दूसरेको देखकर वे द्रवीभावको प्राप्त हो जाते थे। जिस प्रकार पूर्णिमाके चन्द्रमाकी किरणे जब चन्द्रकान्तमणिपर पड़ती हैं, तब उसके जड होनेपर भी उससे अमृत बहने लग जाता है। चन्द्रकान्तमणि, सुना है, बड़ी कठोर होती है; किंतु चन्द्रमाकी किरणोके पड़ते ही वह भी द्रवीभूत हो जाती है। हमने चन्द्रकान्तमणिकी यह बात देखी तो नही, किंतु सुनी है; शायद शास्त्रोमे मिल भी सकती है। यदि न भी मिले तो भी माननी चाहिये, क्योंकि यह परम्परागत लोकोक्ति प्रसिद्ध है और युक्तियुक्त है। जब जड वस्तु भी चन्द्रमाके प्रभावसे द्रवीभूत हो जाती है, तब भगवान्के प्रभावसे भक्तोंमें द्रवीभाव आना स्वाभाविक ही है। भगवान् चन्द्रमाकी तरह है, उनके प्रेमका प्रभाव रश्मिकी तरह है और भक्त चन्द्रकान्तमणिकी ज्यों है। भगवान्का प्रभाव जिसपर पड़ता है, वह जड होनेपर भी बह जाता है। फिर भक्तोंके द्रवीभूत होनेमें तो आश्चर्य ही क्या है?

भगवान्का प्रेम, प्रेमास्पद एवं प्रेमी—तीनों एक ही है। वे चेतन, दिव्य और अलौकिक है। अतः उन भगवान्से प्रेम करनेपर प्रेमी

उनके परम दिव्य चिन्मय धामको चला जाता है। वे भगवान् स्वयं तो दिव्य चिन्मय है ही, उनका धाम भी दिव्य और चेतन है। वह परमात्मा चेतन ही नही, बल्कि सत्-चित् एवं आनन्दघन भी है। वह प्रेमी भक्त भी सच्चिदानन्दमय ही होकर जाता है। इस शरीरको छोड़कर जब भक्त जाता है, तब वह भगवान्-जैसा ही स्वरूप प्राप्त कर लेता है।

बहुत-से लोग कहते है कि श्रुतियाँ ही गोपियोंके रूपमे होकर आयी थी, कई कहते है कि बालखिल्य आदि ऋषिगण ही गोपियोंके रूपमे होकर आये थे, कई लोग यह भी कहते है कि जो भक्त भगवान्के परम धाममे उनकी सामीप्य-मुक्तिको प्राप्त हो गये थे, वे ही गोपियोके रूपमे भगवान्के परिकर होकर आये थे। अतः समझना चाहिये कि गोपियाँ कितनी अद्भुत और उच्च कोटिकी थी। वे भगवान्से कहती है—आप केवल गोपीनन्दन ही नहीं है, आप तो परब्रह्म परमात्मा है, समस्त शरीरधारियोके हृदयमे रहनेवाले उनके साक्षी है, अन्तर्यामी है। अत. आप जगत्पतिके पास आना और आपकी सेवा करना हमारा परम धर्म है।

यह गोपियोंका आदर्श प्रेम है। जिन गोपियोके स्मरण करने-मात्रसे भी स्मरण करनेवालेका कामभाव नष्ट हो जाता है, उनमें काम-वासनाकी कल्पना करना महान् मूर्खता है; किंतु उनके दर्शन-सें कामवासना नष्ट हो जाती है, इसपर श्रद्धा एवं विश्वास होना चाहिये। गोपियोंका भगवान्के प्रति बड़ा ही उच्च कोटिका प्रेम था। ऋषि-मुनियोकी पत्नियाँ भी ऐसी ही थी। एक समय वे भगवान् श्रीकृष्णके

लिये थालियोंमे मिठाई भरकर लायी थी, किंतु उनका भाव भी अश्लील नहीं था, सर्वथा विशुद्ध था। उनके घरवाले भी उनको भगवान्‌के पास जानेसे रोकते नही थे। यदि कोई रोकते तो वे इच्छासे नहीं रुकतीं और जबरन् रोकनेपर उनकी आत्मा वहाँ पहले पहुँच जाती। मुनि-पत्नियोंका प्रेम विशुद्ध था, वे श्रीकृष्णको भगवान् समझकर उनसे प्रेम करती थी।

फिर, श्रीराधिकाजीके प्रेमका तो कहना ही क्या है, वह तो बिल्कुल विशुद्ध था ही, कामकी तो उनमें गन्ध ही नही थी। वे तो भगवान्‌की प्रेममयी शक्ति थीं। वे भगवान्‌को आह्लादित करनेके लिये ही प्रकट हुई थीं। उनका परस्पर आमोद-प्रमोद एवं प्रेमका व्यवहार लीलामय था। दोनों एक ही थे। दोनों परस्पर एक-दूसरेको आह्लादित करते रहते थे।

वात्सल्य, माधुर्य, दास्य, सख्य और शान्त आदि जितने भी भाव हैं, उन सबसे बढ़कर विशुद्ध प्रेमभाव है, यह परम आदर करनेके योग्य है। विशुद्ध प्रेमका जो भाव है, वह सबसे ऊँचा है। भक्तिसे भी यह भाव ऊँचा है, यह भक्तिका ही फल है। यहाँ प्रेम और प्रेमास्पदमे इतनी एकता है कि उसके लिये कोई उदाहरण ही नहीं है। जैसे दोनों हाथ जोडनेपर एकही-से हो जाते है, वैसे ही उनकी एकता बतलायी जा सकती है; किंतु यह तुलना भी समीचीन नहीं; क्योंकि यहाँ तो विलक्षण नित्य संयोग है। गङ्गा सागरमे गिरती है, वहाँ एक हो जाती है। तब उसे केवल सागर ही कहा जाता है, वहाँ गङ्गाका नाम-रूप नहीं रहता। प्रयागमें गङ्गा और यमुना—

दोनों धाराएँ जाकर मिल जाती है; किंतु उसको गङ्गा ही कहते हैं, वहाँ यमुनाका नाम-रूप अलग नहीं रहता। जैसे समुद्रमे जाकर सब नदियाँ समाप्त हो जाती हैं, नदियोंके नाम-रूप समुद्रसे अलग नहीं रहते, वहाँ केवल समुद्र ही रहता है, इसी प्रकार सायुज्य-मुक्तिको प्राप्त भक्तगणोके नाम-रूप भगवान्‌से अलग नहीं रहते, यानी तद्रूप हो जाते है, वहाँ केवल एक भगवान् ही रह जाते है; किंतु इस परम प्रेममे उपर्युक्त उदाहरणोकी-ज्यों एकता नहीं है। यहाँ तो जातिसे वास्तवमे एक होते हुए भी प्रेमास्पद और प्रेमी स्वरूपसे अलग-अलग रहते हैं।

श्रीभगवान् एवं श्रीराधाजी दोनो प्रेमकी मूर्ति है। भगवान्‌की सारी चेष्टाएँ श्रीराधाजीको आह्लादित करनेके लिये ही होती है। इसी प्रकार श्रीराधाजीकी सारी चेष्टाएँ भगवान्‌को आह्लादित करनेके लिये ही होती है। वह प्रेम अनिर्वचनीय है, उसका वर्णन नहीं किया जा सकता। उस प्रेमको प्रकट करनेके लिये ही भगवान् श्रीकृष्णका अवतार हुआ।

उपर्युक्त श्रीकृष्ण और श्रीराधाजीके-जैसे परम प्रेमको प्राप्त होनेपर फिर वहाँ प्रेमी और प्रेमास्पदमें कोई छोटा-बड़ा नहीं रहता। दास्यभावमे भगवान् सेव्य और भक्त सेवक होता है; किंतु इस परम प्रेममे यह बात नहीं है; यहाँ तो दोनों एक है। इस परम प्रेममें सब भावोंसे ऊपर उठकर प्रेमी एकीभावको प्राप्त हो जाता है। भगवान्‌के प्रति जो दास्यभाव होता है, उसमें दोनो समान नहीं है, स्वामी-सेवक-भाव है। श्रीहनुमान्‌जी भगवान्‌के दास है, वे भगवान्‌की गद्दीपर

कभी नही आ सकते । भगवान् बुलावे तब भी हनुमान्जी यह कहें कि यह क्या कर रहे है, मै सेवक हूँ एवं आप स्वामी; क्या स्वामीकी जगह सेवक आ सकता है । हाँ, भगवान् अपनी सेवाके लिये कहें तो हनुमान्जी तैयार है; किंतु उक्त प्रेमभावमें इस प्रकारसे छोटा-बड़ा नही है । यह तन्मयता प्रधान अवस्था है । इसमें दोनों एक-दूसरेको आह्लादित करते है । जैसे हमारे दोनों हाथ हमे एक समान लगते है । हमने इनमे भेददृष्टि कर ली है । दायेंको ऊँचा एवं बायेको नीचा मान लिया है, वास्तवमें आत्मदृष्टिसे देखा जाय तो दोनों एक ही है । यदि बायें हाथमे फोड़ा होगा तो हम उसको हटानेकी उतनी ही कोशिश करेगे, जितनी कि दाये हाथके फोड़ेको हटानेकी करते है । उस समय यह नही सोचेगे कि यह नीचा हाथ है, इसे छोड़ दो ।

इसी प्रकार उक्त स्थिति माधुर्यभावसे भी ऊँची है; क्योंकि स्त्री कान्ता है, स्वामीके प्रतिकूल कार्य न हो, इसका वह पूरा ध्यान रखती है । उसमे पतिकी आज्ञाके पालनका भाव है तथा पतिके साथ उसका सत्कार, मान और आदरका व्यवहार होता है; किंतु जब सब भावोंसे ऊपर उठकर परम प्रेम हो जाता है, वहाँ न तो आज्ञापालनका भाव है और न एक-दूसरेके साथ सत्कार, मान और आदरका भाव रहता है; क्योकि दोनोका वहाँ समानभाव है । यह प्रेमावस्था तीनों गुणोसे अतीत है । यहाँ सात्त्विक गुण और प्रभावको लेकर प्रेम नही है, स्वाभाविक प्रेम है; क्योकि यह गुण और प्रभावसे ऊपर उठी हुई केवल चिन्मय स्थिति है ।

उक्त स्थिति वात्सल्यभावसे भी ऊँची है। वात्सल्यभावमें जैसे यशोदा मैया श्रीकृष्णको लाठी दिखाकर डराती है और वे भी डरते हैं; किंतु प्रेमकी इस निर्भय अवस्थामे उस प्रकार एक-दूसरेसे भयका व्यवहारमें भी अत्यन्त अभाव है। जब दोनों एक हो जाते है, तब फिर कौन किसका भय करे ?

सख्यभावमे भी कहीं भय और आदरका भाव देखा जाता है। भगवान्‌ने अर्जुनको अपना विराट् स्वरूप दिखलाया, वह उस रूपको देखकर डर गया और स्तुति-प्रार्थना करने लगा। सख्यभावमें ऐसा बर्ताव देखा जाता है। इसके लिये भगवान्‌ने अर्जुनसे कहा भी है—

मा ते व्यथा मा च विमूढभावो
दृष्ट्वा रूपं घोरमीदृङ्ममेदम् ।
व्यपेतभीः प्रीतमनाः पुनस्त्वं
तदेव मे रूपमिदं प्रपश्य ॥

(गीता ११।४९)

'मेरे इस प्रकारके इस विकराल रूपको देखकर तुझको व्याकुलता नहीं होनी चाहिये और मूढ़भाव भी नहीं होना चाहिये। तू भयरहित और प्रीतियुक्त मनवाला होकर उसी मेरे इस शङ्ख-चक्र-गदा-पद्मयुक्त चतुर्भुज रूपको फिर देख।'

इस प्रकार भगवान् डरे हुए अर्जुनको आश्वासन देते है कि 'अरे ! हम दोनो तो एक ही है, फिर तू डरता क्यों है ?'

किंतु जो सख्यभावसे ऊपर उठ जाता है और परम प्रेमको प्राप्त कर लेता है, उसमें आदर, सत्कार, मान, भय, लज्जा आदि

कुछ भी किंचिन्मात्र भी नहीं रहते । वहाँ दोनों प्रेमस्वरूप ही हो जाते है । वहाँ भेदभावकी कल्पना करना मूर्खता है । वास्तवमें भक्त एवं भगवान् दोनों प्रेमके एक ही रूप हैं । केवल देखनेमे पृथक्की-ज्यों दिखलायी पड़ते है ।

इस श्रेणीमे पहुँचे हुए भक्तके श्रद्धापूर्वक दर्शन, स्पर्श एवं भाषणसे कल्याण हो सकता है । इस श्रेणीमें पहुँचे हुए प्रेमियोंमे सबसे ऊँचा स्थान श्रीराधिकाजीका है । ये भगवान्की उच्चकोटिकी प्रेमिका है । ये भगवान्की आह्लादिनी शक्ति है । भगवान्को हरदम प्रसन्न रखना ही इनका काम है । रुक्मिणीजी भगवान्की ऐश्वर्यमयी शक्ति है । जब भक्त सुदामा द्वारकामे आये, तब भगवान् श्रीकृष्ण अपने पुराने मित्रको ऐसी हालतमें देखकर गद्गद हो गये । सुदामा-जी भगवान्को भेट देनेके लिये एक पोटलीमे चिउरे बाँधकर लाये थे, किंतु यहाँ राजसी ठाट-बाट देखकर बेचारे विस्मित हो गये थे । भगवान्ने देखा कि सुदामा मुझे चिउरे देनेमे हिचकिचा रहे है, तब उन्होने उनके संकोचको मिटानेके लिये बगलमे दबायी हुई पोटली खींच ली और वे चिउरोंको बड़े प्रेमसे खाने लगे । उन्होंने एक मुट्ठी भरकर तो चिउरे खा लिये, जब वे दूसरी मुट्ठी भरकर खाने लगे, तब उनकी ऐश्वर्यमयी शक्ति रुक्मिणीजीने उनका हाथ पकड़ लिया और कहा—'विश्वात्मन् ! बस, मनुष्यको इस लोकमे और मरनेके बाद परलोकमे भी समस्त सम्पत्तियोकी समृद्धि प्राप्त करनेके लिये यह एक मुट्ठी चिउरा ही बहुत है ।' इस प्रकार रुक्मिणीजीको अपने ऐश्वर्यका ध्यान आ गया; क्योकि ये भगवान्की ऐश्वर्यमयी शक्ति

थीं। यदि श्रीराधाजी यहाँ होतीं तो वे ऐश्वर्यके लिये भगवान्‌को नहीं रोकतीं। वे भगवान्‌के लिये अपने-आपका बलिदान भी कर सकती है। रुक्मिणीजीमे भी कोई कमी नहीं थी; किंतु दोनोंकी तुलनामें तो राधिकाजीका स्थान ही ऊँचा रहेगा। त्रिलोकीका समस्त ऐश्वर्य गुणातीतके आगे तुच्छ है। भगवान् एवं राधिकाजी दोनों गुणोंसे ऊपर उठे हुए है। गुणोके द्वारा राधाजी प्रभावित नहीं हो सकती। यह विशुद्ध प्रेम आनन्दमय सच्चिदानन्दघन ब्रह्मका साक्षात् स्वरूप है। ऐश्वर्यमें प्रतीत होनेवाला आनन्द तो सच्चिदानन्द भगवान्‌का प्रतिबिम्ब है, वास्तविक स्वरूप नहीं।

कितने ही लोगोंकी इस विषयमे दूसरी प्रकारकी मान्यता है। उनका कहना है कि प्रेम ही दो भावोमें विभक्त है—एक शक्तिमान् एवं दूसरा शक्ति। राधिकाजी शक्ति एवं भगवान् शक्तिमान् है; किंतु उपर्युक्त परम प्रेम तो इससे भी ऊँचा है। सब भावोको लॉघकर जो एक परम प्रेम-भाव है, वहॉ दोनोमें अभेद है; क्योंकि वहाँ फिर शक्ति और शक्तिमान्‌का भेद नही रहता, एक ही चीज रहती है। केवल देखनेमें दो रूपसे प्रतीत होते है। वस्तुतः श्रीराधिकाजी तथा श्रीकृष्ण एक ही है। गोपियोका भी भगवान्‌में इसी प्रकारका प्रेम था। इस प्रेममे यदि कोई विलासिताकी कल्पना करे तो कल्पना करनेवालेकी भूल है। इस प्रेममे लज्जा, संकोच, भय, कामका नाम-निशान भी नही है।

इसके सिवा, भगवान्‌के साथ तो किसी भी तरहका सम्बन्ध होनेपर उसकी मुक्ति हो सकती है। यदि कंस-मारीच आदिकी भाँति

द्वेष और भयके सम्बन्धसे भी भगवान्‌का चिन्तन हो तो उससे भी कल्याण हो सकता है। यदि कोई भगवान्‌से व्यभिचारका नाता जोड़-कर मुक्त होता हो तो हमारी कोई आपत्ति नहीं, किन्तु यह भाव आदरणीय कदापि नहीं है; पर ऐसा नाता गोपियोंका नहीं था, उनका तो परम और विशुद्ध प्रेम था । यद्यपि विष पिलानेवाली पूतनाकी मुक्ति भगवान्‌की परम दयासे हो गयी, इसमें संदेह नहीं; परंतु पूतना-का आचरण अनुकरणीय नहीं है । रावणने वैरभावसे भगवान्‌के साथ युद्ध किया और मुक्ति पायी, किंतु यह भी अनुकरणीय नहीं है । अतः यदि जारभावसे तथा वैर और द्वेषभावसे मुक्ति मिले तो वह हम-लोगोंके लिये त्याज्य है; क्योंकि श्रद्धा, प्रेम और भक्तिसंयुक्त दास्य, सख्य, वात्सल्य, शान्त और माधुर्य आदि भावोंके मौजूद रहते हुए जार, वैर आदि भावोंका अनुसरण करना महान् मूर्खता है। भगवान्‌से तो विशुद्ध प्रेमका नाता ही करना चाहिये, इसीमें हमारा कल्याण शीघ्रातिशीघ्र हो सकता है ।

गोपियोंका उपर्युक्त परम विशुद्ध प्रेमभाव था, जिनके प्रेमको देखकर उद्धव भी गोपियोंकी मुक्तकण्ठसे प्रशंसा करते है । यदि उन गोपियोंका भगवान् श्रीकृष्णमें विशुद्ध प्रेम न होता तो उद्धवजी गोपियों-की इतनी प्रशंसा नहीं करते; किंतु गोपियोंका पवित्र एवं विशुद्ध भाव था, जिसको देखकर उद्धवजी भी चकित एवं विस्मित हो गये ।

अतएव हमलोगोंको भगवान्‌में उपर्युक्त विशुद्ध प्रेम करनेके लिये प्राणपर्यन्त चेष्टा करनी चाहिये ।

एक क्षणमें भगवत्प्राप्ति कैसे हो सकती है ?

एक सज्जनने पूछा है कि "ऐसा कौन-सा 'क्षण' होता है, जिसमे तुरंत भगवान्की प्राप्ति हो जाती है ?" इसके उत्तरमें निवेदन है कि जैसे बिजली फिट हो जाय तथा पावरहाउससे उसका कनेक्शन हो जाय तो फिर जिस क्षण स्विच दबाया जाता है, उसी क्षण प्रकाश हो जाता है और अन्धकारका भी उसी क्षण नाश हो जाता है; इसी प्रकार मनुष्य जब 'पात्र' हो जाता है, सब तरहकी उसकी पूरी तैयारी होती है, तब परमात्माके विषयका ज्ञान क्षणमात्रमें हो जाता है तथा ज्ञान होते ही उसी क्षण अज्ञानका नाश होकर परमात्माकी प्राप्ति हो जाती है। दूसरा उदाहरण है—जैसे किसीको दिग्भ्रम हो जाता है तो उसको पूर्वका पश्चिम और पश्चिमका पूर्व दीखने लगता है, पर जब वह दिग्भ्रम मिटता है, तब क्षणमात्रमे ही मिट जाता है और उसी क्षण दिशाका यथार्थ ज्ञान हो जाता है; इसी प्रकार जब परमात्माका ज्ञान हो जाता है, तब उसी क्षण दिग्भ्रमकी भाँति मिथ्या भ्रम मिट जाता है और उसे परमात्माके वास्तविक स्वरूपकी प्राप्ति हो जाती है। तीसरा उदाहरण है—जैसे किसीको रात्रिके समय नींदमे स्वप्न आ रहा है, इतनेमे किसी कारणसे वह जग गया, बस, जगते ही स्वप्नका सारा संसार क्षणमात्रमे नष्ट हो गया—उसका अत्यन्त अभाव हो गया; इसी प्रकार परमात्मामे जगनेपर अर्थात् परमात्माके स्वरूपमें एकीभावसे स्थित होनेपर ज्ञानरूपी नेत्रोंके खुलनेसे उसी क्षण यह संसार सर्वथा छिप जाता है। जगनेके साथ स्वप्न-लोप होनेकी भाँति यह संसार लुप्त हो जाता है तथा परमात्माकी प्राप्ति हो जाती है।

जैसे दिग्भ्रम अपने-आप ही मिट जाता है, अथवा अपने जन्मस्थानपर आनेसे भी मिट जाता है; तथा जैसे स्वप्नावस्थामें जब मनुष्य स्वप्नको स्वप्न समझ लेता है, तब वह अपने-आप जग जाता है अथवा दूसरेके जगानेसे भी जग जाता है; इसी प्रकार शास्त्रोंके गम्भीर विचारके द्वारा संसारको हर समय स्वप्नवत् देखनेसे तथा कर्म-योगकी सिद्धिके द्वारा अन्तःकरण शुद्ध होनेसे मनुष्यको जो अपने-आप ही ज्ञान हो जाता है, वह अपने-आप जगना है (गीता ४ । ३८)। तथा महात्माओंके शरण जानेपर उनसे जो ज्ञान प्राप्त होता है, वह दूसरेके जगानेसे जगना है (गीता ४ । ३४-३५)। अब दिग्भ्रमके विषयमें यह समझना चाहिये कि जब किसीको दिग्भ्रम हो जाता है, तब वह यदि अपने जन्मस्थानमें चला जाता है तो उसकी चौंधियायी आँखें उसी क्षण ठीक हो जाती है। इसी प्रकार परमात्माके स्वरूपमें स्थितिरूप जन्मस्थानपर पहुँचनेसे तुरंत ही परमात्माकी प्राप्ति हो जाती है। विचार कीजिये, यहाँ हमारा जन्मस्थान क्या है? परमात्माका जो स्वरूप है, वही हमारा जन्मस्थान है, वही हमारा असली आदि-स्वरूप है; अतः परमात्माके स्वरूपमें स्थित होते ही संसारका भ्रम मिट जाता है। जैसे दिग्भ्रमके समय भ्रमसे पूर्वकी ओर पश्चिम और पश्चिमकी ओर जो पूर्व दीखता था, वह भ्रम मिटकर यथार्थ दीखने लग जाता है, वैसे ही परमात्मामें भ्रमसे जो यह संसार प्रतीत हो रहा है, यह भ्रम परमात्माके स्वरूपमें स्थित होनेसे मिट जाता है। अथवा जैसे दिग्भ्रम अपने-आप ही मिट जाता है, इसी प्रकार यह संसार-भ्रम भी संसारको हर समय स्वप्नवत् समझते रहनेपर किसी-किसीके अपने-आप ही शान्त हो जाता है। एवं जब चित्तकी

वृत्तियाँ पूर्णतया सात्त्विक हों तथा साथ ही वैराग्य भी हो, तब अन्तःकरण शुद्ध होकर अपने-आप ही ज्ञान पैदा हो जाता है। ऐसी स्थितिमें किसी संतके द्वारा तत्त्वोपदेश मिल जाय, तब तो कहना ही क्या है ! फिर तो परमात्माका वास्तविक ज्ञान प्राप्त हो ही जाता है (गीता ४ । ३४-३५) तथा मरनेके समय तो परमात्माके ध्यानमात्रसे ही उसी क्षण परमात्माकी प्राप्ति हो जाती है। भगवान्‌ने कहा है—

अन्तकाले च मामेव स्मरन्मुक्त्वा कलेवरम्।
यः प्रयाति स मद्भावं याति नास्त्यत्र संशयः॥
(गीता ८ । ५)

'जो पुरुष अन्तकालमें भी मुझको ही स्मरण करता हुआ शरीरको त्याग कर जाता है, वह मेरे साक्षात् स्वरूपको प्राप्त होता है—इसमें कुछ भी संशय नहीं है।'

इसी प्रकार भगवान्‌ने गीताके दूसरे अध्यायके ७२ वें श्लोकमें कहा है—

एषा ब्राह्मी स्थितिः पार्थ नैनां प्राप्य विमुह्यति।
स्थित्वास्यामन्तकालेऽपि ब्रह्मनिर्वाणमृच्छति॥

'हे अर्जुन ! यह ब्रह्मको प्राप्त हुए पुरुषकी स्थिति है, इसको प्राप्त होकर योगी कभी मोहित नहीं होता और अन्तकालमें भी इस ब्राह्मी स्थितिमें स्थित होकर ब्रह्मानन्दको प्राप्त हो जाता है।'

यह अन्तकालकी स्थितिकी महिमा है। इसी प्रकार सत्त्वगुणकी स्थितिमें प्राण जानेसे भी बड़ा लाभ है। गीताके १४ वें अध्यायके १८ वें श्लोकमें बताया है कि 'जिनकी सत्त्वगुणमें स्थिति है, वे ऊर्ध्वको प्राप्त हो जाते है।' (ऊर्ध्वं गच्छन्ति सत्त्वस्थाः) इसका अभिप्राय

तो यह है कि जिसकी सदा ही सत्त्वगुणमें स्थिति है, वही ऊपरको जाता है; परंतु अन्त समयमें भी कोई यदि सत्त्वगुणको प्राप्त हो जाता है या जिस समय सत्त्वगुणकी वृद्धि हो, उस समय किसीके प्राण निकलते हैं, तो वह भी उत्तम गतिको प्राप्त होता है। भगवान्‌ने गीतामें बताया है—

यदा सत्त्वे प्रवृद्धे तु प्रलयं याति देहभृत्।
तदोत्तमविदां लोकानमलान् प्रतिपद्यते॥
(१४। १४)

'जब यह मनुष्य सत्त्वगुणकी वृद्धिमें मृत्युको प्राप्त होता है, तब तो उत्तम कर्म करनेवालोंके निर्मल दिव्य स्वर्गादि लोकोंको प्राप्त होता है।'

यहाँ अभिप्राय यह है कि वह ऊपरके लोकोंको जाता है और फिर वहाँसे आगे बढ़कर परमात्माको—परमधामको प्राप्त हो जाता है। (इसका विस्तृत अर्थ गीता-तत्त्वविवेचनी-टीकामें ८ वें अध्यायके २४ वें श्लोककी व्याख्यामें देखना चाहिये।) इसे क्रम-मुक्ति कहते हैं। यहाँ यह समझना चाहिये कि जैसे अन्तकालकी यह एक विशेष बात है कि उस समय यदि राजसी-तामसी वृत्तिवाला पुरुष भी भगवान्‌का ध्यान करता हुआ या भगवान्‌के तत्त्वज्ञानको समझता हुआ प्रयाण करता है तो वह भगवान्‌को प्राप्त हो जाता है; इसी प्रकार सत्त्वगुणकी वृद्धिके समय भी परमात्माके तत्त्वका ज्ञान उसे सहज ही हो जाता है। वह बहुत ही उत्तम समय है, अन्तकालके समान ही महत्त्वपूर्ण तथा सहज है। ऐसे समयमें विशेष सावधान होकर ध्यानकी चेष्टा करनी चाहिये; क्योंकि उस समय थोड़े साधनसे ही बड़ा काम हो जाता है। पर यह कैसे पता लगे कि सत्त्वगुणकी

वृद्धिका वह समय आ गया है ? इसके लिये भगवान् पहचान बताते है । वे गीतामे कहते है—

सर्वद्वारेषु देहेऽस्मिन् प्रकाश उपजायते ।
ज्ञानं यदा तदा विद्याद्विवृद्धं सत्त्वमित्युत ॥

(१४ । ११)

'जिस समय इस देहमे तथा अन्तःकरण और इन्द्रियोमे चेतनता (जागृति) और विवेकशक्ति उत्पन्न होती है, उस समय यह जानना चाहिये कि सत्त्वगुण बढ़ा है ।'

उस सत्त्वगुणकी वृद्धिके समय मनुष्य परमात्माका ध्यान करता है या परमात्माके तत्त्वको जाननेका प्रयास करता है तो उसे बहुत शीघ्र लाभ हो जाता है । ऐसे अवसरपर भगवान्की कृपासे क्षणमात्रमे ही परमात्माकी प्राप्ति हो सकती है । ऐसे समय मनुष्यको अपना समय वैराग्यपूर्वक ज्ञान और ध्यानमे ही बिताना चाहिये । या महात्माओंके सङ्गमे और उनके वचनोंको सुनकर उसीके अनुसार चेष्टा करनेमे लगाना चाहिये—उसीमें स्थित हो जानेका प्रयत्न करना चाहिये । ऐसा करनेसे क्षणमात्रमें ही ज्ञान हो जाना कोई असम्भव बात नहीं है । यह एक बड़े महत्त्वकी बात है । जैसे अन्तकालमें परमात्माका ध्यान या चिन्तन करते हुए प्राण त्यागनेसे उत्तम-से-उत्तम गति मिल जाती है, वैसे ही सत्त्वगुणकी वृद्धिमे भी ऐसी बात हो जाया करती है । अतः जिस समय शरीरमे, मनमें, इन्द्रियोंमे, बुद्धिमे—सबमे जागृति हो, सबमे बाहर-भीतर—सर्वत्र चेतनता-सी प्रतीत हो और ज्ञान (बोध) की बहुलता हो, दुःखोंका अभाव हो, शान्तिकी प्रतीति हो और सात्त्विक सुखका अनुभव हो,

उस समय ऐसा समझना चाहिये कि इस समय सत्त्वगुण बढ़ा है। ऐसी अवस्थामे परमात्माके ध्यानकी थोड़ी चेष्टा करनेपर भी बहुत बड़ा लाभ हो सकता है।

ऊपर बिजलीका उदाहरण दिया गया था, उससे यों समझना है कि जैसे बिजली लगकर तैयार है, पावर-हाउससे उसका सम्बन्ध भी हो गया है, तब स्विच दबानेके साथ ही क्षणमात्रमे रोशनी जल जाती है; वैसे ही साधन करते-करते मनुष्य जब एकदम तैयार हो जाता है, पात्र हो जाता है और भगवान्‌के साथ उसके मनका सम्बन्ध जुड़ जाता है, तब उसे क्षणभरमे ही परमात्माकी प्राप्ति हो जाती है। जैसे बिजलीका स्विच दबाते ही क्षणभरमें प्रकाश होकर सारे अन्धकारका नाश हो जाता है, वैसे ही अपनी पूरी तैयारी होनेपर—पात्र हो जानेपर—योग्यता प्राप्त हो जानेपर थोड़े ही उपदेशसे क्षणमात्रमे ज्ञान होकर परमात्माकी प्राप्ति हो जाती है। परमात्माके ध्यानसे, सद्‌ग्रन्थोंके अध्ययन—विचारसे, सत्पुरुषोंकी बाते सुननेसे और परमात्माकी कृपासे स्वतः ही हृदयमे जागृति होकर क्षणमात्रमे ही परमात्माकी प्राप्ति हो सकती है। वस्तुतः योग्यता प्राप्त करना यानी अधिकारी होना ही तैयार होना है। यह योग्यता यानी पात्रता प्राप्त होती है—अन्तःकरणकी शुद्धि होनेपर। अतः अन्तःकरणकी शुद्धि होनेमे जो समय लगता है, वह तो लगता ही है। भक्तियोग, ज्ञानयोग, कर्मयोग आदि साधनोंके द्वारा जब मल-विक्षेप—आवरणका नाश हो जाता है, तभी अन्तःकरण शुद्ध होता है। इस अवस्थामे जैसे स्विच दबानेमात्रसे ही रोशनी हो जाती है, अन्धकारका नाश

हो जाता है, वैसे ही मल-विक्षेप-आवरणका अत्यन्त अभाव हो जानेपर क्षणमात्रमे ही परमात्माके तत्त्वका यथार्थ ज्ञान होकर परमात्माकी प्राप्ति हो जाती है । ज्ञानयोगके द्वारा परमात्माकी प्राप्ति किस प्रकारसे होती है ? इस विषयमें श्रीभगवान्‌ने कहा है—

भक्त्या मामभिजानाति यावान्यश्चास्मि तत्त्वतः ।
ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम् ॥

(गीता १८ । ५५)

'उस पराभक्तिके द्वारा वह मुझ परमात्माको, मै जो हूँ और जितना हूँ, ठीक वैसाका वैसा, तत्त्वसे जान लेता है तथा उस भक्तिसे मुझको तत्त्वसे जानकर तत्काल ही मुझमे प्रविष्ट हो जाता है ।' यह तैयारीकी बात है, तैयारी कब समझी जाय ? इसके लिये इसीके पूर्वका श्लोक है—

ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न काङ्क्षति ।
समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम् ॥

(गीता १८ । ५४)

'वह सच्चिदानन्दघन ब्रह्ममे एकीभावसे स्थित प्रसन्न मनवाला योगी न तो किसीके लिये शोक करता है और न किसीकी आकाङ्क्षा ही करता है । (उसके अन्तःकरणमे चिन्ता, शोक तथा कामनाओका अत्यन्त अभाव हो जाता है) ऐसा समस्त प्राणियोमें समभाववाला योगी मेरी पराभक्तिको (ज्ञानकी परानिष्ठाको) प्राप्त हो जाता है ।' समस्त प्राणियोमे समभावको देखना क्या है ? भगवान्‌ने कहा है—

सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि ।
ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः ॥
(गीता ६ । २९)

'सर्वव्यापी अनन्त चेतनमें एकीभावसे स्थितिरूप योग अर्थात् जीवात्मा और परमात्माकी एकतारूप योगसे युक्त आत्मावाला तथा सबमें समभावसे देखनेवाला योगी आत्माको सम्पूर्ण भूतोंमें बर्फमें जलके सदृश व्यापक देखता है और सम्पूर्ण भूतोंको आत्मामें कल्पित—अपने संकल्पके आधारपर स्थित देखता है ।' अर्थात् जैसे स्वप्नसे जगा हुआ पुरुष स्वप्नके संसारको अपने अन्तर्गत संकल्पके आधारपर देखता है, वैसे ही वह पुरुष सम्पूर्ण भूतोंको अपने सर्वव्यापी अनन्त चेतन आत्माके अन्तर्गत कल्पित देखता है । यह है 'समदर्शन'; इसीका फल है—'ज्ञानकी परानिष्ठा' और इसीका नाम है 'पराभक्ति' । इस पराभक्तिसे मनुष्य परमात्माको यथार्थ रूपमें जान जाता है । भगवान्‌के साकार-निराकार, सगुण-निर्गुण, व्यक्त-अव्यक्त सबके तत्त्वको वह समझ जाता है । वह फिर परमात्माको प्राप्त हो जाता है । पर इसके पहले पूरी तैयारी हो जानी चाहिये । उस तैयारीके लिये इसके पूर्वके निम्नलिखित तीन श्लोकोंके अनुसार बनना चाहिये, जिनमें ज्ञानकी परानिष्ठाके साधनोंका वर्णन है । वे श्लोक हैं—

बुद्ध्या विशुद्धया युक्तो धृत्यात्मानं नियम्य च ।
शब्दादीन्विषयांस्त्यक्त्वा रागद्वेषौ व्युदस्य च ॥
विविक्तसेवी लघ्वाशी यतवाक्कायमानसः ।
ध्यानयोगपरो नित्यं वैराग्यं समुपाश्रितः ॥

अहंकारं बलं दर्पं कामं क्रोधं परिग्रहम् ।
विमुच्य निर्ममः शान्तो ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥
(गीता १८ । ५१–५३)

'विशुद्ध बुद्धिसे युक्त तथा हल्का, सात्त्विक और नियमित भोजन करनेवाला, शब्दादि विषयोंका त्याग करके एकान्त और शुद्ध देशका सेवन करनेवाला, सात्त्विक धारणशक्तिके द्वारा अन्तःकरण और इन्द्रियोंका संयम करके मन, वाणी और शरीरको वशमे कर लेनेवाला, राग-द्वेषको सर्वथा नष्ट करके भलीभाँति दृढ वैराग्यका आश्रय लेनेवाला तथा अहङ्कार, बल, घमंड, काम, क्रोध और परिग्रहका त्याग करके निरन्तर ध्यानयोगके परायण रहनेवाला, ममतारहित और शान्तियुक्त पुरुष सच्चिदानन्द ब्रह्ममे अभिन्नभावसे स्थित होनेका पात्र होता है ।'

जब मनुष्य ध्यानमें स्थित हो जाता है, तब उसके हृदयके सब विकार नष्ट हो जाते है और उसके नाना प्रकारके विषयोका भी अभाव हो जाता है । मलका अभाव तो पहले ही हो गया था, अब विक्षेपका भी अभाव हो जाता है । इस प्रकार जब सारे दोषोका सर्वथा अभाव हो जाता है, तब वह ब्रह्मकी प्राप्तिका अधिकारी बन जाता है । तदनन्तर उसकी स्थिति ब्रह्मके स्वरूपमे हो जाती है और जिसकी ब्रह्ममे स्थिति होती है, उसे कहते है 'ब्रह्मभूत' । ब्रह्मभूत होनेके बादकी स्थिति ऊपर बतलायी जा चुकी है । इस ब्रह्म-भूत–अवस्थाका फल ही है—पराभक्तिकी—ज्ञानकी परानिष्ठाकी प्राप्ति । इस ज्ञानसे अज्ञानका नाश हो जाता है । यह अज्ञानका नाश ही आवरण-दोषका नाश है; यों मल-विक्षेप-

आवरणका नाश होते ही परमात्माकी प्राप्ति हो जाती है। इसीलिये इस ज्ञानकी परानिष्ठाका फल साक्षात् परमात्माकी प्राप्ति बतलाया गया है। इस प्रकार क्रमशः तैयारी करके पुरुष जब योग्य हो जाता है, तब क्षणमात्रमें ही उसे परमात्माकी प्राप्ति हो जाती है, परमात्माको यथार्थरूपसे जानकर वह परमात्मामें तद्रूप हो जाता है।

स्वप्नसे जगकर तो पुरुष स्वप्नके संसारको पुनः-पुनः याद करके यह समझता है कि उस समय मेरी अपने शरीरमें 'अहंबुद्धि' और समस्त संसारमें 'इदंबुद्धि' थी, परंतु जागनेके बाद यह प्रत्यक्ष हो जाता है कि वह 'अहंबुद्धि' और 'इदंबुद्धि' कल्पनामात्र थी; किंतु यहाँ ज्ञानीकी दृष्टिमें तो यह कल्पना भी नहीं रहती। जब संसार ही नहीं है, तब 'अहं' कौन और 'इदं' कौन? परमात्माकी प्राप्ति होनेके उत्तरकालमें संसारका अत्यन्त अभाव हो जाता है। ज्ञानमार्गकी दृष्टिसे स्वप्नका जगा हुआ पुरुष तो स्वप्नके संसारको कल्पित—'स्वप्नवत्' समझता है, किंतु ब्रह्मके स्वरूपमें जगे हुए पुरुषके लिये तो यह संसार स्वप्नवत् भी नहीं है; क्योंकि स्वप्नसे जगे हुए पुरुषके तो मन-बुद्धि वे ही हैं, जो स्वप्नमें थे, इसलिये वह स्वप्नके संसारको 'स्वप्नवत्' समझता है; किंतु जब पुरुष ब्रह्मको प्राप्त हो जाता है, तब उसके मन-बुद्धि यहीं इसी शरीरमें छूट जाते हैं; मन-बुद्धि 'ब्रह्म' तक नहीं पहुँचते। फिर इसे स्वप्नवत् भी कौन कैसे देखे? तथापि यह कहा जाता है कि ज्ञानीके लिये संसार 'स्वप्नवत्' है। इसपर यह प्रश्न हो सकता

है कि 'जब संसार है ही नहीं, तब स्वप्नवत् क्यों कहा जाता है?' तो इसका उत्तर यह है कि वस्तुतः उस ब्रह्मको प्राप्त पुरुषके लिये तो संसारकी स्वप्नवत् भी प्रतीति नहीं होती; क्योंकि उसके लिये तो सृष्टि ही नहीं है; न दृष्टि है, न सृष्टि। वहाँ तो इसका अत्यन्ताभाव है। उसके लिये तो ब्रह्मसे अतिरिक्त और कुछ है ही नहीं और वह भी सदासे ही है। पर संसारमे जो उसका शरीर है, उस शरीरमे मन-बुद्धि-अन्तःकरण है। उस अन्तःकरणमे भी वस्तुतः संसारका, शरीरका और अन्तःकरणका अत्यन्त अभाव-सा ही है तथा परमात्माका भाव है, तथापि उसके ही सम्बन्धमे यह कहा जाता है कि उसके लिये अन्तःकरणसहित यह संसार स्वप्नवत् है। ऐसे महापुरुषकी महिमा कौन कह सकता है? यह जो अनुभव है कि 'परमात्मा है' वही उसका प्रमाण है। सारे शास्त्र उन महापुरुषोंके अनुभव ही है। उन महापुरुषोके सर्वथा प्रत्यक्ष अनुभवसे अधिक और प्रमाण हो ही क्या सकता है?

अब परमात्माके विषयमे कुछ समझना है। परमात्माका एक स्वरूप है—सच्चिदानन्दघन 'निर्गुण-निराकार' और दूसरा है—'सगुण-साकार।' सगुणके दो भेद है—एक 'सगुण-निराकार' और दूसरा 'सगुण-साकार।' सगुण-निराकाररूपसे जो सारे संसारमे व्याप्त हैं, उन्हे 'ईश्वर' भी कहते है और 'परमात्मा' भी। सगुण-साकाररूपसे वे दिव्यधाममे नित्य विराजित रहते है और समय-समयपर अपनी इच्छासे अवतार धारण भी करते है। वे सत्ययुगमे श्रीविष्णुरूपसे, त्रेतामे श्रीरामरूपसे, द्वापरमे श्रीकृष्णरूपसे प्रकट हुए थे।

'अजातवाद' को माननेवाले आधुनिक वेदान्ती महानुभाव एक 'ब्रह्म' के सिवा दूसरी वस्तु ही नहीं मानते। उनका यह एक तत्त्व-वस्तुको मानना तो बहुत ही ठीक है, परंतु भगवान्‌के 'सगुण-निराकार-स्वरूप' जिसे हम 'ईश्वर कहते है, जो सृष्टिकर्ता, सबका पालक, ज्ञाता, साक्षी और द्रष्टा है और जो दिव्य अवतार धारण करता है—उसके यानी परमात्माके इन स्वरूपोंके सम्बन्धमे उनकी मान्यता मेरी समझसे ठीक नही है। ईश्वरके स्वरूपको वे मायिक बतलाते है। वे कहते है कि 'प्रपञ्चका अभाव होनेपर सगुण-निराकार और सगुग-साकारका भी अभाव हो जाता है। एक निर्गुण-निराकार ब्रह्म ही वस्तुतः सदा रहता है।' परंतु वस्तुतः परमात्माके 'सगुण-निराकार' और 'सगुण-साकार' रूपका इस संसारकी तरह कभी अभाव नहीं होता। संसार मायाका प्रपञ्च है—जड है; परंतु परमात्माका सगुण-निराकार और सगुण-साकार रूप उनका अपना ही स्वरूप एवं चेतन है। हाँ, भगवान् जब अवतार लेते है, तब एक मायाका परदा अपनेपर अवश्य डाल लेते है; इसीसे उनका यथार्थ स्वरूप मूढोंको नहीं दिखायी देता। भगवान्‌ने गीतामे यही बात कही है—

नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमायासमावृतः।
मूढोऽयं नाभिजानाति लोको मामजमव्ययम्॥

(७। २५)

'अपनी योगमायासे छिपा हुआ मैं सबके प्रत्यक्ष नहीं होता, इसलिये यह अज्ञानी जनसमुदाय मुझ जन्मरहित अविनाशी

परमेश्वरको नही जानता अर्थात् मुझको जन्मने-मरनेवाला समझता है।' अवश्य ही, भगवान् अपने श्रद्धालु प्रेमी भक्तोंके सामने इस योगमायाके पर्देको हटा लेते है, इसलिये भक्त उन्हें यथार्थरूपमे जान—देख पाते है। भगवान् तो अपात्रों या मूढोंके लिये ही इस पर्देसे अपनेको ढकते हैं।

यहाँ यह समझना चाहिये कि भगवान् श्रीराम और श्रीकृष्णका स्वरूप मनुष्योंका-सा है; इसीलिये उन्हे मानुषी-लीला करनेवाला माना गया है। भगवान् विष्णुका स्वरूप देवताका-सा है, उनके शरीरकी धातु देवताओंकी धातु-जैसी है। अतएव उनके दीख पड़नेवाले शरीर तो मनुष्यो और देवताओ-जैसे है, पर वास्तवमे वे दिव्य चिन्मय हैं; मायिक नहीं। वस्तुतः भगवान्का निर्गुण-निराकार स्वरूप ही 'सगुण-निराकार' और 'सगुण-साकार' रूपमे प्रकट है। इस बातको आधुनिक वेदान्ती महानुभाव नहीं मानते। वे इसके तत्त्व-रहस्यको नहीं जानते। भगवान्के जो दिव्य चिन्मय गुण है, उन्हीका प्रतिबिम्ब संसारपर सत्त्वगुणमे पड़ता है। हमे जो ये दैवी सम्पदाके गुण दिखायी देते है, ये मायिक है, पर सात्त्विक हैं। सत्त्वगुणमे जो गुण प्रतीत होते है, वे सब परमात्माके गुणोंके अंशमात्रके प्रतिबिम्ब है। जैसे चन्द्रमाका प्रतिबिम्ब दर्पणमे प्रतीत होता है, वैसे ही विशुद्ध अन्तःकरणमे ये सब गुणोंके रूपमे प्रतीत होते है, तथापि ये जड है, चेतन नहीं; किंतु जो भगवान्के गुण है, वे तो दिव्य और चिन्मय है।
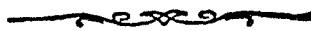
भगवान्का ध्यान और मानस-पूजा

सशङ्खचक्रं सकिरीटकुण्डलं सपीतवस्त्रं सरसीरुहेक्षणम्।
सहारवक्षःस्थलकौस्तुभश्रियं नमामि विष्णुं शिरसा चतुर्भुजम्॥

'भगवान् शङ्ख और चक्र (तथा गदा-पद्म) धारण किये हुए है, उनके मस्तकपर सुन्दर किरीट-मुकुट और कानोंमें कुण्डल हैं, वे पीताम्बर पहने हुए हैं, नेत्र कमलदलके सदृश कोमल, विशाल और खिले हुए है, वक्षःस्थलपर कौस्तुभमणि, रत्नोंका चन्द्रहार और श्रीवत्सका चिह्न सुशोभित है, ऐसे चतुर्भुज भगवान् विष्णुको मै मस्तकसे नमस्कार करता हूँ ।'

महान् तपस्वी परम भक्त श्रीध्रुवजी महाराज 'ॐ नमो भगवते वासुदेवाय' इस द्वादशाक्षर मन्त्रका जप करते थे और भगवान् श्रीविष्णुके चतुर्भुज स्वरूपका ध्यान किया करते थे ।

भगवान्का ध्यान करनेके पूर्व हमे आसनसे वैठना चाहिये । आसन अपनी सुविधा तथा अभ्यासके अनुकूल स्वस्तिक हो, पद्मासन

श्रीविष्णु

सशङ्खचक्रं सकिरीटकुण्डलं सपीतवस्त्रं सरसीरुहेक्षणम् ।
सहारवक्षःस्थलकौस्तुभश्रियं नमामि विष्णुं शिरसा चतुर्भुजम् ॥

हो या सिद्धासन हो; पर बैठना चाहिये सरल भावसे। भगवान्‌ने गीतामे छठे अध्यायके १३वें श्लोकमे बताया है—

समं कायशिरोग्रीवं धारयन्नचलं स्थिरः।
सम्प्रेक्ष्य नासिकाग्रं स्वं दिशश्चानवलोकयन्॥

'काया, सिर और गलेको समान एवं अचल धारण करके और स्थिर होकर, अपनी नासिकाके अग्र भागपर दृष्टि जमाकर, अन्य दिशाओंको न देखता हुआ (ध्यान करे)।'

ध्यानका स्थान एकान्त और पवित्र होना चाहिये। ध्यानके समय प्रथम 'नारायण' नामकी ध्वनि करके भगवान्‌का आवाहन करना चाहिये। 'नारायण' भगवान् विष्णुका नाम है। नारायण शब्दमे चार अक्षर है—ना रा य ण और भगवान् विष्णुके चार भुजाएँ है, चार ही आयुध है—शङ्ख, चक्र, गदा, पद्म। ऐसे भगवान् विष्णुका ध्यान करना चाहिये। भगवान्‌का स्वरूप बहुत ही अद्भुत और सुन्दर है। भगवान्‌का ध्यान पहले बाहर आकाशमे करे। मानो भगवान् आकाशमे प्रकट हो गये है और आकाशमे स्थित होकर हमलोगोके ऊपर अपने दिव्य गुणोंकी ऐसी वर्षा कर रहे हैं कि हम अनुपम आनन्दका अनुभव करते हुए आनन्दमुग्ध हो रहे है। जैसे पूर्णिमाका चन्द्रमा आकाशमे स्थित होकर अमृतकी वर्षा करता है, वैसे ही आकाशमें स्थित होकर भगवान् अपने गुणोकी वर्षा कर रहे है। क्षमा, शान्ति, समता, ज्ञान, वैराग्य, दया, प्रेम और आनन्दकी मानो अजस्र वर्षा हो रही है और हमलोग उसमे सर्वथा मग्न हो रहे है। तदनन्तर ऐसा देखे कि भगवान् आकाशमे हमसे कुछ ही दूरपर स्थित है। उनका आकार करीब

५।। फुट लंबा और करीब १।–१।। फुट चौड़ा है। भगवान्‌के श्रीअङ्ग-का वर्ण आकाशके सदृश नील है, परंतु उस नीलिमाके साथ ही भगवान्‌मे अत्यन्त उज्ज्वल दिव्य प्रकाश है। अतएव नीलिमाके साथ उस प्रकाशकी उज्ज्वलताका सम्मिश्रण होनेसे एक विलक्षण वर्णकी ज्योति बन गयी है। इस प्रकारका भगवान्‌का चमकता हुआ नीलोज्ज्वल सुन्दर वर्ण है। भगवान्‌का शरीर दिव्य भगवत्स्वरूप ही है। हमलोगोंके शरीरकी धातु पार्थिव है, भगवान्‌का श्रीविग्रह तैजस धातुका और चिन्मय (चेतन) है। सूर्य लाल रंगका है, किंतु प्रकाश विशेष होनेसे और समीप आनेसे वह श्वेतोज्ज्वल रंगका दीखता है, इसी प्रकार भगवान्‌का स्वरूप नील वर्णका होनेपर भी महान् प्रकाश होनेसे और समीप आनेसे वह ज्योतिर्मय श्वेत वर्ण-सा दीखता है। सूर्यके तेजमे बड़ी भारी गरमी रहती है, परंतु भगवान्‌के तेजो-मय स्वरूपमें दिव्य और सुहावनी शीतलता है। वह अपार शान्तिमय है। भगवान्‌के चरणयुगल बहुत ही सुन्दर और सुकोमल है। भगवान्‌के चरणतलोमे गुलाबी रंगकी झलक है एवं सुन्दर-सुन्दर रेखाएँ हैं—ध्वजा, पताका, वज्र, अंकुश, यव, चक्र, शङ्ख तथा ऊर्ध्वरेखा आदि-आदि। भगवान् आकाशमे नीचे उतर आये है। उनके श्रीचरण जमीनको छू नही रहे है। देवता भी आकाश-में स्थित होते हैं, जमीनको नहीं छूते; फिर ये तो देवोंके भी परम देव हैं। भगवान्‌के सुन्दर सुमृदुल चरणकमल बहुत ही चिकने हैं। उनकी अंगुलियाँ विशेष शोभायुक्त है। उनके चरणनखोंकी दिव्यज्योति चमक रही है। भगवान् पीताम्बर पहने हुए है और जैसे उनके चरण चमकीले, सुन्दर और सुकोमल है, ऐसे ही उनकी

पिंडलियाँ और दोनों घुटने तथा ऊरु (जंघे) भी हैं। भगवान्‌का कटिदेश बहुत पतला है, उसमें रत्नोज्ज्वल करधनी शोभित है, नाभि गम्भीर है, उदरपर त्रिवली—तीन रेखाएँ है। विशाल वक्षःस्थल है, गलेमें अनेकों प्रकारकी सुन्दर मालाएँ पहने है। सुन्दर दिव्य पुष्पोंकी एक माला घुटनोंतक लटक रही है, दूसरी नाभितक है। मोतियोंकी माला, स्वर्णकी माला, चन्द्रहार, कौस्तुभमणि और रत्नजटित कंठा पहने है। विशाल चार भुजाएँ है, जिनमे दो भुजाएँ नीचेकी ओर लंबी पसरी हुई है। नीचेकी भुजाओंमे गदा और पद्म है तथा ऊपरकी दोनों भुजाओंमे शङ्ख और चक्र है। हस्ताङ्गुलियोंमें रत्नजटित अंगूठियाँ है। चारो हाथोंमे कड़े पहने हुए है ओर ऊपर बाजूबंद सुशोभित है। भुजाएँ चारों घुटनोंतक लंबी है ओर बहुत ही सुन्दर है। ऊपरमे मोटी और नीचेसे पतली है, पुष्ट हैं तथा चिकनी और चमकीली है। कंधे पुष्ट है। भगवान् यज्ञोपवीत धारण किये और गुलेनार दुपट्टा ओढ़े हुए हैं। ग्रीवा अत्यन्त सुन्दर शङ्खके सदृश है, ठोडी बहुत ही मनोहर है, अधर और ओष्ठ लाल मणिके सदृश चमक रहे है। दाँतोकी पंक्ति मानो परमोज्ज्वल मोतियोंकी पंक्ति है। जब भगवान् हँसते है, तब ऐसा प्रतीत होता है, मानो सुन्दर सुषमायुक्त गुलाब या कमलका फूल खिला हुआ है। भगवान्‌की वाणी बड़ी ही कोमल, मधुर, सुन्दर और अर्थयुक्त है, कानोंको अमृतके समान प्रिय लगती है। भगवान्‌की नासिका अति सुन्दर है। कपोल (गाल) चमक रहे है—उनपर गुलाबी रंगकी झलक है। कानोंमे रत्नजटित मकराकृति स्वर्णकुण्डल है, जिनकी झलक गालोंपर पड़ रही है और वे गाल चम-चम चमक रहे हैं। भगवान्‌के दोनों नेत्र खिले हुए है,

जैसे प्रफुल्लित मनोहर कमलकुसुम हों। आकाशमे स्थित होकर भगवान् एकटक नेत्रोसे हमारी ओर देख रहे है और नेत्रोंके द्वारा प्रेमामृतकी वर्षा कर रहे हैं। भगवान् समभावसे सबको देखते हैं, बड़े दयालु है, हमें दयाकी दृष्टिसे देख रहे हैं और मानो दया, प्रेम, ज्ञान,समता, शान्ति और आनन्दकी वर्षा कर रहे है। ऐसा लगता है कि दया, प्रेम, ज्ञान, समता, शान्ति और आनन्दकी बाढ़ आ गयी है। भगवान्‌के दर्शन, भाषण, स्पर्श सभी आनन्दमय है। भगवान्‌में जो अद्भुत मधुर गन्ध है, वह नासिकाको अमृतके समान प्रिय लगती है। भगवान्‌का स्पर्श करते हैं तो शरीरमे रोमाञ्च हो जाते है और हृदयमे बड़ी भारी प्रसन्नता होती है। भगवान्‌की भृकुटी सुन्दर, विशाल और मनोहर है। ललाट चमक रहा है, उसपर श्रीधारी तिलक सुशोभित है। ललाटपर काले घुँघराले केश चमक रहे है, केशोंपर रत्नजटित स्वर्णमुकुट सुशोभित है। भगवान्‌के मुखारविन्दके चारों ओर प्रकाशकी किरणें फैली हुई हैं। भगवान्‌की सुन्दरता अलौकिक है, मनको बरबस आकर्षित करती है। भगवान् नेत्रोंसे हमें ऐसे देख रहे है, मानो पी ही जायँगे। भगवान्‌मे पृथ्वीसे बढ़-कर क्षमा है, चन्द्रमासे बढ़कर शान्ति है और कामदेवसे बढ़कर सुन्दरता है। कोटि-कोटि कामदेव भी उनकी सुन्दरताके सामने लजा जाते हैं। उनके स्वरूपको देखकर पशु-पक्षी भी मोहित हो जाते हैं, मनुष्यकी तो बात ही क्या है? उनके स्वरूपकी सुन्दरता अद्भुत है। जब भगवान् प्रकट होकर दर्शन देते है, तब इतना आनन्द आता है कि मनुष्यकी पलकें भी नहीं पड़ सकतीं। हृदय प्रफुल्लित हो जाता है। शरीरमे रोमाञ्च और धड़कन होने लगती है। नेत्रोंमे प्रेमानन्दके

अश्रुओंकी धारा बहने लगती है, वाणी गद्गद हो जाती है, कण्ठ रुक जाता है, हृदयमें आनन्द समाता नहीं। नेत्र एकटक वैसे ही देखते रहते हैं, जैसे चकोर पक्षी पूर्ण चन्द्रमाको देखता है। प्रभुसे हम प्रार्थना करते हैं कि जिस प्रकारसे हम आपका ध्यानावस्थामें दिव्य दर्शन कर रहे हैं, इसी प्रकारका दर्शन हमें हर समय होता रहे। आपके नामका जप, स्वरूपका ध्यान नित्य-निरन्तर बना रहे। आपमें हमारी परम श्रद्धा हो, परम प्रेम हो। यही आपसे प्रार्थना है। आप ही ब्रह्मा, विष्णु, महेश, सूर्य, चन्द्रमा, आकाश, वायु, तेज, जल, पृथ्वी—सब कुछ हैं। आप ही इस विश्वके रचनेवाले हैं और आप ही रचनाकी सामग्री भी हैं। इस संसारके उपादानकारण और निमित्तकारण आप ही हैं। इसीलिये कहा जाता है कि जो कुछ है सब आपका ही स्वरूप है। आपसे यही प्रार्थना है कि जैसे आप बाहरसे आकाशमें दीखते हैं, ऐसे ही हमारे हृदयमें दीखते रहें।

अब हृदयमें ध्यान करें—हृदयमें प्रफुल्लित कमल है। उस कमलपर शेषजीकी शय्या है और शेषजीपर श्रीभगवान् पौढे हुए हैं एवं मन्द-मन्द मुसकरा रहे हैं, वहीं सूक्ष्म शरीर धारणकर मैं भगवान्‌के स्वरूपको देख रहा हूँ। भगवान्‌के बहुत-से भक्त भगवान्‌के चारों ओर परिक्रमा कर रहे हैं और दिव्य स्तोत्रोंसे उनके गुणोंका स्तवन और नामोंका कीर्तन कर रहे हैं। मैं भी उनमें शामिल हूँ। देवताओंमें भगवान् शिव और ब्रह्माजी, ऋषि-मुनियोंमें नारद और सनकादि, यक्षोंमें कुबेर, राक्षसोंमें विभीषण, असुरोंमें प्रह्लाद और बलि, पशुओंमें

हनूमान्‌जी और जाम्बवान्, पक्षियोंमे काकभुशुण्डिजी, गरुड़जी, जटायु और सम्पाति, मनुष्योंमे अम्बरीष, भीष्म, ध्रुव तथा और भी बहुत-से भक्त सम्मिलित होकर स्तुति कर रहे हैं। दिव्य स्तोत्रोंके द्वारा गुण गा रहे है, परिक्रमा कर रहे हैं और प्रेममें निमग्न हो रहे है। फिर बाहर देखता हूँ तो भगवान्‌का उसी प्रकारका स्वरूप बाहर दीख रहा है। यही अन्तर है कि भीतर जो भगवान्‌का स्वरूप है, उसमे भगवती लक्ष्मीजी उनके चरण दबा रही हैं और उनकी नाभिसे कमल निकला है, जिसपर ब्रह्माजी विराजमान हैं। बाहर देखता हूँ तो भगवान् अकेले ही दीख रहे है और आकाशमे स्थित है। जहाँ हमारे मन और नेत्र जाते है, वहीं भगवान् दीख रहे हैं। प्रभुको देखकर हम इतने मुग्ध हो रहे है कि हमे दूसरी कोई बात अच्छी ही नहीं लगती। प्रभुकी स्तुति भी तो क्या करें ? जो कुछ भी करते है वह वास्तवमे स्तुतिकी जगह निन्दा ही होती है। हम उनकी कितनी ही स्तुति करें, बेचारी वाणीमें शक्ति ही नहीं, जो उनके अल्प गुणोंका भी वर्णन कर सके। उनके अपरिमित गुण-प्रभावका वर्णन और स्तवन कौन कर सकता है ?

भगवान्‌को पधारे बहुत समय हो गया, अब भगवान्‌की पूजा करनी चाहिये। इस प्रकार ध्यान करे कि अब मै भगवान्‌की मानसिक पूजा कर रहा हूँ। मै देख रहा हूँ कि एक चौकी मेरे दाहिनी ओर तथा दूसरी मेरे बायीं ओर रक्खी है। चौकीका परिमाण लगभग तीन फुट चौड़ा और छः फुट लंबा है। दाहिनी ओरकी चौकीपर पूजाकी सारी पवित्र सामग्री सजायी रक्खी है। भगवान् मेरे सामने विराजमान

हैं। भगवान् स्नान करके पधारे हैं। वस्त्र धारण कर रक्खे हैं और यज्ञोपवीत सुशोभित है। अब मैं पाद्य—चरण धोनेका जल लेकर भगवान्‌के श्रीचरणोंको धो रहा हूँ, बायें हाथसे जल डाल रहा हूँ और दाहिने हाथसे चरण धो रहा हूँ तथा मुखसे यह मन्त्र बोल रहा हूँ—

'ॐ पादयोः पाद्यं समर्पयामि नारायणाय नमः।'

फिर उस बर्तनको बायीं ओर चौकीपर रखकर, हाथ धोकर दूसरा सुगन्धयुक्त गङ्गाजलसे भरा प्याला लेता हूँ और भगवान्‌को अर्घ्य देता हूँ। भगवान् दोनों हाथोंकी अञ्जलि पसारकर अर्घ्य ग्रहण करते हैं। इस समय उन्होंने अपने चार हाथोंके आयुध दो हाथोंमें ले लिये हैं। अर्घ्य अर्पण करते समय मैं मन्त्र बोलता हूँ—

'ॐ हस्तयोरर्घ्यं समर्पयामि नारायणाय नमः।'

इस प्रकार भगवान् अर्घ्य ग्रहण करके उस जलको छोड़ देते हैं। फिर मैं उस प्यालेको बायीं ओर चौकीपर रख देता हूँ तथा हाथ धोकर, आचमनका जल लेकर भगवान्‌को आचमन करवाता हूँ और मन्त्र बोलता हूँ—

'ॐ आचमनीयं समर्पयामि नारायणाय नमः।'

आचमनके अनन्तर भगवान्‌के हाथ धुलाता हूँ और प्यालेको बायीं तरफ चौकीपर रखकर हाथ धोता हूँ। फिर एक कटोरी दाहिनी ओरकी चौकीसे उठाता हूँ, जिसमें केसर, चन्दन, कुङ्कुम आदि सुगन्धित द्रव्य घिसा हुआ रक्खा है। उस कटोरीको मैं बायें हाथमें

लेकर दाहिने हाथसे भगवान्‌के मस्तकपर तिलक करता हूँ और मन्त्र बोलता हूँ—

'ॐ गन्धं समर्पयामि नारायणाय नमः।'

उसके बाद उस कटोरीको बायीं ओरकी चौकीपर रख देता हूँ तथा दूसरी कटोरी लेता हूँ, जिसमें छोटे-छोटे आकारके सुन्दर मोती हैं, उन्हे मुक्ताफल कहते हैं। मैं बायें हाथमें मोतीकी कटोरी लेकर दाहिने हाथसे भगवान्‌के मस्तकपर मोती लगाता हूँ और यह मन्त्र बोलता हूँ—

'ॐ मुक्ताफलं समर्पयामि नारायणाय नमः।'

इसके पश्चात् सुन्दर सुगन्धित पुष्पोंसे दोनों अञ्जलि भरकर भगवान्‌पर चढ़ाता हूँ, पुष्पोंके साथ तुलसीदल भी है और यह मन्त्र बोलता हूँ—

'ॐ पत्रं पुष्पं समर्पयामि नारायणाय नमः।'

यह मन्त्र बोलकर भगवान्‌पर पत्र-पुष्प चढ़ा देता हूँ। इसके अनन्तर एक अत्यन्त सुन्दर सुगन्धपूर्ण बड़ी पुष्प-माला दोनों हाथोंमे लेकर मुकुटपरसे गलेमे पहनाता हूँ और यह मन्त्र बोलता हूँ—

'ॐ मालां समर्पयामि नारायणाय नमः।'

फिर देखता हूँ कि एक धूपदानी है, जिसमे निर्धूम अग्नि प्रज्वलित हो रही है, मैं एक कटोरीमे जो चन्दन, कस्तूरी, केसर आदि नाना प्रकारके सुगन्धित द्रव्योंसे मिश्रित धूप रक्खी है, उसे अग्निमें डालकर भगवान्‌को धूप देता हूँ और यह मन्त्र बोलता हूँ—

'ॐ धूपमाघ्रापयामि नारायणाय नमः।'

तदनन्तर दाहिनी ओर जो गो-घृतका दीपक प्रज्वलित हो रहा है, उसे हाथमे लेकर भगवान्को दिखाता हूँ और मन्त्र बोलता हूँ—

'ॐ दीपं दर्शयामि नारायणाय नमः।'

तत्पश्चात् दीपकको बायीं ओरकी चौकीपर रखकर हाथ धोता हूँ। एक सुन्दर बड़ी थालीमे ५६ प्रकारके भोग और ३६ प्रकारके व्यञ्जन परोसकर उसे भगवान्के सामने रत्नजटित चौकीपर रख देता हूँ। बड़ी सुन्दर स्वर्ण-रत्नजटित मलयागिरि चन्दनसे बनी दो चौकियाँ, जिनकी लंबाई-चौड़ाई २।।-२।। फुट है, देवताओंने पहलेसे ही लाकर रक्खी थीं, उनमें एक चौकीपर आसन बिछा था, जिसपर भगवान् विराजमान है और दूसरीपर यह भोगकी सामग्री रक्खी गयी। भोग लगाते समय मैं मन्त्र बोलता हूँ—

'ॐ नैवेद्यं निवेदयामि नारायणाय नमः।'

भगवान् बड़े प्रेमसे भोजन करते है। थोड़ा-सा भोजन कर चुकनेपर जब वे भोजन करना बंद कर देते हैं, तब उस प्रसादवाली थालीको उठाकर बायीं ओरकी चौकीपर रख देता हूँ और हाथ धोकर पवित्र जलसे भगवान्के हाथ धुला देता हूँ। तत्पश्चात् भगवान्को शुद्ध जलसे आचमन करवाता हूँ और यह मन्त्र बोलता हूँ—

'ॐ आचमनीयं समर्पयामि नारायणाय नमः।'

फिर उस चौकीको धोकर उसपर सुन्दर सुमधुर फल रख देता हूँ, जो तैयार किये हुए है और एक सुन्दर पवित्र थालीमे रक्खे हुए हैं। भगवान् उन फलोका भोग लगाते है और मै मन्त्र बोलता हूँ—

'ॐ ऋतुफलं समर्पयामि नारायणाय नमः।'

थोड़े-से फलोंका भोग लगानेपर जब भगवान् खाना बंद कर देते है, तब मै बचे हुए फलोंकी थालीको उठाकर बायीं ओरकी चौकीपर रख देता हूँ, जो भगवान्‌का प्रसाद है। फिर अपने हाथ धोकर भगवान्‌के हाथ धुलाता हूँ। तदनन्तर पवित्र जलसे उन्हे पुनः आचमन करवाता हूँ और मन्त्र बोलता हूँ—

'ॐ पुनराचमनीयं समर्पयामि नारायणाय नमः।'

आचमन कराकर उस पात्रको बायीं ओरकी चौकीपर रख देता हूँ और उस चौकीको धोकर अलग रख देता हूँ। तदनन्तर हाथ धोकर एक थाली उठाता हूँ, जिसमे बढ़िया पान रक्खे है, जिनमे सुपारी, इलायची, लौंग तथा अन्य पवित्र सुगन्धित द्रव्य दिये हुए है। उस थालीको भगवान्‌के सामने करता हूँ। भगवान् पान लेकर चबाते हैं और मै यह मन्त्र बोलता हूँ—

'ॐ पूगीफलं च ताम्बूलमेलालवङ्गसहितं समर्पयामि नारायणाय नमः।'

इसके बाद उस पानकी थालीको बायीं ओरकी चौकीपर रख देता हूँ। फिर पवित्र जलसे अपने हाथ धोकर और भगवान्‌के हाथोंको धुलाकर मुख-शुद्धिके लिये उन्हे पुनः आचमन करवाता हूँ और यह मन्त्र बोलता हूँ—

'ॐ पुनर्मुखशुद्ध्यर्थमाचमनीयं समर्पयामि नारायणाय नमः।'

आचमन कराकर फिर भगवान्‌के हाथ धुला देता हूँ और उस

जलपात्रको बायीं ओरकी चौकीपर रख देता हूँ। इस प्रकारसे पूजा करके भगवान्‌को दक्षिणा देता हूँ। कुवेरने पहलेसे ही अपने भण्डारसे अमूल्य रत्न लाकर रक्खे है, वे अर्पण करता हूँ। भगवान्‌की वस्तु भगवान्‌को वैसे ही देता हूँ, जैसे सेवक अपने स्वामीको देता है और यह मन्त्र बोलता हूँ—

'ॐ दक्षिणाद्रव्यं समर्पयामि नारायणाय नमः।'

भगवान्‌को दक्षिणा अर्पण करके मै अपने-आपको भी उनके श्रीचरणोंमे अर्पण कर देता हूँ। अब भगवान्‌की आरती उतारता हूँ। एक थाली लेता हूँ, उसके बीचमे कटोरी है, उसमे कर्पूर प्रकाशित हो रहा है, उसके चारों ओर माङ्गलिक द्रव्य, तुलसीदल, पुष्प, नारियल, दही, दूर्वा आदि सब सजाये हुए हैं। मै दोनों हाथोंपर थाली रखकर भगवान्‌की आरती उतार रहा हूँ। आरती उतारकर आरतीकी थालीको बायीं ओरकी चौकीपर रख देता हूँ। फिर हाथ धोकर भगवान्‌को पुष्पाञ्जलि अर्पण करता हूँ। पुष्पाञ्जलि देकर मै खड़ा हो जाता हूँ और भगवान् भी खड़े हो जाते है। फिर मैं भगवान्‌के चारों ओर चार परिक्रमा करता हूँ और साष्टाङ्ग प्रणाम करता हूँ। प्रणाम करके भगवान्‌की स्तुति गाता हूँ—

त्वमेव माता च पिता त्वमेव त्वमेव बन्धुश्च सखा त्वमेव।
त्वमेव विद्या द्रविणं त्वमेव त्वमेव सर्वं मम देवदेव॥

यं ब्रह्मा वरुणेन्द्ररुद्रमरुतः स्तुन्वन्ति दिव्यैः स्तवै-
र्वेदैः साङ्गपदक्रमोपनिषदैर्गायन्ति यं सामगाः।

ध्यानावस्थिततद्गतेन मनसा पश्यन्ति यं योगिनो
यस्यान्तं न विदुः सुरासुरगणा देवाय तस्मै नमः ॥

परं ब्रह्म परं धाम पवित्रं परमं भवान्।
पुरुषं शाश्वतं दिव्यमादिदेवमजं विभुम्॥

इस प्रकार भगवान्‌की स्तुति करनेके बाद सबको आरती देकर भगवान्‌को लगाया हुआ प्रसाद उपस्थित भाइयोंको बाँटा जाता है। पहले तो सबके हाथ धुलाकर इकट्ठा किया हुआ चरणामृत बाँटता हूँ, फिर एक दूसरे भाई सबके हाथ धुलाते हैं, तदनन्तर तीसरे भाई भगवान्‌का बचा हुआ प्रसाद दे रहे हैं और चौथे भाई पुनः सबके हाथ धुलाकर आचमन कराते हैं। इस प्रकार सब लोग आचमन करके प्रसाद पाते हैं और फिर हाथ धोकर खड़े हो भगवान्‌के दिव्य स्तोत्रोंका पाठ कर रहे हैं, दिव्य स्तुति गा रहे है और भगवान्‌की परिक्रमा कर रहे हैं। परिक्रमा करते हुए भगवान्‌के दिव्य गुणोंका कीर्तन कर रहे हैं, भगवान्‌के नामका कीर्तन कर रहे हैं। भगवान् मुग्ध हो रहे हैं और हमलोग भी मुग्ध हो रहे हैं। इस प्रकारसे सब मिलकर भगवान्‌के नामका कीर्तन कर रहे हैं—

'श्रीमन्नारायण नारायण नारायण,
श्रीमन्नारायण नारायण नारायण।'

भगवान्‌के ये मानसिक दर्शन अमृतके समान मधुर और प्रिय हैं, उनका स्पर्श भी अमृतके समान अत्यन्त प्रिय है, उनकी सुकोमल मधुर वाणी कानोंके लिये अमृतके समान है, उनकी मधुर अङ्ग-गन्ध भी अमृतके समान है और भगवान्‌के प्रसादकी तो बात ही क्या है?

वह तो अपूर्व अमृतके तुल्य है। यों भगवान्‌के दर्शन, भाषण, स्पर्श, वार्तालाप, चिन्तन, गन्ध—सभी अमृतके तुल्य है, सभी रसमय, आनन्दमय और प्रेममय है। भगवान्‌की श्रीमूर्ति बड़ी मधुर है, इसीलिये उसे माधुर्यमूर्ति कहते है। उनके दर्शन बड़े ही मधुर है।

इस प्रकार भगवान्‌का ध्यान करता हुआ साधक भगवान्‌के प्रेमानन्दमे विभोर होकर कहता है—ध्यानावस्थामे ही जब इतना बड़ा भारी आनन्द है, तब जिस समय आपके साक्षात् दर्शन होते है, उस समय तो न मालूम कितना महान् आनन्द और अपार शान्ति मिलती है। जिनको आपके साक्षात् दर्शन होते है, वे पुरुष सर्वथा धन्य है। जिनको आपके दर्शन होते है, श्रद्धा होनेपर उनके दर्शनसे ही पापोंका नाश हो जाता है, तब फिर आपके दर्शनोंकी तो बात ही क्या है? आप साक्षात् परब्रह्म परमात्मा हैं। आप परम धाम है, परम पवित्र है। आप साक्षात् अविनाशी पुरुष हैं। आप इस संसारकी उत्पत्ति, स्थिति, पालन करनेवाले है। आपके समान कोई भी नही है, आपके समान आप ही है। मै आपकी महिमाका गान कहाँतक करूँ? क्षमा, दया, प्रेम, शान्ति, सरलता, समता, संतोष, ज्ञान, वैराग्य आदि गुणोके आप सागर है। आपके गुणोंके सागरकी एक बूँदके आभासका प्रभाव सारी दुनियामे व्याप्त है। सारे देवताओमे, मनुष्योंमे सबके गुण, प्रभाव, शक्ति आदि जो कुछ भी देखनेमे आते है, वे सब मिलकर आप गुणसागरकी एक बूँदका आभासमात्र है, आपके रूप-लावण्यका कौन वर्णन कर सकता है? आपका स्वरूप चिन्मय है, आपके दर्शन अलौकिक हैं, आपके

दर्शनसे मनुष्य इतना मुग्ध हो जाता है कि उसे अपने आपका होश नहीं रहता, केवलमात्र आपका ही ज्ञान रहता है । आपका अपरिमित प्रभाव है । आपने गीतामे कहा है—

यद्यद्विभूतिमत्सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा ।
तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोंऽशसंभवम् ॥

(१० । ४१)

'जो-जो भी विभूतियुक्त अर्थात् ऐश्वर्ययुक्त, कान्तियुक्त और शक्तियुक्त वस्तु है, उस-उसको तू मेरे तेजके अंशकी ही अभिव्यक्ति (प्राकट्य) जान ।'

आपने गीताके सातवे अध्यायमे यह भी वताया है कि 'बलवानोंका बल मै हूँ, तेजस्वियोका तेज मै हूँ, बुद्धिमानोंकी बुद्धि मै हूँ, ज्ञानवानोंका ज्ञान मै हूँ। यानी संसारमे जो कुछ चीज प्रभावशाली, तेजवाली, बलवाली प्रतीत होती है, वह सब मेरे तेजके एक अंशका प्राकट्य है ।' गीताके दसवे अध्यायके अन्तमे आपने अपने प्रभावको वताते हुए कहा है—

अथवा बहुनैतेन किं ज्ञातेन तवार्जुन ।
विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत् ॥

(१० । ४२)

'अथवा अर्जुन ! इस बहुत जाननेसे तेरा क्या प्रयोजन है ? मै इस सम्पूर्ण जगत्को अपनी योगशक्तिके एक अशमात्रसे धारण करके स्थित हूँ ।'

आप ही निर्गुण, निराकार, सच्चिदानन्दघन ब्रह्म है, आप ही स्वयं सगुण, साकाररूपमे प्रकट होते है । आप साक्षात् पूर्णब्रह्म परमात्मा है ।

सत्सङ्ग और महात्माओंका प्रभाव

गोस्वामी श्रीतुलसीदासजी महाराज 'सत्सङ्ग' का महत्त्व बतलाते हुए कहते हैं—

> बिनु सतसंग न हरि कथा तेहि बिनु मोह न भाग।
> मोह गएँ बिनु राम पद होइ न दृढ़ अनुराग॥

सत्सङ्गके बिना हरि-कथा नहीं मिलती, हरि-कथाके बिना मोहका नाश नहीं होता और मोहका नाश हुए बिना भगवान्‌में दृढ़ प्रेम नहीं होता।

साधारण प्रेम प्राप्त होनेके तो और भी बहुत-से उपाय हैं, पर दृढ़ प्रेम मोह रहते नहीं होता और दृढ़ प्रेमके बिना भगवान्‌की प्राप्ति नहीं होती। भगवान् मिलते ही हैं प्रेमसे। रामचरितमानसके बालकाण्डमें देवताओंके प्रति भगवान् श्रीशिवजीके वचन हैं—

> हरि ब्यापक सर्बत्र समाना। प्रेम तें प्रगट होहिं मैं जाना॥

'हरि सब जगह समान भावसे व्याप्त हैं और वे प्रेमसे प्रकट होते हैं।' इससे यही सिद्ध होता है कि भगवान् प्रेमसे मिलते हैं और प्रेम प्राप्त होता है सत्सङ्गसे। इसलिये मनुष्यको सत्सङ्गके

लिये विशेष प्रयत्नशील रहना चाहिये । सत्पुरुषोंका सेवन न मिले तो स्वाध्याय करना चाहिये । सत्-शास्त्रोंका स्वाध्याय भी सत्सङ्गके समान है ।

सत्सङ्गके चार प्रकार है । पहले नंबरके सत्सङ्गका अर्थ समझना चाहिये—सत्–परमात्मामे प्रेम । सत् यानी परमात्मा और सङ्ग यानी प्रेम । यही सर्वश्रेष्ठ सत्सङ्ग है । सत् यानी परमात्माके सङ्ग रहना अर्थात् परमात्माका साक्षात् दर्शन करके भक्तका उनके साथ रहना ही सर्वोत्तम सत्सङ्ग है । यही सत्पुरुषका सङ्ग है; क्योंकि सर्वश्रेष्ठ सत्-पुरुष तो एक भगवान् ही है । इस सत्सङ्गके सामने स्वर्गकी तो बात ही क्या है, मुक्ति भी कोई चीज नहीं है । श्रीतुलसीदासजीने इस विशेष सत्सङ्गकी बड़े मार्मिक शब्दोमें महिमा गायी है । वे कहते है—

तात स्वर्ग अपवर्ग सुख धरिअ तुला एक अंग ।
तूल न ताहि सकल मिलि जो सुख लव सतसंग ॥

हे तात ! स्वर्ग और मुक्तिके सुखको तराजूके एक पलड़ेपर रक्खा जाय और दूसरे पलड़ेपर क्षणमात्रके सत्सङ्गको रक्खा जाय तो भी एक क्षणके सत्सङ्गके सुखके समान भी उन दोनोंका सुख मिलकर नहीं होता ।

दूसरे नंबरका सत्सङ्ग है—भगवान्‌के प्रेमी भक्तका या सत्-रूप परमात्माको प्राप्त जीवन्मुक्त पुरुषका सङ्ग । तीसरे नंबरका सत्सङ्ग है—उन उच्चकोटिके साधक पुरुषोंका सङ्ग, जो परमात्माकी प्राप्तिके लिये सतत प्रयत्न कर रहे है । चौथे नंबरका सत्सङ्ग उन

सत्-शास्त्रोंके स्वाध्यायको कहते हैं, जिनमे भक्ति, ज्ञान, वैराग्य और सदाचारका वर्णन है। ऐसे सत्-शास्त्रोंका सदा प्रेमपूर्वक पठन, मनन और अनुशीलन करनेसे भी सत्सङ्गका ही लाभ प्राप्त होता है।

इनमें सर्वश्रेष्ठ प्रथम नंबरका सत्सङ्ग तो भगवान्‌की कृपासे ही मिलता है। उसीके लिये सारी साधनाएँ की जाती है। परंतु संसारमें महापुरुषोंका—महात्माओंका सङ्ग प्राप्त होना भी कोई साधारण बात नहीं है। वह भी बड़े ही सौभाग्यसे मिलता है।

पुन्यपुंज बिनु मिलहिं न संता। सतसंगति संसृति कर अंता॥

पुण्यपुञ्ज यानी पूर्वके महान् शुभ संस्कारोंके संग्रहसे ही महापुरुषोंका सङ्ग मिलता है। ऐसे सत्सङ्गका फल संसारके आवागमनसे यानी जन्म-मरणसे सर्वथा छूट जाना है। महात्माके सङ्गसे जैसा लाभ होता है, वैसा लाभ संसारके किसीके भी सङ्गसे नहीं हो सकता। संसारमे लोग पारसकी प्राप्तिको बड़ा लाभ मानते हैं, परंतु सत्सङ्गका लाभ तो बहुत ही विलक्षण है। कविकी उक्ति है—

पारस में अरु संत में, बहुत अंतरा जान।
वह लोहा सोना करे, यह कर आपु समान॥

पारस और संतमें बहुत भेद है, पारस लोहेको सोना बना सकता है; परंतु पारस नहीं बना सकता। लेकिन संत-महात्मा पुरुष तो सङ्ग करनेवालेको अपने समान ही संत-महात्मा बना देते है। इसलिये महात्माओंके सङ्गके समान संसारमे और कोई भी लाभ नहीं है। परम दुर्लभ परमात्माकी प्राप्ति महात्माओंके सङ्गसे अनायास ही हो जाती है। उच्चकोटिके अधिकारी महात्मा पुरुषोंके

तो दर्शन, भाषण, स्पर्श और वार्तालापसे भी पापोंका नाश होकर मनुष्य परमात्माकी प्राप्तिका पात्र बन जाता है। साधारण लाभ तो सङ्ग करनेवालेमात्रको समान भावसे होता ही है, चाहे उसे महात्माका ज्ञान हो या न हो। महात्माका महत्त्व जान लेनेपर उनमे श्रद्धा होकर विशेष ज्ञान हो सकता है। जैसे किसी कमरेमें ढकी हुई अग्नि पड़ी है और उसका किसीको ज्ञान नहीं है, तब भी अग्निसे कमरेमे गरमी आ गयी है और शीत निवारण हो रहा है—यह सहज लाभ तो, वहाँ जो लोग हैं उनको, बिना जाने भी मिल रहा है। पर जब अग्निका ज्ञान हो जाता है, तब तो वह मनुष्य उस अग्निसे भोजन बनाकर खा सकता है और दीपक जलाकर उसके प्रकाशसे लाभ उठा सकता है। अग्निमे प्रकाशिका और विदाहिका—ये दो शक्तियाँ स्वाभाविक ही हैं। अग्निका ज्ञान होनेपर ही मनुष्य उसकी दोनों शक्तियोंसे लाभ उठा सकता है और यदि अग्निमें यह भाव हो जाता है कि अग्नि साक्षात् देवता है, तब तो वह उसमे पुत्र, धन, आरोग्य, कीर्ति आदि किसी कामनाकी पूर्तिके लिये श्रद्धा तथा विधिपूर्वक हवन करता है तो वह अपने मनोरथके अनुसार उससे लाभ उठा लेता है और यदि श्रद्धापूर्वक निष्काम भावसे, शास्त्रोक्त विधिसे हवन करता है तो वह पुरुष मुक्तिको भी प्राप्त कर लेता है। निष्कामभावपूर्वक यज्ञ करनेसे अन्त:करणकी शुद्धि हो जाती है और अन्त:करणकी शुद्धि होनेसे स्वाभाविक ही परमात्माके तत्त्वका ज्ञान हो जाता है तथा तत्त्वज्ञानसे वह जीवन्मुक्त हो जाता है। इसी प्रकार किसीको महात्मा पुरुष मिलते हैं तो उनका ज्ञान न रहनेपर भी सामान्यभावसे तो लाभ

होता ही है । जैसे ढकी हुई अग्निके द्वारा—गरमीके द्वारा—शीत निवारण हो जाता है, वैसे ही महात्माओंके मिलनेपर उनके गुणोंके स्वाभाविक प्रभावसे वातावरणकी शुद्धि होनेके कारण पाप-भावनाका अभाव तथा उनके गुणोंका आभास तो आ ही जाता है । महात्माओंमें उत्तम गुण, उत्तम आचरण और उत्तम भाव होते हैं; उनका ज्ञान भी उच्चकोटिका होता है । उनके सङ्गसे ये सब चीजें किसी-न-किसी अंशमें बिना जाने-पहचाने भी आ ही जाती हैं । यदि पहचान हो जाती है और महात्माके अलौकिक प्रभावका ज्ञान हो जाता है, तब तो वह, जैसा उसका ज्ञान होता है, उसके अनुसार लाभ उठा लेता है । जैसे अग्निकी विदाहिका और प्रकाशिका शक्तिका ज्ञान होनेपर अग्निका अर्थी पुरुष दोनों प्रकारके लाभ उठा लेता है— विदाहिकासे भोजन बनानेका और प्रकाशिकासे अन्धकार नाश करके प्रकाश प्राप्त करनेका; वैसे ही महात्मामें जो 'सद्गुण' और 'उत्तम आचरण'—ये दो वस्तुएँ स्वाभाविक ही हैं, उन दोनोंका ज्ञान होनेपर मनुष्य विशेष लाभ उठा सकता है । महात्माको जान लेनेसे यदि महात्मामें श्रद्धा हो जाती है तथा महात्माके इस प्रभावका भी ज्ञान हो जाता है कि महात्मा जो चाहे सो कर सकते हैं, तो संसारमें, जो अल्पबुद्धि सकामी पुरुष है, वह महात्माके द्वारा अपनी लौकिक इच्छाकी, सांसारिक कामनाओंकी पूर्ति कर लेता है । अवश्य ही यह बहुत नीची चीज है, महात्मा पुरुषोंसे संसारकी चीजें माँगना और सांसारिक भोगेच्छाकी पूर्ति करानेकी इच्छा करना वस्तुतः महात्माके वास्तविक प्रभाव तथा तत्त्वको न समझना और उनका दुरुपयोग करना ही है । किंतु जो महात्माको

और उनके असली गुण-प्रभावको श्रद्धापूर्वक तत्त्वतः समझ जाता है, वह तो स्वयं महात्मा ही बन जाता है, यही यथार्थ लाभ है।

महापुरुषोंके लक्षण बड़े ही उच्चकोटिके बताये गये हैं। जैसे भगवान् बिना ही कारण सबपर दया और प्रेम करते हैं, इसी प्रकार महापुरुष भी अहैतुक कृपा तथा प्रेम किया करते हैं। जैसे भगवान्में क्षमा, दया, शान्ति, संतोष, समता, सरलता, ज्ञान, वैराग्य आदि अनन्त गुण सहज होते हैं, वैसे ही महात्मामें भी होते हैं। जो ज्ञानके द्वारा ब्रह्मको प्राप्त होता है तथा ब्रह्म ही बन जाता है, वह तो परमात्मासे कोई अलग पदार्थ ही नहीं रह जाता। परमात्माका जो दिव्य स्वरूप, प्रभाव और गुण है, वही महात्माका 'महात्मापन' है। महात्माका शरीर तो महात्मा है नहीं और उसमें जो आत्मा है, वह परमात्माको प्राप्त हो जाता है, परमात्मासे भिन्न रहता नहीं। अतः परमात्माका जो दिव्य स्वरूप, प्रभाव और गुण है, वही 'महात्मापन' है।

जो प्रेमी भक्त भक्तिके द्वारा भगवान्को प्राप्त हो जाता है, उस भक्तमें भी भगवान्के वे गुण आ जाते हैं, जिनकी व्याख्या गीताके १२वें अध्यायमें १३वेंसे १९वें श्लोकतक की गयी है। ज्ञानके द्वारा जो परमात्माको प्राप्त हो गया है, जो ब्रह्म ही बन गया है, उसके लक्षण गीताके १४वें अध्यायमें २२ वेंसे २५ वें श्लोकतक बताये गये हैं।

उच्चकोटिके अधिकारी महात्मा पुरुषोंके तो दर्शनमात्रसे भी बहुत लाभ होता है; क्योंकि उससे महात्माका स्वरूप हृदयमें अङ्कित हो जाता है, जिससे हृदयके पाप नष्ट हो जाते हैं। महात्मा पुरुष

दिव्य ज्ञानकी एक विलक्षण ज्योति है, वह दिव्य ज्ञानज्योति समस्त पापोंको भस्म कर देती है। महात्मा यदि किसीको स्मरण कर ले या कोई महात्माका स्मरण कर ले तो उसके मनमे उनकी स्मृति हो जानेसे भी पाप नष्ट हो जाते है। इसी प्रकार महात्माका स्पर्श प्राप्त हो जानेसे भी पाप नष्ट हो जाते है; चाहे महात्मा किसीको स्पर्श करें, चाहे महात्माका कोई स्पर्श कर ले। जैसे एक ओर अग्नि पड़ी हुई है और दूसरी ओर एक घासकी ढेरी है। अग्निकी चिनगारी उड़कर घासपर गिरती है तो घास जलकर अग्नि बन जाता है, और घास उड़कर अग्निमे गिरती है तो भी घास अग्नि बन जाता है, अग्नि अग्नि ही रहती है। वैसे ही अग्निकी भाँति महात्माओंमें सदा ज्ञानाग्नि प्रज्वलित रहती है। उस ज्ञानाग्निके द्वारा महात्मा पुरुषोंके तो पाप पहले ही नष्ट हो चुके है, किंतु जिसका उनके साथ किसी भी प्रकारका संसर्ग हो जाता है, उसके भी पाप नष्ट होते चले जाते है। फिर जो महात्माओंके साथ वार्तालाप करके उनके बताये हुए सिद्धान्तोंके अनुसार साधन करता है, उसका संसार-सागरसे उद्धार हो जाय, इसमें तो कहना ही क्या है! गीताके १३ वें अध्यायके २५ वें श्लोकमे कहा है—

अन्ये त्वेवमजानन्तः श्रुत्वान्येभ्य उपासते।
तेऽपि चातितरन्त्येव मृत्युं श्रुतिपरायणाः॥

'परंतु इनसे दूसरे, अर्थात् जो मन्दबुद्धिवाले पुरुष है, वे इस प्रकार न जानते हुए दूसरोंसे अर्थात् तत्त्वको जाननेवाले पुरुषोंसे सुनकर ही तदनुसार उपासना करते है और वे श्रवणपरायण

पुरुष भी मृत्युरूप संसारसागरको निःसन्देह तर जाते हैं ।'

इसके पूर्व गीतामें यह कहा गया था कि कितने ही तो ध्यानयोगके द्वारा परमात्माका साक्षात्कार करते हैं, कितने ही ज्ञानयोगके द्वारा और कितने ही कर्मयोगके द्वारा, किंतु जो पुरुष न ज्ञानयोग जानते है, न ध्यानयोग जानते है और न कर्मयोग ही जानते हैं, मूढ़, अज्ञानी हैं, वे भी उन ज्ञानियोंके पास जाकर, उनकी बात सुनकर उसके अनुसार साधन करते है, तो वे श्रवणपरायण पुरुष भी मृत्युरूपी संसारसागरसे तर जाते हैं।

संसारमें अनासक्त जो वीतराग पुरुष है, उनके सङ्गसे भी मनुष्य वीतराग हो जाता है। विरक्त—वीतराग पुरुषोंके स्मरणसे चित्तकी वृत्तियाँ एकाग्र हो जाती है, जिससे आगे चलकर उसे आत्माका ज्ञानतक हो जाता है । महर्षि पतञ्जलिने योगदर्शनके प्रथम पादके ३७ वें सूत्रमें कहा है—

'वीतरागविषयं वा चित्तम् ।'

'वीतराग पुरुष, जिसके चित्तका विषय है, उसके चित्तकी वृत्तियाँ स्थिर हो जाती हैं ।' ज्ञानी, महात्मा पुरुष तो वीतराग होकर ही महात्मा बने हैं। तीव्र वैराग्य और दैवी सम्पदाके लक्षण तो महात्मामे साधनावस्थामें आ जाते हैं। दैवी-सम्पदाकी व्याख्या गीताके १६ वें अध्यायके पहलेसे तीसरेतक तीन श्लोकोंमें की गयी है ।

महात्मा पुरुष हमे याद करते है तो उनके ध्यानमे हमारा चित्र आ जाता है। इससे भी बहुत लाभ हो जाता है और हम महात्माको याद करें तो भी हमे लाभ हो जाता है । वीतराग पुरुषको

याद करनेसे जो लाभ होता है, उससे अधिक महात्माको याद करनेसे होता है और उससे भी अधिक विशेष लाभ श्रीभगवान्‌को याद करनेसे होता है। स्मरण करने योग्य तो श्रीभगवान् ही है। उनकी स्मृतिमात्रसे मनुष्यका कल्याण हो जाता है। भगवान्‌में शरीर-शरीरी भेद नहीं है। अतः उनका शरीर दिव्य—अलौकिक चिन्मय है। परंतु महात्माका शरीर ऐसा नहीं है। महात्माका शरीर तो पाञ्चभौतिक है। इसीलिये भगवान्‌को दिव्य-चिन्मय माधुर्य-मूर्ति कहते है। उनके दर्शन, भाषण, स्पर्श सभी आनन्दप्रद और कल्याणकर होते हैं। इसलिये भगवान्‌के समान तो भगवान् ही हैं। परंतु महात्मा पुरुषका स्मरण-सङ्ग भी अत्यन्त लाभदायक है। महापुरुषके सङ्गकी महिमा बताते हुए कहा गया है—

> एक घड़ी आधी घड़ी आधीमें पुनि आध।
> तुलसी संगत साधु की, कटै कोटि अपराध॥

एक घड़ी, आधी घड़ी या आधीमे भी आधी घड़ीका जो महात्मा पुरुषोंका सङ्ग है, उसका इतना माहात्म्य है कि उससे करोड़ों अपराध कट जाते है। यह समझें कि एक घड़ी २४ मिनटकी होती है, आधी १२ मिनटकी और आधीसे भी आधी यानी चौथाई ६ मिनटकी। 'महात्मा' शब्दसे यहाँ किसी आश्रमसे सम्बन्ध नहीं है। कोई गृहस्थ हों, संन्यासी हो, वानप्रस्थी हों या ब्रह्मचारी हों—जिनमे महात्माओंके लक्षण, जो गीतामे बताये गये हैं, मिलते हैं, वे ही महात्मा है। महात्माओकी महिमा जितनी भी गायी जाय, थोड़ी ही है; जैसे गङ्गाजीकी महिमा जितनी गायी

जाय, उतनी थोड़ी है। गङ्गा सारे संसारका उद्धार कर सकती है, किंतु कोई यदि गङ्गामे स्नान करने ही न जाय, गङ्गा-जलपान करे ही नहीं, तो इसमे गङ्गाजीका क्या दोष है। इसी प्रकार कोई महापुरुषसे लाभ नहीं उठावे तो उसमें महापुरुषका कोई दोष नहीं।

एक गङ्गासे ही सबका कल्याण हो सकता है; क्योंकि शास्त्रमें कहा गया है कि गङ्गामें स्नान करनेसे, उसका जलपान करनेसे मनुष्योंके सारे पापोंका नाश हो जाता है और आत्माका उद्धार हो जाता है। गङ्गाजीकी भाँति ही महात्मा पुरुष लाखों-करोड़ो पुरुषोंका उद्धार कर सकते है। और सारे संसारके मनुष्योंका उद्धार होना भी कोई असम्भव तो है ही नहीं, हाँ, कठिन अवश्य है; क्योंकि उनमे श्रद्धा हुए बिना तो कल्याण हो नहीं सकता और श्रद्धा होना कठिन है। प्रथम तो महापुरुष संसारमें मिलते ही बड़ी कठिनतासे है; क्योंकि संसारके करोड़ों मनुष्योंमे कोई एक महापुरुष होता है—जैसे गीताजीमें श्रीभगवान् कहते है—

मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद्यतति सिद्धये।
यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः॥
(७। ३)

'हजारों मनुष्योमे कोई एक मेरी प्राप्तिके लिये प्रयत्न करता है। और उन यत्न करनेवाले योगियोमे भी कोई एक मेरे परायण होकर मुझको तत्त्वसे अर्थात् यथार्थरूपसे जानता है।'

भगवान्‌को जो तत्त्वसे जानता है, वही महात्मा है। प्रथम तो लाखों-

करोड़ोंमें कोई एक महात्मा होता है, फिर उसका मिलना भी बहुत ही दुर्लभ है, मिलनेपर भी उसे पहचानना उससे भी कठिन है। महात्माओंके पहचाननेकी एक साधारण युक्ति यह है कि जैसे अग्निके समीप जानेसे जानेवालेपर अग्निका कुछ-न-कुछ प्रभाव जरूर पड़ता है, वैसे ही महात्माके समीप जानेसे महात्माका प्रभाव पड़ता है। जैसे सरकारके किसी सिपाहीको देखनेसे सरकारकी स्मृति होती है, वैसे ही भगवान्‌के भक्तके दर्शनसे भगवान्‌की स्मृति होती है। जिनका सङ्ग करनेसे अपनेमे दैवी सम्पदाके लक्षण आवे, जिनके सङ्गसे, जिनके साथ वार्तालाप करनेसे, दर्शनसे, स्पर्शसे आत्माका सुधार हो, अपनेमे भक्तोंके लक्षण प्रकट होने लगे, गुणातीत पुरुषोके लक्षण आने लगें तो समझना चाहिये कि यह महापुरुष है। जब हम महापुरुषोंका सङ्ग करनेके लिये जायँ तो हम यह समझें कि हम एक ज्ञानके पुञ्जके सम्मुख जा रहे है। जैसे सूर्यके सम्मुख जानेसे अन्धकार तो दूर भाग ही जाता है, किंतु अधिक-से-अधिक प्रकाश होता चला जाता है। हम देखते है कि जब प्रातःकाल सूर्य उदय होता है,तब ज्यों-ज्यो सूर्य नजदीक आता है, त्यों-ही-त्यों सूर्यके प्रकाशका अधिक असर पड़ता है। वैसे ही हम जितने ही महात्माओके समीप होते है, उतना ही हमको अधिक लाभ मिलता है। वे एक ज्ञानके पुञ्ज है, उस ज्ञान-पुञ्जसे हमारे अज्ञानान्धकारका नाश होकर हमारे हृदयमे भी ज्ञान-सूर्यका प्राकट्य होता है। महात्माओमे अद्भुत प्रभाव होता है। उनके दर्शन, भाषण, स्पर्श, वार्तालापसे पापोका नाश और दुर्गुण-दुराचारोका अभाव होकर सद्गुण-सदाचार

आ जाते हैं। अज्ञानका नाश होकर हृदयमें ज्ञान आ जाता है, जिससे हमे सहज ही भगवत्प्राप्ति हो जाती है। यह उन महापुरुषोंका प्रभाव है, जो भगवान्‌के भेजे हुए अधिकारी पुरुष है अथवा जो महापुरुप परमात्माको प्राप्त हो चुके है, यानी ब्रह्ममें मिल चुके हैं, सायुज्य मुक्तिको प्राप्त कर चुके है। ऐसे महात्मा परमात्मा ही बन जाते है। इसीलिये परमात्माके गुण-प्रभाव उनके गुण-प्रभाव है, यह समझना ही महात्माको तत्त्वसे समझना है। वास्तवमे महात्माका आत्मा परमात्मासे अलग नहीं है, पर हम मानते नहीं, उसे परमात्मासे भिन्न समझते है; इसलिये हम परमात्माकी प्राप्तिसे वञ्चित रहते है। यह समझना भी अन्त.करणकी शुद्धि होनेपर ही होता है। भक्ति-मार्गमे भगवान्‌से भिन्न रहनेपर भी भक्तोकी स्थिति विलक्षण होती है। जैसे जीवन्मुक्त ज्ञानीके दर्शन, भाषण, स्पर्शसे मनुष्य पवित्र हो जाता है, वैसे ही भगवत्प्राप्त भगवद्भक्तके दर्शन, भाषण, स्पर्शसे भी हो जाता है। महापुरुषोका रहस्य वास्तवमे महापुरुष बननेपर ही समझमे आता है। उनका उद्देश्य सर्वथा अलौकिक और अद्भुत होता है। उनका अपना तो कोई काम रहता ही नहीं। संसारमे उनका जो जीवन है यानी शरीरकी स्थिति है, तथा जो उनकी चेष्टा है, वह संसारके हितके लिये ही है। जैसे भगवान्‌का अवतार संसारके उद्धारके लिये ही होता है, वैसे ही महात्मा पुरुपोका जीवन भी संसारके उद्धारके लिये ही है।

महापुरुषोंकी महिमा और उनका प्रभाव

महापुरुषोंकी महिमाके सम्बन्धमें कुछ चर्चा की जाती है। श्रीस्कन्दपुराणके माहेश्वरखण्डके अन्तर्गत कुमारिकाखण्डमें कहा है—

कुलं पवित्रं जननी कृतार्था वसुन्धरा पुण्यवती च तेन।
अपारसंवित्सुखसागरेऽस्मिँल्लीनं परे ब्रह्मणि यस्य चेतः॥*

(५५। १४०)

'जिनका चित्त उस अनन्त-अपार ज्ञान और आनन्दके समुद्र परब्रह्म परमात्मामें लीन है, उनसे उनका कुल पवित्र हो जाता है, जन्म देनेवाली माता कृतार्थ हो जाती है और यह पृथ्वी पुण्यवती हो जाती है।'

उनका कुल कैसे पवित्र हो जाता है? कुलवालोंको उनके

---

* नवलकिशोर प्रेस, लखनऊसे प्रकाशित प्रतिमें इस प्रकार पाठभेद भी मिलता है—

कुलं पवित्रं जननी कृतार्था वसुन्धरा भाग्यवती च तेन।
विमुक्तिमार्गे सुखसिन्धुमग्नं लग्नं परे ब्रह्मणि यस्य चेतः॥

(५२। ३८)

दर्शन, भाषण, स्पर्श और वार्तालाप आदिके अवसर प्राप्त होते ही रहते हैं। अतः उनके सङ्गसे कुल पवित्र हो जाता है—कुलके अधिकांश लोग परमात्माकी प्राप्तिके साधनमें लग जाते हैं। साथमें रहनेसे प्रायः सबपर उनका प्रभाव पड़ता है। उनमें स्वार्थका त्याग होता है, इस कारण उनकी बात भी मानी जाती है। उनके दर्शनसे, उनके आचरणोंका और गुणोंका भी प्रभाव पड़ता है। उनमें जो क्षमा, दया, शान्ति, समता, संतोष आदि अनन्त गुण होते हैं, उन गुणोंका भी असर पड़ता है। कुटुम्बमें वे कहीं जाकर भोजन करते हैं तो उसका घर पवित्र हो जाता है और उनके यहाँ कोई आकर भोजन करे तो वह भोजन करनेवाला पवित्र हो जाता है; क्योंकि उनका तन, मन, धन, अन्न सब पवित्र होता है।

भगवान्‌ने कहा है कि योगभ्रष्ट पुरुष पवित्र श्रीमानोंके घरमें जन्म लेता है।

शुचीनां श्रीमतां गेहे योगभ्रष्टोऽभिजायते ॥

(गीता ६। ४१)

वे श्रीमान् धन और ऐश्वर्यसम्पन्न होनेके साथ ही पवित्र भी होते हैं। संसारके साधारण श्रीमान् प्रायः अपवित्र ही होते हैं; क्योंकि उनके घरमें जो रुपये-पैसे इकट्ठे होते हैं, वे अधिकांशमें अन्यायसे आते हैं। इसीलिये यह कहा गया कि जो पवित्र भी हो और लक्ष्मीवान् भी हो, ऐसे घरमें योगभ्रष्ट पुरुषका जन्म होता है।

अथवा योगिनामेव कुले भवति धीमताम् ।

(गीता ६। ४२)

अथवा ज्ञानवान् योगियोंके ही कुलमे जन्म होता है। अभिप्राय यह कि उन योगभ्रष्ट पुरुषोमे भी जो बहुत उच्चकोटिका साधक होता है और साधन करते-करते जिसकी मृत्यु हो जाती है, ऐसे विरक्त साधक पुरुषका जन्म योगियोके ही कुलमे होता है। इससे यह बात सिद्ध होती है कि गृहस्थाश्रममे भी ज्ञानवान् योगी होते है। ऐसे उच्चकोटिके ज्ञानी योगी गृहस्थके घरमे उसका जन्म होता है। ऐसा जन्म अतिशय दुर्लभ है। ज्ञानी योगीके जो संतान हुआ करती है, वह तो उनके अंशके प्रभावसे प्राय. उच्चकोटिकी होती ही है, उनके कुटुम्बमे जो और लोग होते है, वे भी उनके सङ्ग और दयाके प्रभावसे पवित्र हो जाते है। उनके साथमे किसी भी प्रकारका संसर्ग होना सब तरहसे लाभदायक होता है; क्योंकि वे ज्ञानी महात्मा पुरुष है। उनमे एक ज्ञानाग्नि प्रज्वलित हो रही है, जिससे उनके तो सारे पाप भस्म हो ही चुके है, पर उनके सङ्गके प्रभावसे दूसरोके पाप भी भस्म होते रहते है—

ज्ञानाग्निदग्धकर्माणं तमाहुः पण्डितं बुधाः ॥

(गीता ४। १९)

'ज्ञानाग्निके द्वारा जिनके सारे कर्म भस्म हो गये है, उनको ज्ञानीजन भी पण्डित—महात्मा कहते है।'

जैसे एक आगकी ढेरी है और एक घासकी ढेरी है। घास उडकर यदि आगमे पड़ता है तो वह आग बन जाता है और आग उड़कर यदि घासमे पड़ती है तो भी आग ही बन जाता है, उसे अग्नि अपने रूपमे परिणत कर लेती है। किंतु ऐसा कभी नहीं हो

सकता कि घास अग्निको भी घास बना ले । घासकी यह सामर्थ्य नही है । इसी प्रकार संसारी मनुष्योंके अज्ञान और पापमे यह सामर्थ्य नही है कि एक जीवन्मुक्त ज्ञानी महात्माको अज्ञानी बना सके । साधारण मनुष्यपर तो अज्ञानियोके सङ्गका असर हो सकता है, किंतु महात्मापर असर नही हो सकता । ज्ञानी महात्माओंके सङ्गसे अज्ञानी और पापी पवित्र होकर ज्ञानी महात्मा बन जाते है । इसलिये उनके सङ्गके प्रभावसे उनके कुटुम्बवाले लोग भी पवित्र हो सकते है ।

" महात्मा पुरुषोके चरणोके स्पर्शके प्रभावसे भूमि पवित्र हो जाती है । संसारमे जितने भी तीर्थ है, वे सब भगवान्‌के और महापुरुषोके सङ्गसे ही तीर्थ बने है । उनकी तीर्थसंज्ञा महापुरुषोके, ईश्वरके या पतिव्रता स्त्रियोके प्रभावसे ही हुई है । पतिव्रता भी एक प्रकारसे महात्मा ही है । जब साधकके प्रभावसे भी कही-कही तीर्थ-संज्ञा हो जाती है, तब परमात्माके अवतार और महात्माओंसे हो जाय, इसमें तो कहना ही क्या है ?

भगवान् श्रीरामचन्द्रजीने अयोध्यामे अवतार लिया, इसीसे अयोध्या तीर्थके नामसे प्रसिद्ध है । इतना ही नही, जहाँ-जहाँ भगवान् जाकर ठहरे, वे सब स्थान तीर्थ हो गये । भगवान् चित्रकूटमे ठहरे तो चित्र-कूट अब तीर्थ माना जाता है । नासिक पञ्चवटीमे ठहरे तो वह भी तीर्थ माना जाता है । भगवान्‌की तो बात ही क्या है, भगवान्‌के भाई भरतजी महाराज भगवान्‌के राजतिलक करनेके लिये तीर्थोंका जल चित्रकूट साथ ही ले गये थे । चित्रकूटमें जिस कुएँमे वह जल रक्खा गया, वह कुआँ आज भी 'भरत-कूप'के नामसे प्रसिद्ध है ।

फिर भगवान् चित्रकूटसे विदा होकर जहाँ-जहाँ गये, वे स्थान भी तीर्थ बन गये। उन ऋषियोंकी निवासभूमि या उनकी तपःस्थली भी तीर्थ-रूपा हो गयी। भगवान् चित्रकूटसे विदा होकर अत्रि ऋषिके आश्रम-में गये, वहाँ अनसूयाका भी आश्रम है, वह तीर्थ आज भी अनसूयाके नामसे प्रसिद्ध है। अनसूया अत्रि ऋषिकी पत्नी थी, वे पतिव्रता थीं तथा पातिव्रत्यके प्रभावसे ब्रह्मा, विष्णु, महेशने उनके यहाँ अंशरूपसे अवतार भी लिया था। आज भी अनसूयाके आश्रमको तीर्थ मानकर लोग वहाँ जाते है।

उसके आगे भगवान् बढ़े तो शरभङ्ग ऋषिके यहाँ पहुँचे। शरभङ्ग ऋषि भी बड़े उच्चकोटिके पुरुष थे। वे भगवान्‌के ध्यानमें मग्न होकर भगवान्‌के सामने ही शरीर त्यागकर परम धामको चले गये। वह तीर्थ आज भी शरभङ्गके नामसे प्रसिद्ध है। उसके पश्चात् भगवान् सुतीक्ष्णके आश्रममे गये। सुतीक्ष्ण भी भगवान्‌के बड़े भक्त और बड़े ज्ञानी महात्मा थे। इसलिये सुतीक्ष्णका आश्रम भी आज तीर्थके नामसे प्रसिद्ध है। ऐसे ही भगवान् और आगे बढ़े तथा अगस्त्य ऋषिके आश्रममे पहुँचे। अगस्त्यजी भी ज्ञानी महात्मा पुरुष थे। उनके नामसे आज भी वह तीर्थ प्रसिद्ध है। कहनेका अभिप्राय यह कि किसीकी भगवान्‌के सम्बन्धसे और किसीकी महात्माओके सम्बन्धसे तीर्थ-संज्ञा हो गयी।

इसी प्रकार भागीरथी गङ्गा भी महान् तीर्थ है। महाराज भगीरथ भी बड़े उच्चकोटिके भगवान् शिवके भक्त थे। वे भगवान् विष्णुके भी भक्त थे। उनके तपके बलसे हमारे देशको पवित्र करने-

के लिये गङ्गा यहाँ आयी। गङ्गाके सभी तट—किनारे तीर्थ-स्वरूप हैं। शास्त्रोंमें गङ्गाकी बड़ी महिमा आती है। देवताओंकी नदी होनेके कारण इनका नाम सुरसरि भी है। ये शिवजीकी जटामें रहीं, इसलिये इनको 'जटाशङ्करी' भी कहते हैं। इनके बहुत-से नाम हैं*। हेतुको लेकर ही वे सब नाम हैं। यह गङ्गा भगवान्‌के चरणोंसे प्रकट हुई हैं।

श्रीवामन-अवतारके समय जब भगवान् वामनजीने बड़ा विशाल 'त्रिविक्रम' रूप धारण करके तीनों लोकोंको दो ही चरणोंसे नाप लिया था और तीसरा चरण राजा बलिके मस्तकपर रखकर उसको पवित्र कर दिया था, उस समय जब भगवान्‌का दूसरा चरण ब्रह्मलोकतक पहुँच गया और वह ब्रह्माण्डकटाह (शिखर) को छू गया, तब वह ब्रह्माण्ड अंगूठेके अग्रभागके आघातसे फूट गया। भगवान्‌के चरणोंको उस छिद्रमेंसे ब्रह्माण्डके बाहर आये देख ब्रह्माजीने अपने कमण्डलुमें स्थित जलसे उनका प्रक्षालनपूर्वक पूजन किया। वह जल भगवान्‌के चरणको धोता हुआ हेमकूटपर्वतपर भगवान् शङ्करके पास पहुँचकर उनकी जटामें स्थित हो गया। पश्चात् महाराज भगीरथके द्वारा गङ्गाके लिये भगवान् शङ्करकी आराधना किये जानेपर वे पृथ्वीपर उतरीं। वे तीन धाराओंमें प्रकट होकर तीनों लोकोंमें गयीं, इसीलिये शास्त्रोंमें इनको 'त्रिस्रोता' कहा गया है।

इनकी महिमाके विषयमें श्रीभागवतकार भी कहते हैं—

* स्कन्दपुराणके काशीखण्डके पूर्वार्धमें २९ वें अध्यायके १७ वेंसे ६८ वें श्लोकतक 'गङ्गासहस्रनामस्तोत्र'में गङ्गाजीके हजार नाम बतलाये हैं।

श्रीगङ्गावतरण

धातुः कमण्डलुजलं तदुरुक्रमस्य
पादावनेजनपवित्रतया नरेन्द्र ।
स्वर्धुन्यभून्नभसि सा पतती निमार्ष्टि
लोकत्रयं भगवतो विशदेव कीर्तिः ॥
(८ । २१ । ४)

'परीक्षित् ! ब्रह्माजीके कमण्डलुका वह जल उरुक्रम भगवान्‌के चरण पखारनेसे पवित्र होनेके कारण गङ्गाके रूपमें प्रकट हो गया, जो भगवान्‌की उज्ज्वल कीर्तिके समान आकाशमार्गसे पृथ्वीपर गिरकर अबतक तीनों लोकोंको पवित्र करती है ।'

महाराज भगीरथने गङ्गाके लिये बहुत बड़ी तपस्या की थी । उनकी तपस्यासे प्रसन्न होकर भगवती गङ्गाने उन्हें दर्शन दिया और कहा—'मै तुम्हे वर देनेके लिये आयी हूँ ।' उनके ऐसा कहनेपर राजा भगीरथने बड़ी नम्रतासे अपना अभिप्राय प्रकट किया कि 'आप मर्त्यलोकमे चलिये ।' तब गङ्गाने कहा—'जिस समय मै स्वर्गसे पृथ्वीतलपर गिरूँ, उस समय मेरे वेगको कोई धारण करनेवाला होना चाहिये; ऐसा न होगा तो मै पृथ्वीको फोड़कर रसातलमे चली जाऊँगी । इसके अतिरिक्त मै इस कारणसे भी पृथ्वीपर नही जाती कि लोग मुझमें स्नान करके अपने पाप धोयेगे; फिर मै उस एकत्र पाप-राशिको कहाँ धोऊँगी । राजन् ! इस विषयमें तुम्हे विचार करना चाहिये ।'

इसपर भगीरथ बोले कि भगवान् शङ्कर आपको धारण कर लेगे । एवं—

साधवो न्यासिनः शान्ता ब्रह्मिष्ठा लोकपावनाः ।
हरन्त्यघं तेऽङ्गसङ्गात् तेष्वास्ते ह्यघभिद्धरिः ॥
(श्रीमद्भा० ९ । ९ । ६)

'माताजी ! जिन्होंने सम्पूर्ण वासनाओंका परित्याग कर दिया है, जो संसारसे उपरत होकर अपने-आपमें ही शान्त हैं, जो ब्रह्मनिष्ठ और लोकोंको पवित्र करनेवाले श्रेष्ठ महापुरुष हैं, वे अपने अङ्गोंके स्पर्शसे तुम्हारे पापोंको नष्ट कर देंगे; क्योंकि उनके हृदयमें पापोंका नाश करनेवाले भगवान् सदा निवास करते हैं ।'

अभिप्राय यह कि तुम किसी बातकी चिन्ता न करो, तुममें स्नान करने जो आयेगे, उनमे कोई महापुरुष भी होंगे । उनके चरणों-का स्पर्श तुम्हें प्राप्त होगा, जिससे तुम्हारे अंदर इकट्ठे हुए सब पाप नष्ट हो जायँगे; क्योंकि महात्मालोग अपने चरण-स्पर्शसे भूमिको तथा तीर्थोंको भी पवित्र कर देते हैं । ऐसे ही महापुरुषोंके लिये श्रीमद्भा-गवतमे भगवान्ने स्वयं कहा है—

> निरपेक्षं मुनिं शान्तं निर्वैरं समदर्शनम् ।
> अनुव्रजाम्यहं नित्यं पूयेयेत्यङ्घ्रिरेणुभिः ॥
>
> (११ । १४ । १६)

'जिन्हे किसीकी अपेक्षा नही, जो संसारसे उपरत हैं, जो निरन्तर मेरे ही मननमे तल्लीन रहते हैं, जो वैररहित हैं और जिनकी सबके प्रति समान दृष्टि है, उन महात्मा पुरुषोके पीछे-पीछे मैं सदा इसलिये घूमा करता हूँ कि उनके चरणोकी धूलि उड़कर मेरे ऊपर पडे, जिससे मै पवित्र हो जाऊँ ।'

भगवान् भी उन उच्चकोटिके भक्त महापुरुषोके पीछे-पीछे फिरते है, उनके चरणोंकी धूलिकी आकाङ्क्षा करते है और उनके चरणोंकी धूलिसे वे अपनेको पवित्र मानते है । बात यह है कि भगवान्के जो

उच्चकोटिके भक्त होते है, वे भगवान्‌के चरणोंकी धूलिको मस्तकपर धारण करके अपनेको पवित्र मानते है तथा भगवान्‌के ये वचन है—

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम् ।

(गीता ४ । ११)

'जो भक्त मुझे जिस प्रकार भजते है, मै भी उनको उसी प्रकार भजता हूँ ।' तो इसका बदला भगवान् कैसे चुकावे ? जो भगवान्‌के चरणोकी धूलिको उठाकर अपने मस्तकपर धारण करके अपनेको परम पवित्र मानते है, उनका बदला तभी चुकाया जा सकता है जब कि उन भक्तोंकी चरण-धूलिको भगवान् स्वयं अपने सिरपर धारण कर अपनेको परम पवित्र मानें । इसीको चरितार्थ करनेके लिये उन्होंने यह बात कही कि मैं अपने निष्काम भक्तोंकी चरणधूलिसे पवित्र होनेके लिये उनके पीछे-पीछे फिरता हूँ । भगवान् तो सदा स्वरूपसे ही परम पवित्र है । यह तो भक्तोंकी महिमा बढ़ानेके लिये ही भगवान्‌ने कहा है । इस बातको खयालमें रखकर हमलोगोंको भगवान्‌की भक्ति निष्कामभाव, श्रद्धा और प्रेमसे करनी चाहिये । इस प्रकार भगवान्‌की अनन्य भक्तिसे सब कुछ हो सकता है ।

महापुरुषोंकी महिमा इतनी अपार है कि उसका वर्णन स्वयं महापुरुष भी नहीं कर सकते, फिर दूसरा कौन कर सकता है ? जो कुछ, यत्किञ्चित् कहा जाता है, वह तो उसका आभासमात्र है या यों कहिये कि स्तुतिमे निन्दा है । किसी अरबपतिको हम लखपति कहें तो वह स्तुतिमे निन्दा ही है । शास्त्रोमे जिन महापुरुषोंकी महिमा गायी गयी है, वैसे महापुरुष तो आजकल संसारमे मिलने भी

बहुत कठिन है। भगवान्‌के भेजे हुए जो महापुरुष संसारके कल्याण-के लिये अधिकार पाकर आते हैं, उनकी शास्त्रोंमें विशेष महिमा गायी गयी है। उन्हींको 'अधिकारी पुरुष' तथा 'कारकपुरुष' भी कहते हैं।

श्रीवेदव्यासजी महाराज ऐसे ही अधिकारी पुरुष हैं। उनकी बड़ी अलौकिक महिमा शास्त्रोंमें आती है। ऐसी और किसी साधारण मनुष्यकी महिमा नहीं देखी गयी। महाभारतके आश्रमवासिकपर्वमें लिखा है कि पतिव्रता गान्धारी, कुन्तीदेवी, संजय और धृतराष्ट्र—ये गङ्गा-तटपर आश्रममें रहकर तपस्या किया करते थे। उस आश्रम-मण्डलमें पाण्डुके सब पुत्र भी अपनी सेना और अन्तःपुरकी स्त्रियोंके सहित ठहरे हुए थे। उस समय एक दिन वहाँ श्रीवेदव्यासजी महाराज आ पहुँचे। तब अन्य भी बहुत-से ऋषि-मुनि वहाँ आ गये। शोकमग्न धृतराष्ट्र, गान्धारी, कुन्ती, द्रौपदी और सुभद्रा आदि स्त्रियोंको देखकर श्रीवेदव्यासजीने कहा—'मैं आपलोगोंके दुःखोंको जानता हूँ और उनको मिटानेके लिये आया हूँ। धृतराष्ट्र! बताओ, मैं तुम्हारी कौन-सी कामना पूर्ण करूँ? तुम आज मेरे तपके प्रभाव-को देखो।' धृतराष्ट्र बोले—'मैं आज आपका दर्शन पाकर धन्य हो गया, मेरा जीवन सफल हो गया; किंतु दुर्योधनकी और कुटुम्बी-जनोंकी मृत्युके कारण मैं बहुत चिन्तित हूँ।' फिर पुत्रशोकसे व्याकुल गान्धारीने हाथ जोड़कर कहा—'मुनिराज! युद्धमें जो मेरे पुत्र मर गये हैं, उनके शोकमें राजाको सारी रात नींद नहीं आती है। आप चाहें तो नयी सृष्टि रच सकते हैं, फिर आपके लिये मरे हुए पुत्रोंसे एक बार मिला देना कोई बड़ी बात नहीं है। आपके

अनुग्रहसे राजा धृतराष्ट्रका, मेरा और कुन्तीका भी शोक दूर हो सकता है ।' कुन्तीने भी कर्णसे मिलानेके लिये प्रार्थना की । तब श्रीवेद-व्यासजी बोले—'बहुत अच्छी बात है । गान्धारी ! तू अपने पुत्रों-को, कुन्ती कर्णको, सुभद्रा अभिमन्युको, द्रौपदी अपने पाँचो पुत्रोंको और पिता आदि सबको भी देखेगी । पहलेसे ही मेरे हृदयमें यह बात उठ रही थी कि इतनेमें ही राजा धृतराष्ट्रने, तूने और कुन्तीने भी इसी बातके लिये कहा । अब तुमलोगोंको इनके लिये शोक नही करना चाहिये । आज रातको मै उन सबसे तुम सबको मिला दूँगा ।'

तदनन्तर श्रीव्यासजीके आदेशके अनुसार राजा धृतराष्ट्र अपने मन्त्री और पाण्डवोंसहित तथा वहाँ आये हुए मुनिजन, गन्धर्व आदि सभी गङ्गाके समीप गये और वहाँ इच्छानुसार पडाव डाल दिया । गान्धारी आदि स्त्रियाँ भी वहाँ जाकर यथास्थान एक ओर बैठ गयी । नगरके और प्रान्तके बहुत-से लोग भी सूचना पाकर वहाँ एकत्र हो गये । फिर महातेजस्वी महामुनि व्यासजीने भागीरथीके पवित्र जलमे प्रवेश करके सब लोगोका आवाहन किया । पाण्डवोके और कौरवोके जो-जो योद्धा समरमें मर चुके थे, उन सभीको बुलाया । उस समय, रणभूमिमें कौरव और पाण्डवोंकी सेनाओंका जमघट होनेपर जैसा घोर शब्द हुआ था, वैसा ही कोलाहल जलमे हो उठा । फिर सेना-सहित भीष्म और द्रोणको आगे करके चलते हुए वे सहस्रों राजागण जलसे बाहर निकले । वे इच्छानुसार अपने बन्धु-बान्धवों, कुटुम्बियो और स्त्रियोसे परस्पर यथायोग्य मिले और उन सबने उस रात बड़ा

ही आनन्द पाया । श्रीवेदव्यासजीकी कृपासे वे सब वैरभाव, ईर्ष्या, शोक, भय, पीड़ा, त्रास आदिसे रहित हो गये । रात्रि बीतनेपर वे सब लोग जहाँसे आये थे, वहीं जाने लगे । उस समय श्रीवेदव्यासजीने कहा—'जो स्त्री अपने पतिके साथ जाना चाहती हो, वह अपने पतिके साथ गङ्गामें गोता लगावे ।' यह सुनकर बहुत-सी पतिव्रता साध्वी स्त्रियोंने गङ्गामे गोता लगाया और वे तुरंत दिव्य शरीर धारण करके अपने-अपने पतियोंके साथ विमानपर बैठकर पतियोंके उत्तम लोकोंको चली गयीं ।

वह सारी सेना ठीक वैसी ही थी, जैसी कि युद्धमे मरनेके समय थी । जिसका जैसा शरीर, रूप-रंग और अवस्था थी, जैसा हथियार, घोड़ा, रथ था, ठीक वैसा-का-वैसा ही देखा गया । जैसे भागवतमे वर्णन आता है कि भगवान् जब ग्वाल-बाल और बछड़े बने थे, तब उन ग्वाल-बालोंका वही रूप, वही अवस्था, वही स्वभाव—सब कुछ ठीक वही था; इसी प्रकार यहाँ सेनाका जो वेष, आकृति और रूप था तथा जिसका जो सारथि, जो घोड़े, जो रथ, जो रथी, जो ध्वजा और जो वाहन थे, वे सब वही देखनेमें आये । इस प्रकार युद्धमे जितने मरे थे, वे सभी योद्धा ज्यों-के-त्यों प्रकट हो गये । रातभर मिले और प्रातःकाल श्रीवेदव्यासजीने उन सबको विदा कर दिया ।

यह कथा श्रीवैशम्पायन मुनि राजा जनमेजयको सुना रहे थे । उस समय जनमेजयने कहा—'यदि श्रीवेदव्यासजी मेरे पिता परीक्षित्-को दिखा दें तो आपकी कही बातपर मेरी श्रद्धा हो जाय तथा मेरा यह प्रिय कार्य हो जाय और मैं कृतार्थ हो जाऊँ । इन ऋषिश्रेष्ठ श्रीवेदव्यासजीकी कृपासे मेरी यह इच्छा सफल होनी चाहिये ।' यह

बात सुनकर श्रीवेदव्यासजीने राजा परीक्षित्‌का आह्वान किया। राजा परीक्षित् उसी समय अपने मन्त्रियोंसहित वहाँ यज्ञशालामें प्रकट हो गये। राजा परीक्षित्‌का शरीर शान्त होनेके समय जैसा रूप-रंग, वेष और अवस्था थी, ठीक वैसे ही वे वहाँ दिखायी दिये। उन्होने यज्ञान्तस्नान किया और यज्ञका शेष कार्य भी पूरा किया।

खयाल करना चाहिये कि श्रीवेदव्यासजी कितने उच्चकोटिके महापुरुष थे। इसके अतिरिक्त, श्रीवेदव्यासजी सर्वज्ञ भी थे। जब कोई उनको याद करता था, तब उसी समय वहाँ प्रकट हो जाते थे और कहीं-कही तो बिना स्मरण किये ही आवश्यकता समझते थे तब प्रकट हो जाते थे और कार्यकी सिद्धि करके विदा हो जाते थे। श्रीवेदव्यासजीके लिये संसारमें ऐसा कोई कार्य नही था, जो असम्भव हो। ऐसे महापुरुष जो संसारमें आते है—संसारके कल्याणके लिये, हितके लिये ही आते है। उनकी जितनी महिमा गायी जाय, थोड़ी है। यह जो मृत सेनाको बुला देनेकी बात है, सो तो बहुत ही साधारण है। वे चाहें तो हजारों-लाखोंका कल्याण कर सकते है। उनका तो आना ही होता है संसारके कल्याणके लिये। ऐसे महापुरुषोंकी महिमा बड़ी ही रहस्यमयी और अलौकिक है।

महापुरुषोंके विषयमे जितना अनुमान किया जाता है, उससे भी कहीं अधिक लाभ हो सकता है। महापुरुष यदि कोशिश करे या हमलोग महापुरुषोंसे लाभ उठाना चाहे अर्थात् कोई भी उनसे लाभ उठाना चाहे तो परम लाभ उठा सकता है। जब गङ्गामे स्नान करने और गङ्गाजलका पान करनेसे मुक्ति हो जाती है, तब फिर

महापुरुषोंके सङ्गसे आत्माका कल्याण हो जाय, इसमें तो कहना ही क्या है ? गङ्गासे तो गीता भी बढ़कर है और गीताके जाननेवाले महापुरुष उससे भी बढ़कर बतलाये जा सकते है । जिन महापुरुषों-के दर्शन, भाषण, स्पर्श और वार्तालापसे कल्याण बतलाया गया है, वह उन्हीं महापुरुषोंसे बतलाया गया है, जो 'अधिकारी पुरुष' हैं, अर्थात् जो भगवान्‌के यहाँसे अधिकार लेकर आये है ।

ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ, संन्यास आदि सभी आश्रमोंमें और ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र आदि सभी वर्णोंमें महापुरुष होते है । सनकादि तो ब्रह्मचारीके रूपमे ही रहे । इसी प्रकार संन्यासियोंमें शुकदेवजी, नारदजी आदि है । गृहस्थ ऋषियोमे भी बहुत-से महा-पुरुष हुए है, जैसे वेदव्यासजी, वसिष्ठजी और याज्ञवल्क्यजी आदि । राजाओमे अश्वपति और जनक आदि, वैश्योंमें नन्दभद्र और तुलाधार आदि तथा शूद्रोमे सूतजी, संजय, विदुरजी एवं अछूत जातियोंमे गुह, केवट, शबरी (भीलनी), मूक चाण्डाल, धर्मव्याध आदि बहुत-से महापुरुष हुए है । इस प्रकार सभी वर्णों और सभी आश्रमोमे महापुरुष हुए है । उन महापुरुषोमे कोई-कोई तो अधिकारी (कारक) पुरुष भी हुए है ।

उन अधिकारी महापुरुषोंकी जो मुद्रा है, उसीको देखकर जीवन बदल जाता है । उनके नेत्रोसे जो चीज देखी जाती है, वह पवित्र हो जाती है । उनकी दृष्टि जहाँतक जाती है, वहाँतक पवित्रताका प्रसार होता है । उनकी दृष्टिके द्वारा उनके हृद्गत भावोंके परमाणु फैल जाते है । उस रास्तेसे कोई निकल जाता है तो उसपर भी असर होता है । जो महापुरुषोंको देख लेते हैं, उनके भी नेत्र

और हृदय पवित्र हो जाते है। फिर उनकी आज्ञाके पालनसे कल्याण हो जाय, इसमें तो कहना ही क्या है ! वे अधिकारी महापुरुष हमलोगोको याद कर लेते है तो हम पवित्र हो जाते है और हम उनको याद कर लेते है तो भी हम पवित्र हो जाते है।

महापुरुषोंकी महिमा कहनेमें कुछ संकोच भी होता है और कुछ भय भी। भय तो इस बातसे होता है कि आजकल बहुत-से लोग झूठे महापुरुष बने बैठे है और वे अपने पैर पुजवाते है, अपनी जूँठन खिलाते है, अपने चरणोकी धूलि और चरणोदक देते है, अपने नामका कीर्तन करवाते और रूप (फोटो) को पुजवाते है तथा कोई-कोई तो धन और स्त्रियोके सतीत्वका हरण करते है। कहीं-कहीं तो साधारण बनिये और शूद्र भी योगिराज, ज्ञानी, महात्मा बने बैठे है। कही स्त्रियाँ ज्ञानी महात्मा बनकर भोले-भाले नर-नारियोंको ठगती है। इसके सिवा, कोई ब्रह्मचारीके वेषमे, कोई गृहस्थके वेषमें, कोई साधुके वेषमें, कोई वानप्रस्थीके वेषमे, कोई तो अपनेको ज्ञानी, भक्त, महात्मा, योगिराज बतलाता है और कोई अपनेको अवतार बतलाता है। सच तो यह है कि इन बतलानेवालोमें सबमें अन्धकार-ही-अन्धकार है। उच्चकोटिके महापुरुष कभी अपनेको ज्ञानी, महात्मा, भक्त नही बतलाते, कभी अपनेको योगिराज या अवतार नहीं बतलाते; परंतु जो झूठे दम्भी महात्मा बने होते है, वे ही अपनेको पुजवानेके लिये, संसारमे अपनी ख्याति—कीर्तिके लिये या धन और स्त्रियोंका सतीत्व हरण करनेके लिये ऐसा करते है और उनका ऐसा करना संसारको और अपने आत्माको धोखा

देना है । इसका परिणाम उनके लिये अत्यन्त भयावह है !

हमारे इस कथनका वे दम्भी, पाखण्डी, झूठे ज्ञानी महात्मा दुरुपयोग कर सकते है कि 'देखो ! महापुरुषोंकी ऐसी महिमा इन्होंने बतायी है और वे महापुरुष हमी लोग हैं ।' इस प्रकारके वचनोंसे लोगोंको धोखा देकर वे अपना स्वार्थ सिद्ध करनेके लिये मेरे उपर्युक्त वाक्योंका दुरुपयोग कर सकते है । भोली-भाली स्त्रियाँ उनके बहकावेमें आकर अपना सतीत्व नष्ट कर देती है, धन देती है और उनकी पूजा करके अपने और उनके जीवनको कलङ्कित बनाती है तथा परलोकको नष्ट करती है । इसलिये महापुरुषोंकी विशेष महिमा कहनेमे मनमे कभी कुछ भय-सा होता है ।

वास्तविक अधिकारी महापुरुष तो शायद ही किसीकी जानकारीमें हों, किंतु जो अपनेको महात्मा माननेवाले और दूसरोंसे मनवानेवाले है, ऐसे झूठे दम्भी महात्मा बहुत मिलते है । हाँ, भगवत्प्राप्त पुरुष भी संसारमे मिल सकते है, उनकी भी महिमा शास्त्रोंमें वर्णित है । किंतु उन अधिकारी महापुरुषोंकी महिमा तो उनसे भी विशेष है । वे कारक महापुरुष तो भगवान्‌के यहाँसे अधिकार लेकर आते है और भगवान्‌के भेजे हुए आते है । उनकी क्रिया कभी निष्फल नही होती ।

अब रही संकोचकी बात, सो संकोच इसलिये होता है कि मूर्खतावश अज्ञानसे लेखकको ही कोई महात्मा मान ले और महापुरुष मानकर दुरुपयोग करने लगे तो यह उचित नही । इस स्थितिमे समझदार आदमियोंको तो संकोच होना ही चाहिये ।

महापुरुषोंकी आज्ञा मानकर हम साधन करे तो हमारा कल्याण हो जाय, इसमें कोई शङ्काकी बात नहीं है। मै तो यह कहता हूँ कि महापुरुष न होकर जो उच्चकोटिका साधक है और शास्त्रोंके आधारपर कहता है तो उसकी आज्ञाका पालन करनेसे भी हमारा कल्याण हो सकता है। विश्वासपूर्वक गीता, रामायण, भागवत आदि ग्रन्थोके उपदेशोंका अध्ययन करके हमलोग उन्हे काममें लावे तो हमलोगोंका कल्याण हो सकता है। फिर यदि साधन करनेवाला उच्चकोटिका साधक हममे शामिल होकर साधन करे, तब तो हमारा कल्याण और भी सहज है। जैसे बदरिकाश्रम और केदारजी तीर्थमे गया हुआ पुरुष मिल जाय और उसके साथ हम चले तो बड़ी सुगमतासे हम बदरिकाश्रम और केदारजी पहुँच सकते है; क्योंकि वह सारे रास्तेका जानकार है। कहॉ क्या सुविधा है और कहाँ किस प्रकार रहना चाहिये, इस बातको वह अच्छी प्रकार जानता है; अतः सुखपूर्वक हमको बदरिकाश्रम और केदारजी पहुँचा सकता है, किंतु जो गया हुआ तो नही है, पर बदरी-केदारकी पुस्तक और झाँकी पढ़कर जिसने यह बात समझ ली है कि कौन-कौन-सी जगह क्या-क्या सुविधाएँ है, यदि ऐसे पुरुषका भी साथ हो जाय तो भी हमको बदरी-केदार जानेमे बहुत सुविधाएँ प्राप्त हो सकती है और हम सुखपूर्वक वहॉ पहुँच सकते है।

इसी प्रकार जो सिद्ध महात्मा पुरुष है, उनका सङ्ग मिल जाय तब तो बात ही क्या है; किंतु जो शास्त्रके ज्ञाता साधक पुरुष है या परमात्माके परम धाम जानेकी इच्छावाले जिज्ञासु पुरुष है, उनका

भी सङ्ग मिल जाय तो भी हमे कल्याणमें बड़ी सुगमता मिल सकती है। ऐसा न होनेपर भी गीता, रामायण, भागवत आदि शास्त्रोंको आधार बनाकर चले, तब भी हमारा कल्याण हो सकता है। जैसे कोई बदरिकाश्रम और केदारजीकी पुस्तकोंके आधारसे वहाँ जाता है तो उसको भी रास्तेमें बहुत सुविधा हो जाती है और वह उस गन्तव्य तीर्थस्थानपर पहुँच जाता है।

परमात्माका आधार तो सबके लिये है ही। वे तो सबकी सहायता करते ही है, उनकी कृपासे सब लोग पहुँच ही जाते हैं।

हमलोग प्रत्यक्ष देखते है कि बदरिकाश्रम और केदारजी जानेकी इच्छावाले बूढ़े स्त्री-पुरुष, जिनकी ७०।८० वर्षकी अवस्था हो चुकी है, जिनकी चलनेकी शक्ति भी बहुत कमजोर है एवं जो धनहीन भी है, किंतु मनमे श्रद्धा और उत्साह रखते है तो वे भी परमात्माकी दयासे बदरिकाश्रम पहुँच जाते है। इसी प्रकार उनकी श्रद्धा और उत्साहको देखकर हमलोगोंको भी, जो वास्तवमे भगवान्‌के परम धाममे जानेकी इच्छा करनेवाले है, विश्वास करना चाहिये; श्रद्धा करनी चाहिये और उत्साह रखना चाहिये कि हमलोग भी परमात्माकी कृपासे परमात्माकी प्राप्तिका साधन सम्पादन करके परमात्माके परम धाममे पहुँच सकते है।

हमलोगोमे जो निराशा है, वह तो श्रद्धा और आत्मबलकी कमी तथा मूर्खताके कारण है। मनुष्यको निराश तो कभी होना ही नही चाहिये। जब बदरिकाश्रमका रास्ता बड़ा कठिन है और हम देखते है कि जो अत्यन्त कमजोर है, उसमे भी श्रद्धाके कारण शक्ति

आ जाती है, उत्साह हो जाता है और वह भी चला जाता है तो फिर हम भगवान्‌की कृपासे भगवान्‌के धामको क्यों नहीं पहुँच सकते ? शास्त्रोंमें बतलाया है—

मूकं करोति वाचालं पङ्गुं लङ्घयते गिरिम्।
यत्कृपा तमहं वन्दे परमानन्दमाधवम्॥

'जिसकी कृपा मूकको वाचाल कर देती है और जिसकी कृपासे पङ्गु (पँगुला) पहाड़को लाँघ जाता है, उस परमानन्द माधवको मै नमस्कार करता हूँ।'

इससे यह बात प्रत्यक्ष देखनेमें आ रही है कि बदरिकाश्रमके मार्गके बड़े-बड़े पहाड़ोपर अल्प शक्तिवाला मनुष्य चला जाता है तो यह एक प्रकारसे पङ्गुके द्वारा ही पहाड़को लाँघना है। जो उचित बोलना नही जानता, अपनी भाषामें भी जिसको बोलनेकी शक्ति नही है, ऐसा पुरुष भगवान्‌की कृपासे व्याख्यानदाता बन जाता है तो यह एक प्रकारसे मूकसे ही वाचाल बन जाना है।

अतएव हमलोगोंको यह निश्चय कर लेना चाहिये कि हमलोग भी ईश्वरकी और महापुरुषोंकी कृपासे उस परमात्माको प्राप्त कर सकते है। मनुष्यके लिये कोई भी बात असम्भव नहीं है। महापुरुषोंका या भगवान्‌का अपनेपर हाथ समझ ले, तब तो फिर कहना ही क्या है।

महापुरुषोंकी महिमा जितनी बतलायी जाय, उतनी थोड़ी है। उन अधिकारी महात्माओंके तो दर्शन, भाषण, स्पर्श और वार्तालापसे

ही प्राणियोंका कल्याण हो सकता है। यह कोई आश्चर्यजनक बात नहीं है। ऐसे महापुरुषोंके प्रसादसे साधारण जीवोंका भी वैसे ही कल्याण हो सकता है, जैसे परमात्माके प्रसादसे भक्तका कल्याण हो जाता है। भगवान् गीतामें स्वयं कहते हैं—

> **तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत।**
> **तत्प्रसादात्परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम्॥**
>
> (१८।६२)

'हे भारत! तू सब प्रकारसे उस परमेश्वरकी ही शरणमें जा। उस परमात्माकी कृपासे ही तू परम शान्तिको तथा सनातन परम धामको प्राप्त होगा।'

यहाँ 'प्रसाद'का अर्थ है—उनकी दया। इसी प्रकार उच्च-कोटिके महात्मा पुरुषोंकी दयाके प्रभावसे भी मनुष्यका कल्याण हो सकता है। गीतामें बतलाया है—

> **तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया।**
> **उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः॥**
>
> (४।३४)

'उस ज्ञानको तू तत्त्वदर्शी ज्ञानियोंके पास जाकर समझ, उनको भलीभाँति दण्डवत्-प्रणाम करनेसे, उनकी सेवा करनेसे और कपट छोड़कर सरलतापूर्वक प्रश्न करनेसे वे परमात्मतत्त्वको भलीभाँति जाननेवाले ज्ञानी महात्मा तुझे उस तत्त्वज्ञानका उपदेश करेंगे।' तत्त्वदर्शी महात्माओंकी आज्ञा मानने एवं उनका सङ्ग करनेसे पापी मनुष्य भी परम पवित्र होकर उनकी कृपासे मुक्त हो जाता है।

उनका दूसरा प्रसाद यह है कि वे जो भी कुछ वरदान या आशीर्वाद देते हैं, अथवा कोई रास्ता बतलाते हैं, वह सब उनका दिया हुआ प्रसाद है। उनकी कृपासे बहुत-से मनुष्य मुक्त हुए हैं, जिनकी कथा शास्त्रोंमें विस्तारपूर्वक मिलती है और वह युक्तिसङ्गत भी है।

छान्दोग्य-उपनिषद्में कथा आती है कि जबालाके पुत्र सत्यकाम-का हारिद्रुमत गौतमकी कृपासे—उनके आज्ञा-पालनसे उद्धार हो गया। आयोद्धौम्य मुनिकी आज्ञा माननेसे आरुणि और उपमन्युका कार्य सिद्ध हो गया; यह कथा महाभारतके आदिपर्वमें आती है। एवं सत्यकामकी सेवा करनेसे उपकोसलका उद्धार हो गया; यह कथा भी छान्दोग्य-उपनिषद्में है। इसी प्रकार और भी बहुत-सी कथाएँ मिलती हैं; यह कोई आश्चर्यजनक बात नहीं है।

सार यह है कि जो अधिकारी (कारक) महापुरुष हैं, उनके तो दर्शन, भाषण, स्पर्श, वार्तालाप और चिन्तनसे ही कल्याण हो सकता है तथा दूसरे जो सामान्य भगवत्प्राप्त पुरुष हैं, उनकी आज्ञा-का पालन करनेसे, उनकी सेवा और नमस्कार करनेसे तथा उनके बतलाये हुए मार्गके अनुसार चलनेसे कल्याण हो सकता है। फिर भगवान्की तो बात ही क्या है! भगवान्के तो नाम-रूपको याद करने-मात्रसे ही मनुष्यका कल्याण हो सकता है। इसलिये भगवान्के नाम-रूपको हर समय नित्य-निरन्तर याद रखनेकी विशेष चेष्टा करनी चाहिये।

गीतामें उपासना

गीतामें दो प्रकारकी उपासनाका उल्लेख है—एक भेदोपासना और दूसरी अभेदोपासना। भेदोपासना योगके अन्तर्गत है और अभेदोपासना सांख्यके अन्तर्गत है। भेदोपासनाको भक्तियोग तथा अभेदोपासनाको ज्ञानयोगके नामसे भी कहा गया है, इसीको ज्ञानकी परानिष्ठा भी कहते हैं। भेदोपासनासे अभिप्राय है—ईश्वरकी भक्ति। वह भक्ति गीतामें कहीं सगुण-साकारकी उपासनाके रूपमें (९। २६, ३४; ११। ५४) और कहीं सगुण-निराकारकी उपासनाके रूपमें आती है (८। ९, १०, २२; ९। २९; १८। ४६, ६२)। बहुत-से ऐसे श्लोक हैं, जिनमें साकार और निराकारका स्पष्ट उल्लेख नहीं किया गया है (२। ६१; ६। १४; ७। १४; ८। ५)। यह भक्तकी इच्छापर निर्भर है, वह अपनी इच्छाके अनुसार सगुण-साकार या सगुण-निराकारकी अथवा निराकारसहित साकारकी भेदरूपसे उपासना कर सकता है। अभेदोपासनासे अभिप्राय है—सच्चिदा-नन्दघन निर्गुण-निराकार ब्रह्मका अभेदरूपसे यथार्थ ज्ञान। अर्थात्

एक ब्रह्मके अतिरिक्त और सबका अभाव या जो कुछ है सो ब्रह्म ही है—इस प्रकारका अनुभव।

भेदोपासना

गीतामे भेदोपासनाके बहुत-से श्लोक मिलते है। ऐसा कोई भी अध्याय नहीं कि जिसमे भेदभक्तिका भाव प्रकट न होता हो। पहले अध्यायमें स्पष्टरूपसे भेदोपासनाका कोई श्लोक नहीं है, फिर भी अर्जुनके वचनोंमे कुछ भक्तिका भाव टपकता है। अर्जुनने भगवान् हृषीकेशसे कहा कि 'हे अच्युत! मेरे रथको दोनों सेनाओंके बीचमे खड़ा कीजिये (गीता १। २१)।' इस अध्यायमे हृषीकेश, माधव, अच्युत आदि शब्द भगवान्‌के वाचक है। अर्जुनके द्वारा भक्तिभावसे किये गये इन सम्बोधनोंसे अर्जुनके हृदयका भक्तिभाव झलकता है।

दूसरे अध्यायके ६१ वें श्लोकमें तो स्वयं ही भगवान्‌ने स्पष्ट ही कहा है—'युक्त आसीत मत्परः।' भाव यह है कि 'समाहितचित्त हुआ मेरे परायण स्थित होवे।'

इसी प्रकार तीसरे अध्यायके तीसवें श्लोकमे भगवान्‌ने कहा है—

मयि सर्वाणि कर्माणि संन्यस्याध्यात्मचेतसा।

'ध्याननिष्ठ-चित्तसे सम्पूर्ण कर्मोंको मुझ परमात्मामें समर्पण कर।' इस प्रकार स्थित होकर क्षत्रियधर्मके अनुसार निष्कामभावसे युद्ध करनेकी भगवान्‌ने आज्ञा दी है। इन वचनोंसे हमको यह शिक्षा लेनी चाहिये कि निरन्तर ध्याननिष्ठ रहते हुए ही भगवदर्पण-बुद्धिसे

अपने-अपने वर्णाश्रमके अनुसार निष्कामभावसे शास्त्रविहित कर्म करें।

चौथे अध्यायके छठे श्लोकसे नवें श्लोकतक अवतारवादका वर्णन किया गया है, जो भेदोपासनाका मूलतत्त्व है। उसके अनन्तर दसवें श्लोकमें सगुण-साकार भगवान्‌की शरणसे भगवद्भावको प्राप्त होनेकी बात कही गयी है। भगवान् कहते हैं—

वीतरागभयक्रोधा मन्मया मामुपाश्रिताः।
बहवो ज्ञानतपसा पूता मद्भावमागताः॥

'पहले भी जिनके राग, भय और क्रोध सर्वथा नष्ट हो गये थे और जो मुझमें अनन्य प्रेमपूर्वक स्थित रहते थे, ऐसे मेरे आश्रित रहनेवाले बहुत-से भक्त उपर्युक्त ज्ञानरूप तपसे पवित्र होकर मेरे स्वरूपको प्राप्त हो चुके हैं।'

भगवान्‌ने ग्यारहवें श्लोकमें यह भी कहा है कि 'जो मुझे जिस प्रकार भजते हैं, उनको मैं वैसे ही भजता हूँ।' इससे हमलोगोंको यह शिक्षा लेनी चाहिये कि हम भगवान्‌के सिवा एक क्षण भी किसी अन्यको न भजें। चलते-उठते, खाते-पीते, सोते-जागते—सब समय गोपियोंकी भाँति* मनमोहन भगवान्‌को अपने साथ समझते हुए ही नित्य-निरन्तर उनको भजते रहें।

---

* श्रीमद्भागवत १०। ४४। १५ में बतलाया है—

या दोहनेऽवहनने मथनोपलेप-
प्रेङ्खेङ्खनार्भरुदितोक्षणमार्जनादौ।
गायन्ति चैनमनुरक्तधियोऽश्रुकण्ठ्यो
धन्या व्रजस्त्रिय उरुक्रमचित्तयानाः॥

'जो गौओंका दूध दुहते समय, धान आदि कूटते समय, दही बिलोते

पाँचवें अध्यायमें भी २९वे श्लोकमें भक्तिभाव यानी भेदोपासना-का महत्त्वपूर्ण उल्लेख है । वहाँ भगवान्‌के गुण-प्रभावको तत्त्वसे जाननेके रूपमे उपासना वतायी गयी है ।

भोक्तारं यज्ञतपसां सर्वलोकमहेश्वरम् ।
सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति ॥

'मेरा भक्त मुझको सब यज्ञ और तपोंका भोगनेवाला, सम्पूर्ण लोकोंके ईश्वरोंका भी ईश्वर तथा सम्पूर्ण भूतप्राणियोंका सुहृद् अर्थात् स्वार्थरहित दयालु और प्रेमी, ऐसा तत्त्वसे जानकर शान्तिको प्राप्त होता है ।'

इससे यह सिद्ध होता है कि जो पुरुष भगवान्‌को यज्ञ और तपोंका भोक्ता, सब लोकोंका महान् ईश्वर और सब भूतोंका सुहृद् तत्त्वसे जान लेता है, वह परम शान्तिरूप परमात्माको प्राप्त हो जाता है । जब मनुष्य सर्वगुणसम्पन्न भगवान्‌को तत्त्वतः जान जाता है, तब भगवान्‌के सौहार्दादि गुण उस भक्तमें स्वाभाविक ही आ जाते हैं । गीताके बारहवें अध्यायके १२ वें श्लोकसे १९ वें श्लोकतक, जहाँ भक्तोंके लक्षण बतलाये है, वहाँ स्पष्ट ही 'अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च' आदि शब्दोंसे सौहार्दादि गुणोंका कथन किया

समय, आँगन लीपते समय, बालकोंको पालनेमे झुलाते समय, रोते हुए बच्चोंको लोरी देते समय, घरोमे जल छिड़कते समय और झाड़ू देने आदि कर्मोंको करते समय प्रेमपूर्ण चित्तसे आँखोमे आँसू भरकर गद्गद वाणीसे श्रीकृष्णका गान किया करती हैं, इस प्रकार सदा श्रीकृष्णमे ही चित्त लगाये रखनेवाली वे व्रजवासिनी गोपियाँ धन्य है !'

गया है। अतः भगवान्‌को तत्त्वतः जाननेके लिये भगवद्भक्तोंको पूर्णरूपसे प्रयत्न करना चाहिये।

छठे अध्यायके १०वेंसे १४वें श्लोकतक एकान्त और पवित्र देशमें आसन लगाकर भगवान्‌की भेदभावसे विधिपूर्वक उपासना करनेका विषय बतलाया गया है। वहाँ एकान्त देशमें बैठनेके बाद किस प्रकारसे उपासना करनी चाहिये, यह चौदहवें श्लोकमें बतलाया है—

प्रशान्तात्मा विगतभीर्ब्रह्मचारिव्रते स्थितः।
मनः संयम्य मच्चित्तो युक्त आसीत मत्परः॥

'ब्रह्मचारीके व्रतमें स्थित, भयरहित तथा भलीभाँति शान्त अन्तःकरणवाला सावधान योगी मनको रोककर मुझमें चित्तवाला और मेरे परायण होकर स्थित होवे।'

व्यवहार करते समय सर्वव्यापी सगुण भगवान्‌की भक्ति सदा-सर्वदा किस प्रकार करनी चाहिये, यह बात गीताके छठे अध्यायके ३०वें और ३१वें श्लोकोंमें बतायी गयी है।

इस प्रकार सगुण-निराकारकी भक्ति करनेवाले भक्तकी प्रशंसा करते हुए भगवान्‌ने इसी अध्यायके अन्तिम ४७वें श्लोकमें उसे अन्य सब साधकोंसे उत्तम बतलाया है।

योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना।
श्रद्धावान्भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः॥

'सम्पूर्ण योगियोंमें भी जो श्रद्धावान् योगी मुझमें लगे हुए अन्तरात्मासे मुझको निरन्तर भजता है, वह योगी मुझे परम श्रेष्ठ मान्य है।'

इससे पाठकोंको यह शिक्षा लेनी चाहिये कि जब ऐसे साधकको भगवान्‌ने सर्वोपरि बतलाया है, तब इस श्लोकमे वर्णित साधनके अनुसार ही हम प्राणपर्यन्त प्रयत्न करें ।

सातवें अध्यायसे लेकर बारहवें अध्यायतक—इन छः अध्यायोंको तो विद्वज्जन उपासनाकाण्ड मानते है और ऐसा मानना उचित भी है; क्योकि इन अध्यायोंमे अधिकांशमें सगुण-साकार और सगुण-निराकार भगवान्‌की उपासना ही ओतप्रोत है । इन छः अध्यायोंके अधिकांश श्लोकोंमे भक्तिभावको प्रदर्शित करनेवाले भगवद्वाचक शब्द आये हैं । जैसे अर्जुनके वचनोंमें त्वम्, त्वाम्, तव, त्वया, त्वत्तः आदि तथा भगवान्‌के वचनोंमें अहम्, माम्, मयि, मम, मत्तः आदि । इसलिये इनका विस्तार कहाँतक करें; भेद-उपासनाके कुछ श्लोकोंका ही दिग्दर्शन कराया जाता है ।

सातवे अध्यायके आरम्भमे भगवान्‌ने अपने समग्र रूपकी उपासनाका विषय समझनेके लिये अर्जुनसे कहकर जगह-जगह समग्र रूपका विवेचन भी किया है । फिर अध्यायके अन्तमे २८वें, २९वे और ३०वें श्लोकोंमें साकार-निराकार, सगुण-निर्गुण स्वरूपकी भेदरूपसे उपासना करनेवालोंकी महिमा बतलायी है ।

इसके सिवा, सातवें अध्यायके १४वें श्लोकमे इस त्रिगुणमयी दुस्तर मायासे तरनेका एकमात्र उपाय—अपनी शरणागतिरूप उपासनाका वर्णन किया तथा १६वें श्लोकमें उपासकोंके चार भेद बतलाकर १७वें-१८वेमें ज्ञानी निष्कामी प्रेमी भक्तकी विशेष प्रशंसा की है । इससे हमको यह शिक्षा ग्रहण करनी चाहिये कि हम संसार-सागरसे

पार होनेके लिये उन समग्रस्वरूप सगुण भगवान्‌की शरण होकर निष्काम और प्रेमभावसे उन्हींकी भक्ति करें।

आठवें अध्यायके ५ वें श्लोकमे अन्तकालमें भगवत्स्मृति एवं ७ वें और १४ वे श्लोकोमे निरन्तर स्मरणका प्रभाव बतलाया गया है तथा ८ वें, ९ वें, १० वें और २२ वें श्लोकोंमें भगवान्‌के निराकार सर्वव्यापी परम दिव्य सगुण स्वरूपकी उपासनाका प्रकार बतलाया है। अतः मनुष्यको उचित है कि वह परमात्माके साकार या निराकार किसी भी स्वरूपका अथवा समग्र स्वरूपका श्रद्धा-भक्तिपूर्वक सदा-सर्वदा चिन्तन करते हुए उसकी स्वामी-सेवकभावसे उपासना करे।

नवें अध्यायके ४ थे, ५ वें और ६ ठे श्लोकोंमे निराकार-स्वरूपका तत्त्व और रहस्य समझाया गया है। ३० वें और ३१ वें श्लोकोंमे अतिशय दुराचारीका भी अनन्य भक्तिके प्रभावसे शीघ्र उद्धार होनेका कथन किया गया है। श्रीभगवान् कहते है—

अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः॥
क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति।
कौन्तेय प्रति जानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति॥

'यदि कोई अतिशय दुराचारी भी अनन्यभावसे मेरा भक्त होकर मुझको भजता है तो वह साधु ही माननेयोग्य है; क्योंकि वह यथार्थ निश्चयवाला है। अर्थात् उसने भलभाँति निश्चय कर लिया है कि परमेश्वरके भजनके समान अन्य कुछ भी नहीं है।'

'वह शीघ्र ही धर्मात्मा हो जाता है और सदा रहनेवाली परम शान्तिको प्राप्त होता है। हे अर्जुन! तू निश्चयपूर्वक सत्य जान कि मेरा भक्त नष्ट नहीं होता।'

इसके अनन्तर ३२ वें श्लोकमें भगवान्‌की शरणसे स्त्री, वैश्य, शूद्र एवं पापयोनिवाले चाण्डाल आदिको भी परमगति मिलनेकी बात कहकर अन्तिम ३४ वे श्लोकमें सगुण साकारकी शरणागतिका स्वरूप और उससे अपनी प्राप्ति बतायी गयी है—

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि युक्त्वैवमात्मानं मत्परायणः॥

'मुझमें मनवाला हो, मेरा भक्त बन, मेरा पूजन करनेवाला हो, मुझको प्रणाम कर। इस प्रकार आत्माको मुझमे नियुक्त करके मेरे परायण होकर तू मुझको ही प्राप्त होगा।'

इससे यह जिज्ञासा होती है कि 'भगवान्‌की शरणागतिके जो चार प्रकार बतलाये है, उन चारोके अनुष्ठानसे ही भगवत्प्राप्ति होती है या इनमेसे एक या दोके अनुष्ठानसे ही भगवत्प्राप्ति हो सकती है?' इसका उत्तर यह है कि 'एक या दोसे भी हो सकती है, फिर चारोंकी तो बात ही क्या है?'

इसी अध्यायके २२ वें श्लोकमे भगवान्‌ने नित्य-निरन्तर अनन्यचिन्तन करनेवाले भक्तके लिये कहा है कि 'उसका योगक्षेम मै वहन करता हूँ।' इस कथनसे 'मन्मना भव' मात्रको ही उद्धारका उपाय समझना चाहिये।

इसी अध्यायके ३० वें, ३१ वें श्लोकोंमे भगवान्‌ने अनन्य भक्तिसे अतिशय दुराचारीका शीघ्र उद्धार बतलाया है और 'मेरे भक्तका पतन नहीं होता' यह कहा है। इसमे 'मद्भक्तो भव'— अर्थात् केवल भगवान्‌की भक्तिसे ही उद्धार हो जाता है, यह बात समझनी चाहिये।

इसी अध्यायके २६ वें श्लोकमें भगवान्‌ने 'प्रेमपूर्वक मेरी पूजा करनेवालेका दिया हुआ पत्र-पुष्पादि मै स्वयं प्रकट होकर खाता हूँ'—यह कहा। अतः 'मद्याजी' के अनुसार केवल प्रेमपूर्वक भगवान्‌की पूजासे ही भगवान्‌की प्राप्ति हो जाती है—यह समझना चाहिये।

इसी अध्यायके १४ वें श्लोकमें भगवान्‌ने कहा कि 'मेरे भक्त नित्य मुझमे युक्त होकर भक्तिपूर्वक नमस्कार करते हुए मेरी उपासना करते है।' अतः भक्तिपूर्वक किये हुए 'मां नमस्कुरु' रूप नमस्कार-साधनसे ही भगवत्प्राप्ति हो सकती है।

यदि कहें कि 'जब एक ही प्रकारके साधनसे भगवान्‌की प्राप्ति हो जाती है, तब फिर चार प्रकारके साधन क्यों बतलाये ?' तो इसका उत्तर यह है कि चारों प्रकारके साधनोंसे साधनकालमें भी विशेष प्रसन्नता और शान्ति होती है तथा भगवान्‌की प्राप्ति सुगम और शीघ्र हो जाती है।

अतः हमलोगोंको नवें अध्यायके अन्तिम श्लोकके अनुसार चारों प्रकारके ही साधनोंको काममें लानेकी विशेष चेष्टा करनी चाहिये।

इस नवें अध्यायमें भक्तिके और भी बहुत-से श्लोक हैं, किंतु लेखका कलेवर न बढ़ जाय, इस संकोचसे विस्तार नहीं किया गया।

दसवें अध्यायके तीसरे श्लोकमे भगवान्‌ने अपने स्वरूप और प्रभावको तत्त्वसे जाननेवालेकी महिमा बतलायी है तथा ९ वें और १० वें श्लोकोंमे उपासनाका स्वरूप बतलाकर उससें अपनी प्राप्ति बतलायी है। भगवान् कहते है—

मच्चित्ता मद्गतप्राणा बोधयन्तः परस्परम्।
कथयन्तश्च मां नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च॥
तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते॥

'निरन्तर मुझमे मन लगानेवाले और मुझमें ही प्राणोंको अर्पण करनेवाले भक्तजन मेरी भक्तिकी चर्चाके द्वारा आपसमे मेरे प्रभावको जनाते हुए तथा गुण और प्रभावसहित मेरा कथन करते हुए ही निरन्तर संतुष्ट होते है और मुझ वासुदेवमे ही निरन्तर रमण करते हैं।'

'उन निरन्तर मेरे ध्यान आदिमे लगे हुए और प्रेमपूर्वक भजनेवाले भक्तोंको मै वह तत्त्वज्ञानरूप योग देता हूँ, जिससे वे मुझको ही प्राप्त होते हैं।'

इस अध्यायमे भगवान्‌ने और भी अपनी विभूति और प्रभावका वर्णन किया है, जिसका तत्त्व-रहस्य समझनेसे भगवान्‌की उपासनामें श्रद्धा-प्रेम बढ़कर साधन तेज हो सकता है।

ग्यारहवे अध्यायमे भगवान्‌के प्रभावसहित स्तुति और

प्रार्थनाका विस्तृत वर्णन है, उसका तत्त्व-रहस्य समझनेसे भगवान्‌में परम श्रद्धा और अनन्य भक्ति होकर भगवत्प्राप्ति हो सकती है। इसी अध्यायके ५४ वें श्लोकमे भगवान्‌ने अपनी अनन्य भक्तिका प्रभाव बतलाकर ५५ वे श्लोकमे अनन्य भक्तके लक्षणोंके रूपमें अनन्य भक्तिका स्वरूप बतलाया है—

भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन।
ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परंतप॥
मत्कर्मकृन्मत्परमो मद्भक्तः सङ्गवर्जितः।
निर्वैरः सर्वभूतेषु यः स मामेति पाण्डव॥

'परंतु हे परंतप अर्जुन! अनन्य भक्तिके द्वारा इस प्रकार मैं प्रत्यक्ष देखनेके लिये, तत्त्वसे जाननेके लिये तथा प्रवेश करनेके लिये अर्थात् एकीभावसे प्राप्त होनेके लिये भी शक्य हूँ।'

'हे अर्जुन! जो पुरुष केवल मेरे ही लिये सम्पूर्ण कर्तव्यकर्मोंको करनेवाला है, मेरे परायण है, मेरा भक्त है, आसक्तिरहित है और सम्पूर्ण भूतप्राणियोंमे वैरभावसे रहित है—वह अनन्यभक्तियुक्त पुरुष मुझको ही प्राप्त होता है।'

अतः हमलोगोंको दसवे और ग्यारहवें अध्यायमें वर्णित साधनके अनुसार विशेष प्रयत्न करना चाहिये। इन दोनों अध्यायोंमें वर्णित विभूति और योग तथा प्रभावसहित स्तुति-प्रार्थनाके तत्त्व-रहस्यको भी समझना चाहिये, जिससे कि हमारा परमात्मामे श्रद्धा-प्रेम बढ़े तथा अनन्य-भक्तिका साधन तेज होकर परमात्माकी प्राप्ति शीघ्र हो सके।

बारहवें अध्यायकी तो बात ही क्या है, यह तो सारा अध्याय ही भक्तिसे ओतप्रोत है; इसने भगवान्‌की भक्तिका वर्णन करके भगवत्प्राप्त पुरुषोंके लक्षण बतलाये गये है। अर्जुनके प्रश्न करनेपर इस बारहवें अध्यायके दूसरे श्लोकमें भगवान् अपने सगुणस्वरूपकी उपासनाको सर्वोत्तम बतलाते है—

मय्यावेश्य मनो ये मां नित्ययुक्ता उपासते।
श्रद्धया परयोपेतास्ते मे युक्ततमा मताः॥

'मुझमें मनको एकाग्र करके निरन्तर मेरे भजन-ध्यानमें लगे हुए जो भक्तजन अतिशय श्रेष्ठ श्रद्धासे युक्त होकर मुझ सगुणरूप परमेश्वरको भजते है, वे मुझको योगियोमे अति उत्तम योगी मान्य है।'

६ ठे और ७ वें श्लोकोंमें सगुण-उपासनाका प्रकार बतलाकर 'मै उस उपासकका संसार-सागरसे शीघ्र ही उद्धार कर देता हूँ'— भगवान्‌ने यह घोषणा करते हुए आश्वासन दिया है—

ये तु सर्वाणि कर्माणि मयि संन्यस्य मत्पराः।
अनन्येनैव योगेन मां ध्यायन्त उपासते॥
तेषामहं समुद्धर्त्ता मृत्युसंसारसागरात्।
भवामि नचिरात्पार्थ मय्यावेशितचेतसाम्॥

'परंतु जो मेरे परायण रहनेवाले भक्तजन सम्पूर्ण कर्मोंको मुझमें अर्पण करके मुझ सगुणरूप परमेश्वरको ही अनन्य भक्तियोगसे निरन्तर चिन्तन करते हुए भजते है, हे अर्जुन! उन मुझमे चित्त लगानेवाले प्रेमी भक्तोंका मै शीघ्र ही मृत्युरूप संसार-समुद्रसे उद्धार करनेवाला होता हूँ।'

इसके बाद ८ वें श्लोकमें अर्जुनको स्पष्ट आज्ञा दी है कि 'मुझमें मन-बुद्धि लगानेसे मुझको ही प्राप्त होता है—इसमें कोई शङ्का नहीं।' अतः हमलोगोंसे और कुछ भी न बने तो अपने मन-बुद्धि भगवान्‌में निरन्तर लगें—इसके लिये विशेष प्रयत्न करना चाहिये।

तेरहवें अध्यायसे अठारहवें अध्यायतक ज्ञानयोगका जितना वर्णन हुआ है, उतना अन्य अध्यायोंमें नहीं; इसलिये इस षट्कको ज्ञानयोगप्रधान भी कह सकते है। फिर भी ज्ञानके साधनके रूपमें भेदोपासनाका विषय भी आया है। तेरहवे अध्यायके १० वें श्लोकमें कहा है—

मयि चानन्ययोगेन भक्तिरव्यभिचारिणी।
विविक्तदेशसेवित्वमरतिर्जनसंसदि ॥

'मुझ परमेश्वरमें अनन्य योगके द्वारा अव्यभिचारिणी भक्ति तथा एकान्त और शुद्ध देशमे रहनेका स्वभाव और विषयासक्त मनुष्योंके समुदायमे प्रेमका न होना।'

उपर्युक्त अनन्य भक्तिके साधनसे ज्ञानकी प्राप्ति होकर सच्चिदानन्द परमात्माकी प्राप्ति सहजमें ही हो सकती है।

चौदहवें अध्यायके २६वें श्लोकमें गुणातीत होनेंका उपाय बतलाते हुए स्वयं भगवान् कहते हैं—

मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते।
स गुणान्समतीत्यैतान्ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥

'जो पुरुष अव्यभिचारी भक्तियोगके द्वारा मुझको निरन्तर भजता

है, वह भी इन तीनों गुणोंको भलीभाँति लाँघकर सच्चिदानन्दघन ब्रह्मको प्राप्त होनेके लिये योग्य बन जाता है ।'

इससे स्पष्ट हो गया कि उपर्युक्त भक्तियोगके साधनसे मनुष्य तीनों गुणोंसे अतीत होकर परमात्माकी प्राप्तिके लिये समर्थ हो जाता है । अतएव ज्ञानयोगके अध्यायोमे भी हमको साधनके रूपमें अनन्य भक्तियोग यानी भेदोपासनाका उल्लेख मिलता है । अर्जुनके पूछनेपर गुणातीतके उपायमे भी भक्तिका साधन भगवान्ने बतलाया, अतः ज्ञानयोगके साधकोको भी ज्ञानयोगकी सिद्धि होनेके लिये भगवान्की अनन्य भक्ति करनी चाहिये । अनन्य भक्तिसे केवल ज्ञानयोगकी ही सिद्धि नहीं होती, मनुष्य गुणातीत होकर अभेदरूपसे सच्चिदानन्दघन ब्रह्मको भी प्राप्त कर सकता है ।

पंद्रहवें अध्यायमे तो परम पदकी प्राप्तिके लिये भगवान्की भक्तिको मुख्य बतलाया है । इस अध्यायके चौथे श्लोकने—

तमेव चाद्यं पुरुषं प्रपद्ये यतः प्रवृत्तिः प्रसृता पुराणी ॥

'जिस परमेश्वरसे इस पुरातन संसार-वृक्षकी प्रवृत्ति विस्तारको प्राप्त हुई है, उसी आदिपुरुष नारायणके मै शरण हूँ ।'

—इस प्रकार साधकको उपासना करनेके लिये कहा गया है एवं आगे उन समग्ररूप पुरुषोत्तम भगवान्का और भी विशद प्रभाव बतलाकर नित्य-निरन्तर सब प्रकारसे उनकी उपासना करनेके लिये कहा गया है । भगवान्ने कहा है—

यो मामेवमसम्मूढो जानाति पुरुषोत्तमम् ।
स सर्वविद्भजति मां सर्वभावेन भारत ॥

'हे भारत ! जो ज्ञानी पुरुष मुझको इस प्रकार तत्त्वसे पुरुषोत्तम जानता है, वह सर्वज्ञ पुरुष सब प्रकारसे निरन्तर मुझ वासुदेव परमेश्वरको ही भजता है ।'

इससे यह सिद्ध हुआ कि जो भगवान्‌को पुरुषोत्तम समझता है, उसकी यह कसौटी है कि वह फिर सब प्रकारसे भगवान्‌को ही भजता है । अतएव हमलोगोंको 'भगवान्‌से बढ़कर कोई नहीं है'— यह बात तत्त्वसे समझनी चाहिये । इसे समझना बहुत ही आवश्यक है ।

सोलहवें अध्यायमें प्रधानतासे भक्तिका वर्णन नहीं है, फिर भी गीताके नवें अध्यायके १३वें श्लोकमें जो यह बताया गया था कि दैवीसम्पदावाले महात्माजन भगवान्‌को अनन्यमनसे भजते हैं, तदनुसार सोलहवें अध्यायके प्रारम्भमें तीन श्लोकोंमें दैवीसम्पदाका वर्णन किया है । इतना ही नहीं, पहले श्लोकमें आये हुए 'ज्ञानयोगव्यवस्थिति' शब्दका 'परमात्माके ध्यानमें निरन्तर दृढ़ स्थिति' यह अर्थ लिया जा सकता है तथा 'स्वाध्याय' शब्द भी भगवत्-प्राप्तिविषयक शास्त्रोंका और नामके कीर्तनका द्योतक है । इसलिये इन श्लोकोंसे भगवान्‌की भक्तिका भाव लिया जा सकता है ।

सतरहवें अध्यायमें २३वेंसे २७वें श्लोकतक भगवान्‌के ॐ, तत्, सत्—इन तीन नामोंका कथन किया गया है; और इनका प्रयोग किन-किन विषयोंमें किया जाता है, इसका उल्लेख करते हुए भगवान्‌के नामका उच्चारण करके ही सम्पूर्ण कर्मोंके आरम्भकी तथा भगवान्‌के लिये ही कर्मोंके करनेकी बात कहकर भगवान्‌की भेदोपासनाका ही वर्णन किया है ।

अठारहवें अध्यायमें तो कर्मयोग, भक्तियोग और ज्ञानयोग आदि सभी साधनोंका वर्णन है । ४६वें श्लोकमे अपने कर्मोंके द्वारा भगवान्‌को पूजनेसे परम सिद्धिकी प्राप्ति बतायी गयी है तथा ५६वेंमें भगवान्‌ने स्पष्ट कहा है कि 'मेरी शरण होकर जो कर्म करता है, वह मेरी कृपासे शाश्वत अविनाशी पदको प्राप्त होता है ।' इस प्रकार कहकर स्वयं भगवान् अर्जुनको अपने परायण होनेके लिये आज्ञा देते हैं—

चेतसा सर्वकर्माणि मयि संन्यस्य मत्परः ।
बुद्धियोगमुपाश्रित्य मच्चित्तः सततं भव ॥

'सब कर्मोंको मनसे मुझमे अर्पण करके तथा समबुद्धिरूप योगको अवलम्बन करके मेरे परायण और निरन्तर मुझमे चित्त-वाला हो ।'

इतना ही नहीं, नवें अध्यायके ३४वें श्लोककी भाँति इस अध्यायके ६५वें श्लोकमे शरणका प्रकार बतलाकर ६६वें श्लोकमें अर्जुनको 'तू एकमात्र मेरी शरण हो जा'—यह बात स्पष्ट शब्दोंमें भगवान् कहते हैं—

सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज ।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ॥

'सम्पूर्ण धर्मोंको अर्थात् सम्पूर्ण कर्तव्यकर्मोंको मुझमें त्यागकर (समर्पणकर) तू केवल एक मुझ सर्वशक्तिमान्, सर्वाधार, परमेश्वर-की ही शरणमे आ जा । मै तुझे सम्पूर्ण पापोसे मुक्त कर दूँगा, तू शोक मत कर ।'

यह भगवान्‌का अर्जुनके लिये सर्वोपरि अन्तिम उपदेश है। अतः हमलोगोंको गीताके अठारहवें अध्यायके ६५वें और ६६वें श्लोकोंके अनुसार सब प्रकारसे भगवान्‌की शरण होना चाहिये। यही सगुण भगवान्‌की भेद-उपासना है। इसीका नाम भक्तियोग है। अर्जुनके प्रति भगवान्‌ने गीतामें स्थान-स्थानपर इस अनन्य भक्तिरूप उपासनाका साधन करनेके लिये कहा है।

अभेदोपासना

ऊपर गीतामें भेदोपासनाका वर्णन बताया गया; अब अभेदोपासनाका दिग्दर्शन कराया जाता है। यह अभेदोपासना भी बहुत उच्च कोटिकी वस्तु है। भेदोपासना और अभेदोपासना—यह दो प्रकारकी निष्ठा अधिकारी-भेदके अनुसार भगवान्‌ने गीतामें अलग-अलग बतलायी है। कोई-कोई आचार्य अभेदोपासनाका सभी अध्यायोंमें दिग्दर्शन कराते हैं, किंतु हमारी धारणामें सभी अध्यायोंमें इसका स्पष्ट वर्णन नहीं प्रतीत होता। इस अभेदोपासनाका गीतामें 'सांख्ययोग', 'संन्यास' और 'ज्ञानयोग' के नामसे भी वर्णन किया गया है।

दूसरे अध्यायके ११वें श्लोकसे ३०वेंतक सांख्ययोगके नामसे इस अद्वैतवादका वर्णन किया गया है। भगवान् कहते हैं—

नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः।
उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभिः॥

(२। १६)

'असत् वस्तुकी तो सत्ता नहीं है और सत्‌का अभाव नहीं है। इस प्रकार इन दोनोंका ही तत्त्व तत्त्वज्ञानी पुरुषोंद्वारा देखा गया है।'

इस श्लोकसे दो पदार्थ माने गये—एक सत्, दूसरा असत्। इस प्रकरणमे देहीको आत्मा तथा नित्य, सत्य, अक्रिय, निर्विकार कहा गया है तथा देहको नाशवान् और अन्तवत्। इस प्रकार आत्मा नित्य, अचल, निर्विकार होनेसे 'सत्' है और देह विनाशशील, क्षणिक, अनित्य होनेसे 'असत्' है—यही निर्णय किया गया है। यहाँ आत्मा और परमात्माका अलग वर्णन न होनेसे अभेद प्रतीत होता है। ज्ञानके सिद्धान्तमे आत्मा और परमात्मा दो पदार्थ नहीं हैं। गीताके अठारहवे अध्यायके २०वें श्लोकमे सात्त्विक ज्ञानका लक्षण बतलाते हुए भगवान्ने यही भाव दिखलाया है—

सर्वभूतेषु येनैकं भावमव्ययमीक्षते।
अविभक्तं विभक्तेषु तज्ज्ञानं विद्धि सात्त्विकम्॥

'जिस ज्ञानसे मनुष्य पृथक्-पृथक् सब भूतोमे एक अविनाशी परमात्मभावको विभागरहित समभावसे स्थित देखता है, उस ज्ञानको तो तू सात्त्विक जान।'

तीसरे अध्यायके तीसरे श्लोकमे भगवान्ने बतलाया है—

लोकेऽस्मिन्द्विविधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता मयानघ।
ज्ञानयोगेन सांख्यानां कर्मयोगेन योगिनाम्॥

'हे निष्पाप! इस लोकमे दो प्रकारकी निष्ठा मेरे द्वारा पहले कही गयी है। उनमेंसे सांख्ययोगियोंकी निष्ठा तो ज्ञानयोगसे और योगियोंकी निष्ठा कर्मयोगसे होती है।'

यहाँ जो यह कहा कि 'सांख्यसिद्धान्तको माननेवालेके लिये ज्ञानयोगके द्वारा इस निष्ठाका पहले वर्णन कर दिया गया'—इस

कथनसे दूसरे अध्यायके ११वेंसे ३०वें तकके श्लोकोंका ही लक्ष्य है। तथा इस तीसरे अध्यायके १७वें श्लोकमें अभेदरूपसे सच्चिदानन्दघन परमात्माको प्राप्त पुरुषके लक्षण बतलाते हुए भगवान् कहते हैं—

यस्त्वात्मरतिरेव स्यादात्मतृप्तश्च मानवः।
आत्मन्येव च संतुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यते॥

'परंतु जो मनुष्य आत्मामें ही रमण करनेवाला और आत्मामें ही तृप्त तथा आत्मामें ही संतुष्ट हो, उसके लिये कोई कर्तव्य नहीं है।'

एवं २८वें श्लोकमें कहा है—

तत्त्ववित्तु महाबाहो गुणकर्मविभागयोः।
गुणा गुणेषु वर्तन्त इति मत्वा न सज्जते॥

'परंतु हे महाबाहो! गुणविभाग और कर्मविभागके तत्त्वको जाननेवाला ज्ञानयोगी सम्पूर्ण गुण ही गुणोंमें बरत रहे हैं, ऐसा समझकर उनमें आसक्त नहीं होता।'

यहाँ तत्त्ववेत्ताको अकर्ता बतलाकर ज्ञानयोगका ही वर्णन किया गया है।

चौथे अध्यायके २४ वें श्लोकमें 'जो भी कुछ है, सब ब्रह्म ही है'—इस अभेदोपासनाके भावसे यज्ञको उपलक्ष्य करके सबमें ब्रह्मबुद्धि करनेके लिये कहा गया है। भगवान् कहते हैं—

ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम्।
ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्मकर्मसमाधिना॥

'जिस यज्ञमें अर्पण अर्थात् स्रुवा आदि भी ब्रह्म है और हवन

किये जाने योग्य द्रव्य भी ब्रह्म है तथा ब्रह्मरूप कर्ताके द्वारा ब्रह्मरूप अग्निमें आहुति देनारूप क्रिया भी ब्रह्म है—उस ब्रह्मकर्ममें स्थित रहनेवाले योगीद्वारा प्राप्त किये जाने योग्य फल भी ब्रह्म ही है ।'

तथा २५ वें श्लोकके उत्तरार्द्धमें कहा गया है—

ब्रह्माग्नावपरे यज्ञं यज्ञेनैवोपजुह्वति ॥

'अन्य योगीजन परब्रह्म परमात्मारूप अग्निमे अभेद-दर्शनरूप यज्ञके द्वारा ही आत्मरूप यज्ञका हवन किया करते है ।'

यहाँ आत्माको परमात्मामें हवन करनेकी बात कहकर यह बात दिखलायी गयी है कि कितने ही सच्चिदानन्दघन परमात्मामें अपनी आत्माको विलीन करते है अर्थात् अभेदरूपसे ब्रह्मको प्राप्त हो जाते है ।

इस प्रकार यहाँ जीवात्मा और परमात्माकी एकताका वर्णन किया गया है ।

चौथे अध्यायके ३४ वें और ३५ वें श्लोकोंमे भगवान् अभेद-ज्ञानकी प्राप्तिके लिये ज्ञानी महात्माके पास जानेकी प्रेरणा करते हैं—

तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया ।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः ॥
यज्ज्ञात्वा न पुनर्मोहमेवं यास्यसि पाण्डव ।
येन भूतान्यशेषेण द्रक्ष्यस्यात्मन्यथो मयि ॥

'उस ज्ञानको तू तत्त्वदर्शी ज्ञानियोंके पास जाकर समझ । उनको भलीभाँति दण्डवत्-प्रणाम करनेसे, उनकी सेवा करनेसे और कपट छोड़कर सरलतापूर्वक प्रश्न करनेसे वे परमात्मतत्त्वको भलीभाँति

जाननेवाले ज्ञानी महात्मा तुझे उस तत्त्वज्ञानका उपदेश करेंगे, जिसको जानकर फिर तू इस प्रकार मोहको नहीं प्राप्त होगा तथा हे अर्जुन ! जिस ज्ञानके द्वारा तू सम्पूर्ण भूतोंको निःशेषभावसे पहले अपनेमे और पीछे मुझ सच्चिदानन्दघन परमात्मामे देखेगा ।'

अतः जो ज्ञानयोगके अधिकारी है, जिनकी ज्ञानयोगमें श्रद्धा और रुचि है, उन पुरुषोको ज्ञानी महात्माओके पास जाकर, ज्ञान-योगका तत्त्व-रहस्य समझकर उसके अनुसार साधन करना चाहिये ।

पाँचवें अध्यायके ८ वें, ९ वें और १३ वें श्लोकोंमे व्यवहार-कालमें सांख्ययोगका साधन किस प्रकार करना चाहिये, यह बात बतलानेके लिये तत्त्ववेत्ता सांख्ययोगीके लक्षण बताये गये है । तथा १७ वें श्लोकमे एकान्त देशमे स्थित होकर ज्ञानयोगी ध्यानावस्थामे किस प्रकारसे उपासना करता है, यह बात बतलायी गयी है । वहाँ मन, बुद्धि और आत्माको सच्चिदानन्दघन ब्रह्ममे तद्रूप करनेके लिये कहकर अपुनरावृत्तिरूप सच्चिदानन्दघनकी प्राप्ति बतायी गयी है—

तद्बुद्धयस्तदात्मानस्तन्निष्ठास्तत्परायणाः ।
गच्छन्त्यपुनरावृत्तिं ज्ञाननिर्धूतकल्मषाः ॥

'जिनका मन तद्रूप हो रहा है, जिनकी बुद्धि तद्रूप हो रही है और सच्चिदानन्दघन परमात्मामे ही जिनकी निरन्तर एकीभावसे स्थिति है, ऐसे तत्परायण पुरुष ज्ञानके द्वारा पापरहित होकर अपुनरावृत्तिको अर्थात् परमगतिको प्राप्त होते है ।'

२४ वें श्लोकमें ब्रह्मके स्वरूपमे स्थित आत्माराम तथा आत्मामे

ही आनन्द और ज्ञानरूप ज्योतिके अनुभव करनेवाले सांख्ययोगीको निर्वाणब्रह्मकी प्राप्ति बतायी गयी है ।

योऽन्तःसुखोऽन्तरारामस्तथान्तर्ज्योतिरेव यः ।
स योगी ब्रह्मनिर्वाणं ब्रह्मभूतोऽधिगच्छति ॥

'जो पुरुष अन्तरात्मामे ही सुखवाला है, आत्मामे ही रमण करनेवाला है तथा जो आत्मामें ही ज्ञानवाला है, वह सच्चिदानन्दघन परब्रह्म परमात्माके साथ एकीभावको प्राप्त सांख्ययोगी शान्त ब्रह्मको प्राप्त होता है ।'

यहाँ 'ब्रह्मभूत' शब्द अभेदोपासनाका वाचक है ।

२५ वे और २६ वे श्लोकोमे भी सच्चिदानन्दघन निर्गुण-निराकारके साधनसे निर्वाण ब्रह्मकी प्राप्ति बतलायी गयी है । पाँचवे अध्यायमे और भी कई जगह निराकारकी उपासनासे परब्रह्मकी प्राप्तिका वर्णन है ।

छठे अध्यायके १८ वेसे २६ वे श्लोकतक व्यवहारकालमे तथा एकान्तकालमे निर्गुण-निराकारकी अभेद-उपासनाका प्रकरण है । तथा २७ वे और २८ वें श्लोकोंमे सच्चिदानन्दघन ब्रह्ममे एकीभावसे स्थित ज्ञानयोगी पुरुषको अनायास ही अनन्त आनन्दरूप परब्रह्म परमात्माकी प्राप्तिका उल्लेख है । इसका साधन बताते हुए २९ वेमें उस समदर्शी योगयुक्तात्मा पुरुषके लिये सारे भूतोंको अपने आत्माके अंदर संकल्पके आधार तथा सारे भूतोंमे अपने आत्माको बर्फमे जलके सदृश व्यापक देखनेको कहा गया है ।

सातवे अध्यायसे बारहवेतक तो भेदोपासनाकी प्रधानता है ।

इन अध्यायोंमें अभेदोपासनाविषयक श्लोक बहुत ही कम हैं, फिर भी, सातवे अध्यायके १९ वे श्लोकमे वर्णित सिद्ध पुरुषके लक्षणमें 'जो कुछ है सो परमात्माका ही स्वरूप है'—इस रूपमे अभेदोपासनाका साधन लिया जा सकता है।

बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते।
वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः॥

'बहुत जन्मोके अन्तके जन्मने तत्त्वज्ञानको प्राप्त पुरुष, सब कुछ वासुदेव ही है—इस प्रकार मुझको भजता है, वह महात्मा अत्यन्त दुर्लभ है।'

आठवे अध्यायके २० वे श्लोकमे सबका अभाव होनेपर भी सच्चिदानन्द परब्रह्मका अभाव नहीं होता, इस रूपमें अभेदका वर्णन है।

परस्तस्मात्तु भावोऽन्योऽव्यक्तोऽव्यक्तात्सनातनः।
यः स सर्वेषु भूतेषु नश्यत्सु न विनश्यति॥

'उस अव्यक्तसे भी अति परे दूसरा अर्थात् विलक्षण जो सनातन अव्यक्तभाव है, वह परम दिव्य पुरुष सब भूतोके नष्ट होनेपर भी नष्ट नहीं होता।'

नवे अध्यायके १५ वे श्लोकमें ज्ञानयज्ञके नामसे एकीभावसे अभेद-उपासनाका भी वर्णन किया गया है।

ज्ञानयज्ञेन चाप्यन्ये यजन्तो मामुपासते।
एकत्वेन पृथक्त्वेन बहुधा विश्वतोमुखम्॥

'दूसरे ज्ञानयोगी मुझ निर्गुण-निराकार ब्रह्मका ज्ञानयज्ञके द्वारा अभिन्नभावसे पूजन करते हुए भी मेरी उपासना करते है और

दूसरे मनुष्य बहुत प्रकारसे स्थित मुझ विराट्-स्वरूप परमेश्वरकी पृथक् भावसे उपासना करते है ।'

दसवे अध्यायमे विभूतिका प्रकरण समाप्त करते हुए ३९ वें श्लोकमें भगवान्‌ने बतलाया है कि 'मुझ परमात्माके सिवा अन्य चर-अचर कोई भी पदार्थ नहीं है यानी सब कुछ मेरा ही स्वरूप है'—इस रूपमे अभेदकी झलक है ।

इसी प्रकार ग्यारहवे अध्यायमें स्तुति करते हुए अर्जुन ३७ वे श्लोकमे कहते है कि 'सत्, असत् और इससे भी परे जो कुछ है सो आप ही है' तथा ४० वेमे भी 'हे सर्वरूप परमात्मन् ! आप सारे संसारको व्याप्त किये हुए है, अतः सब कुछ आप ही है ।' अर्जुनकी इस स्तुतिमे 'सब कुछ आप ही है' इस प्रकारके भावसे भी अभेदकी झलक है, किंतु स्पष्टरूपसे अभेदोपासनाका वर्णन नहीं है ।

बारहवे अध्यायके तीसरे, चौथे श्लोकोमे निर्गुण-निराकार सच्चिदानन्दघन ब्रह्मके स्वरूपका वर्णन करके उसकी अभेद-उपासनासे परमात्माकी प्राप्ति बतलायी गयी है तथा पाँचवेमे देहाभिमानियोके लिये अभेद-उपासनाके द्वारा उस निर्गुण-निराकार ब्रह्मकी प्राप्तिको कठिन बतलाया गया है ।

तेरहवें अध्यायमे सांख्ययोग यानी ज्ञानयोगका वर्णन विशेषरूपसे आया है; ११ वे श्लोकमे 'अध्यात्मज्ञाननित्यत्वम्' अर्थात् 'अध्यात्म-ज्ञानमे नित्य स्थिति'से अभेद-उपासनाका साधन बतलाकर १२ वेंमे—

अनादिमत्परं ब्रह्म न सत्तन्नासदुच्यते ॥

अर्थात् 'वह अनादिवाला परम ब्रह्म न सत् ही कहा जाता है,

न असत् ही,' इससे उस अकथनीयस्वरूप निर्गुण-निराकार परब्रह्म परमात्माके स्वरूपका कथन किया गया है। १५वेंमें कहा गया है—

बहिरन्तश्च भूतानामचरं चरमेव च।

'वह परमात्मा चराचर सब भूतोंके बाहर-भीतर परिपूर्ण है और चर-अचररूप भी वही है।'

इस प्रकार यहाँ सर्वरूपमें अभेद-उपासनाका वर्णन है। १६वेंमें—

अविभक्तं च भूतेषु विभक्तमिव च स्थितम्।

'वह परमात्मा विभागरहित एक रूपसे आकाशके सदृश परिपूर्ण होनेपर भी चराचर सम्पूर्ण भूतोंमें विभक्त-सा स्थित प्रतीत होता है।'

—इस कथनसे घटाकाश और महाकाशकी भाँति जीवात्मा और परमात्माकी एकताका प्रतिपादन किया गया है। तथा २७वे श्लोकमें 'सारे भूतोंके नाश होनेपर भी उस परमात्माका नाश नहीं होता' इस कथनसे यह भाव व्यक्त किया गया है कि 'सबके अभाव होनेपर भी एक सच्चिदानन्दघन परब्रह्म परमात्मा रह जाता है' इस प्रकार यहाँ अभेद-उपासनाका दिग्दर्शन कराया गया है। भगवान् कहते हैं—

समं सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्तं परमेश्वरम्।
विनश्यत्स्वविनश्यन्तं यः पश्यति स पश्यति॥

'जो पुरुष नष्ट होते हुए सब चराचर भूतोंमें परमेश्वरको नाशरहित और समभावसे स्थित देखता है, वही यथार्थ देखता है।'

२८ वेंमें समभावसे देखनेका फल, २९ वेंमें आत्माको अकर्ता देखनेवालेकी महिमा, ३० वेंमें परमात्मा ही इस सम्पूर्ण जगत्के

निमित्त और उपादान कारण है यानी जो कुछ है सो ब्रह्म ही है— यह बतलाकर इस प्रकारके साधनका फल अभेदरूपसे ब्रह्मकी प्राप्ति बतलाया गया है। भगवान् कहते है—

यदा भूतपृथग्भावमेकस्थमनुपश्यति।
तत एव च विस्तारं ब्रह्म सम्पद्यते तदा॥

'जिस क्षण यह पुरुष भूतोंके पृथक्-पृथक् भावको एक परमात्मामें ही स्थित तथा उस परमात्मासे ही सम्पूर्ण भूतोंका विस्तार देखता है, उसी क्षण वह सच्चिदानन्दघन ब्रह्मको प्राप्त हो जाता है।'

इसी प्रकार इस अध्यायके अन्य श्लोकोंमें भी निर्गुण-निराकार ब्रह्मकी अभेदोपासनाका वर्णन है। अन्तिम ३४ वें श्लोकमे उपर्युक्त साधनका वर्णन करते हुए उसका फल अभेदरूपसे परब्रह्म परमात्माकी प्राप्ति बतलाया गया है।

चौदहवे अध्यायके प्रारम्भमे ही प्रथम श्लोकमें ज्ञानोंमे उत्तम ज्ञान कहनेकी प्रतिज्ञा करके उसके जाननेका फल परब्रह्म परमात्माकी प्राप्तिरूप परम सिद्धि बतलाया गया है तथा १९ वें श्लोकमे आत्माको द्रष्टा-साक्षी कहकर गुणोंसे रहित उस परमात्माको तत्त्वसे जाननेका फल परमात्माके स्वरूपकी प्राप्ति बताया गया है। यह उपासना सच्चिदानन्दघन परब्रह्म परमात्मामे एकीभावसे स्थित होकर व्यवहारकालमे की जाती है। एवं २० वे श्लोकमे इसीका फल 'अमृत' के नामसे परमानन्दस्वरूप परमात्माकी प्राप्ति बताया गया है।

पंद्रहवें अध्यायके १० वें श्लोकमे जो बताया गया कि 'ज्ञानीजन ज्ञानचक्षुसे इस आत्माका साक्षात्कार करते हैं'

इससे यहाँ अभेदभावसे आत्माके साक्षात्कारका लक्ष्य है ।

सोलहवें अध्यायके पहले श्लोकमें 'ज्ञानयोगव्यवस्थितिः' का अर्थ भक्तिकी दृष्टिसे 'परमात्माके ध्यानमें दृढ़ स्थिति' ऐसा लिया है, किंतु वहाँ 'ज्ञानयोग' शब्द होनेके कारण अभेदकी दृष्टिसे 'ज्ञानयोग यानी सांख्ययोगमें दृढ़ स्थिति' ऐसा अर्थ भी ले सकते हैं । वास्तवमें सोलहवें अध्यायका प्रकरण प्रधानतया भेद या अभेद किसी उपासनाके लक्ष्यसे नहीं है । वहाँ तीन श्लोकोंमें धारण करनेके लिये दैवी सम्पदाका विस्तारसे वर्णन है तथा चौथेमें आसुरी सम्पदा त्याग करनेके उद्देश्यसे संक्षेपमें कही गयी है । इस विषयमें ५ वें श्लोकमें भगवान्‌ने कहा है—

दैवी सम्पद्विमोक्षाय निबन्धायासुरी मता ।
मा शुचः सम्पदं दैवीमभिजातोऽसि पाण्डव ॥

'दैवी सम्पदा मुक्तिके लिये और आसुरी सम्पदा बाँधनेके लिये मानी गयी है । इसलिये हे अर्जुन ! तू शोक मत कर, क्योंकि तू दैवी सम्पदाको लेकर उत्पन्न हुआ है ।'

इसके बाद छठे श्लोकसे २१ वेंतक आसुरी सम्पदाका विस्तारसे वर्णन किया है ।

सतरहवें अध्यायमें प्रधानतया श्रद्धाका ही प्रकरण है, इसलिये वहाँ अभेद-उपासनाका वर्णन प्रतीत नहीं होता ।

अठारहवें अध्यायमें अभेदोपासनाका विस्तारसे वर्णन है । इसमें १३ वेंसे लेकर ४० वें श्लोकतक सांख्ययोगकी दृष्टिसे कर्मोंके हेतुओंका और आत्माके अकर्तापनका तथा ज्ञान, कर्म, कर्ता आदिके सात्त्विक,

राजस, तामस भेदोंका प्रतिपादन किया गया है। जिसमे १६ वेंमे शुद्ध आत्माको कर्ता माननेवालेकी निन्दा करके १७ वेमे कर्तापनके अभिमानसे रहित पुरुषको निर्दोष बतलाया गया है और २० वें श्लोकमे आत्मा और परमात्माकी एकताका वर्णन है। २३ वे और २६ वेमे सात्त्विक कर्म और सात्त्विक कर्ताका लक्षण करते हुए ज्ञानयोगकी दृष्टिसे कर्तापनके अभिमानका अभाव बतलाया गया है।

इसी अध्यायके ४९ वें श्लोकमें 'संन्यास'के नामसे सांख्ययोगके साधनद्वारा परम नैष्कर्म्यसिद्धिरूप परब्रह्म परमात्माकी प्राप्तिका वर्णन किया गया है तथा ५० वेंमें किस प्रकार अभेदरूपसे उपासना करनेसे परब्रह्म परमात्माकी प्राप्ति होती है, इसका 'ज्ञानकी परानिष्ठा' के नामसे वर्णन करके ५१ वेंसे ५५ वें तक उस ज्ञानकी परानिष्ठाका संक्षेपमें किंतु स्पष्टरूपसे वर्णन किया गया है। यहाँ सांख्ययोगकी दृष्टिसे सच्चिदानन्द ब्रह्मकी अभेदोपासनाका वर्णन है। भगवान् कहते हैं—

बुद्ध्या विशुद्धया युक्तो धृत्यात्मानं नियम्य च।
शब्दादीन्विषयांस्त्यक्त्वा रागद्वेषौ व्युदस्य च॥
विविक्तसेवी लघ्वाशी यतवाक्कायमानसः।
ध्यानयोगपरो नित्यं वैराग्यं समुपाश्रितः॥
अहंकारं बलं दर्पं कामं क्रोधं परिग्रहम्।
विमुच्य निर्ममः शान्तो ब्रह्मभूयाय कल्पते॥
ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न काङ्क्षति।
समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम्॥
भक्त्या मामभिजानाति यावान्यश्चास्मि तत्त्वतः।
ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम्॥

'विशुद्ध बुद्धिसे युक्त तथा हल्का, सात्त्विक और नियमित भोजन करनेवाला, शब्दादि विषयोंका त्याग करके एकान्त और शुद्ध देशका सेवन करनेवाला, सात्त्विक धारणाशक्तिके द्वारा अन्त:करण और इन्द्रियोंका संयम करके मन, वाणी और शरीरको वशमे कर लेनेवाला, राग-द्वेषको सर्वथा नष्ट करके भलीभाँति दृढ़ वैराग्यका आश्रय लेनेवाला तथा अहंकार, बल, घमंड, काम, क्रोध और परिग्रहका त्याग करके निरन्तर ध्यानयोगके परायण रहनेवाला ममतारहित और शान्तियुक्त पुरुप सच्चिदानन्द ब्रह्ममें अभिन्नभावसे स्थित होनेका पात्र होता है। फिर वह सच्चिदानन्दघन ब्रह्ममें एकीभावसे स्थित, प्रसन्न मनवाला योगी न तो किसीके लिये शोक करता है और न किसीकी आकाङ्क्षा ही करता है। ऐसा समस्त प्राणियोमें समभाववाला योगी मेरी पराभक्तिको प्राप्त हो जाता है। उस पराभक्तिके द्वारा वह मुझ परमात्माको, मै जो हूँ और जितना हूँ,—ठीक वैसा-का-वैसा तत्त्वसे जान लेता है तथा उस भक्तिसे मुझको तत्त्वसे जानकर तत्काल ही मुझमें प्रविष्ट हो जाता है।'

ऊपर गीतोक्त भेद और अभेद उपासनाका जो वर्णन किया है, उससे पाठकोंको यह शिक्षा लेनी चाहिये कि ये दोनों प्रकारकी निष्ठाएँ अधिकारी-भेदसे बतलायी गयी है (गीता ३।३)। ये दोनों ही श्रेष्ठ है; अन्तिम फल दोनोंका एक ही है (गीता ५। ४-५ तथा १३।२४) और वह फल अनिर्वचनीय है। उसे इयत्ता करके किसी प्रकार भी नहीं कहा जा सकता। जो उसको प्राप्त होता है, वह भी वाणीके द्वारा उसे नहीं कह सकता; क्योंकि वह अनुभवरूप है। जिसकी श्रद्धा-रुचि भक्तिभावमें है, वह भेद-

उपासनाका अधिकारी है तथा जिसकी श्रद्धा-रुचि ज्ञानमार्गमें है, वह अभेद-उपासनाका अधिकारी है।

जिस उपासनामें साधनकालमें भेद और फलमें अभेद है, वह वास्तवमें अभेद-उपासना ही है (जैसे गीता १४ । २६)। जो साधनमें अभेद है और फलमे भी अभेद है, वह तो सांख्ययोगका साधन है ही (जैसे गीता ४ । ३४-३५)। परंतु जो साधनमें भेद है और फलमे भी भेद है, वह भेदोपासना है (जैसे गीता १८ । ६५-६६)। कहीं साधन-कालमे भेद-उपासना है; किंतु उसका फल भेद और अभेद दोनों बतलाया गया है; जैसे ग्यारहवे अध्यायके ५४ वे श्लोकमे अनन्य भक्तिका फल भगवान्‌के दर्शन, ज्ञान और अभेदरूपसे परमात्माकी प्राप्ति भी बतलाया गया है। अतः गम्भीरतासे विचार करनेपर उपासनाका विषय गीतामे सभी प्रकारसे मिलता है—कहीं ज्ञानप्रधान भक्ति (१३ । १०) और कहीं भक्तिप्रधान ज्ञान (१४ । २६) तथा कहीं केवल भक्ति (१२ । ६-७) एवं कहीं केवल ज्ञान (६ । २७, २८, २९)।

इसलिये जिस साधककी जिस उपासनामें श्रद्धा हो, उसके लिये वही सर्वोत्तम है। उसीको तत्परताके साथ करना चाहिये। कोई भी साधन हो, सभीमें परमात्माके नामका जप और स्वरूपका ध्यान अवश्य रहना चाहिये तथा वह श्रद्धापूर्वक निष्कामभावसे निरन्तर होना चाहिये। इस प्रकार होनेसे परमात्माकी प्राप्ति सुगम और शीघ्र हो सकती है।

प्रकृति-पुरुष-विचार

किसी भाईका प्रश्न है कि 'सत्त्व, रज, तम—ये तीनों गुणमय पदार्थ प्रकृतिसे किस प्रकार उत्पन्न होते है और प्रकृतिको कर्ता तथा पुरुषको भोक्ता किस कारणसे बताया गया है ? इसके उत्तरमें निम्नलिखित निवेदन है । भगवान्‌ने श्रीमद्भगवद्गीतामें कहा है—

प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्ध्यनादी उभावपि ।
विकारांश्च गुणांश्चैव विद्धि प्रकृतिसम्भवान् ॥

(१३ । १९)

'प्रकृति और पुरुष इन दोनोंको ही तू अनादि जान और राग-द्वेषादि विकारोंको तथा त्रिगुणात्मक सम्पूर्ण पदार्थोंको भी प्रकृतिसे ही उत्पन्न जान ।' इसमें विकारों और गुणोंको प्रकृतिसे उत्पन्न बतलाया है । अतः पहले यह जानना चाहिये कि 'विकार' कितने है । विकारोके सम्बन्धमें इसी तेरहवें अध्यायके छठे श्लोकमें भगवान्‌ने कहा है—

इच्छा द्वेषः सुखं दुःखं संघातश्चेतना धृतिः ।
एतत्क्षेत्रं समासेन सविकारमुदाहृतम् ॥

'इच्छा, द्वेप, सुख, दुःख, स्थूल देहका पिण्ड, चेतना और धृति—इस प्रकार विकारोके सहित यह क्षेत्र संक्षेपमे कहा गया ।' इसके पूर्वके श्लोक (१३ । ५) मे शरीरके कितने तत्त्व है, वे वतलाये गये है । यहाँ 'क्षेत्र' शरीरका नाम है । अतः ये सब शरीरके विकार है । इनमे इच्छा, द्वेप, सुख, दु.ख, धृति और चेतना—ये हृदयके विकार है । संघात स्थूलदेहका विकार है ।

धृति और चेतना सात्त्विक होनेसे अच्छे विकार हैं। 'इच्छा' रागका कार्य होनेसे एक प्रकारसे राग ही है। ये राग-द्वेष ही सब विकारोंकी जड़ है। अनुकूलतामें होनेवाली वृत्तिका नाम 'राग' है तथा प्रतिकूलतामें होनेवाली वृत्तिका नाम 'द्वेष' है। जो कुछ प्रतिकूल होता है, उसमें द्वेष तथा दुःख होता है, भय तथा ईर्ष्या होती है, प्रतिद्वन्द्विता तथा चिन्ता होती है; इसके अतिरिक्त भी द्वेषके कारण अन्य अनेकों विकार होते है। इसी प्रकार रागके कारण भी हर्ष, काम आदि अनेकों विकार पैदा हो जाते है। इच्छासे भी अनेको विकार पैदा होते है।

सङ्गात्संजायते कामः कामात्क्रोधोऽभिजायते ॥
क्रोधाद्भवति सम्मोहः सम्मोहात्स्मृतिविभ्रमः।
स्मृतिभ्रंशाद्बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति ॥

(गीता २ । ६२-६३)

'आसक्तिसे उन विषयोंकी कामना उत्पन्न होती है और कामनामें विघ्न पड़नेसे क्रोध उत्पन्न होता है। क्रोधसे अत्यन्त मूढभाव उत्पन्न हो जाता है, मूढभावसे स्मृतिमे भ्रम हो जाता है, स्मृतिमे भ्रम हो जानेसे बुद्धि अर्थात् ज्ञानशक्तिका नाश हो जाता है और बुद्धिका नाश हो जानेसे यह पुरुष अपनी स्थितिसे गिर जाता है।'

ये सब राग और इच्छाके ही विकार है। आसक्तिसे कामना होती है, कामनामें आघात पड़नेपर क्रोध होता है, फिर स्मृतिविभ्रम, उससे बुद्धिका नाश एवं बुद्धिके नाशसे सर्वथा पतन हो जाता है। ये सारे विकार इन्हींसे हुए। इसीलिये भगवान्‌ने कहा कि मैंने तुम्हें संक्षेपसे ही 'विकार' बतलाये है। अब दूसरे विषयपर विचार करना चाहिये। भगवान् कहते है—

विकारांश्च गुणांश्चैव विद्धि प्रकृतिसम्भवान् ॥

(१३ । १९)

'विकारोंको और त्रिगुणात्मक सम्पूर्ण पदार्थोंको भी प्रकृतिसे ही उत्पन्न जान ।' सत्त्व, रज, तम—ये तीन गुण है। प्रकृतिसे ही कार्य-करणरूप तीनो गुणोंका विस्तार होता है । महासर्गके आदिमे केवल प्रकृति और पुरुष दो ही रहते है। पुरुष यानी परमात्मा और प्रकृति यानी परमात्माकी शक्ति; अर्थात् शक्ति और शक्तिमान् । इन्हींसे यह सारा संसार उत्पन्न हुआ । गीताके १४ वे अध्यायके तीसरे श्लोकमे यह बात बतलायी है कि महद्ब्रह्म प्रकृति है और मै बीजको देनेवाला पिता हूँ। अतः प्रकृति सबकी मा है और मैं उसमें बीजको छोड़नेवाला पिता हूँ, जिससे कि समस्त संसारकी उत्पत्ति होती है । इस प्रकार त्रिगुणमय सम्पूर्ण पदार्थ प्रकृतिसे ही उत्पन्न होते है ।

महासर्गके आदिमें सृष्टिकी उत्पत्ति होती है और महाप्रलयके समय सारे प्राणी प्रकृतिमे विलीन हो जाते है। उन सब प्राणियोके स्थूल शरीर प्रलयके समय विनष्ट हो जाते हैं । सूक्ष्म शरीरके अभिमानी जीव रहते है, पर उनके सूक्ष्म शरीर भी अपने 'कारण' में विलीन हो जाते है । इस प्रकार महाप्रलयमे सबका विलय हो जाता है । फिर महासर्गके समय इसी प्रकारसे सबकी उत्पत्ति होती है । संसारकी उत्पत्ति और प्रलयके वर्णनमे शास्त्रोंमे कुछ-कुछ भिन्नता दिखायी देती है । महर्षि पतञ्जलिप्रणीत योगशास्त्र एवं भगवान् कपिलदेवद्वारा रचित सांख्यशास्त्रमे जितने पदार्थ बतलाये गये है, उतने ही गीतामे भी बताये गये है । वहाँ सृष्टिकी उत्पत्तिका क्रम इस प्रकार है—प्रकृतिसे महत्तत्त्वकी उत्पत्ति हुई, महत्तत्त्वसे समष्टि अहङ्कारकी,

अहङ्कारसे मन और पञ्च-तन्मात्राओंकी एवं पञ्च-तन्मात्राओसे श्रोत्र, त्वक्, नेत्र, जिह्वा, नासिका, वाक्, पाणि, पाद, उपस्थ और गुदा—इन दस इन्द्रियोंकी और आकाश, वायु, तेज, जल, पृथ्वी—इन पञ्च स्थूल भूतोकी उत्पत्ति हुई। इसी विषयको गीताके १३ वें अध्यायके ५ वे श्लोकमे इस प्रकार बतलाया है—

महाभूतान्यहंकारो बुद्धिरव्यक्तमेव च।
इन्द्रियाणि दशैकं च पञ्च चेन्द्रियगोचराः॥

अर्थात् पाँच महाभूत, छठा अहङ्कार, सातवी बुद्धि, आठवीं मूल प्रकृति (अव्याकृत माया), दस इन्द्रियाँ और एक मन—इस प्रकार आठ और ग्यारह कुल उन्नीस तथा उन इन्द्रियोके पाँच विषय अर्थात् शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध—यों २४ पदार्थ होते है। ये ही चौवीस पदार्थ 'सांख्य' में और 'योग' मे बताये गये है। इनकी उत्पत्तिके क्रममे थोड़ा अन्तर है। इसका कारण यह है कि सृष्टिकी उत्पत्ति सदा एक ही क्रमसे नही हुआ करती। उसमें थोड़ी-बहुत विभिन्नता रहती है। इसीलिये वेदोंमे, श्रीमद्भागवत आदि पुराणोमे, मनुस्मृतिके प्रथमाध्यायमे एवं उपनिषदादिमे जो सृष्टिकी उत्पत्तिका क्रम बतलाया है, उसमें सर्वत्र ही कुछ-न-कुछ विभिन्नता है। पर मूल सिद्धान्त यही है कि प्रकृतिसे ही सब जड पदार्थोंकी उत्पत्ति हुई है। अब यह जानना है कि गीताके सिद्धान्तके अनुसार पदार्थोंकी उत्पत्ति किस प्रकारसे होती है। इसके लिये, यहाँ 'अव्यक्त'से उलटा चक्र चलता है, ऐसा समझना चाहिये—

महाभूतान्यहंकारो बुद्धिरव्यक्तमेव च।
इन्द्रियाणि दशैकं च पञ्च चेन्द्रियगोचराः॥

अव्यक्त सबसे परे है । इस अव्यक्तसे ही सबकी उत्पत्ति होती है। अव्यक्तका अर्थ है 'अव्याकृत माया,'—प्रकृति या ईश्वरकी शक्ति । इस ईश्वरकी शक्तिरूप 'अव्यक्त'को यहाँसे उल्टा चलाइये तो इस प्रकृतिसे बुद्धिकी उत्पत्ति हुई। इस बुद्धिको ही 'समष्टि बुद्धि' या 'महत्तत्त्व' कहते है। 'वेदान्त' 'समष्टि बुद्धि' कहता है तथा 'सांख्य' एवं 'योग' इसे 'महत्तत्त्व' कहते है। इस बुद्धिसे अहङ्कारकी उत्पत्ति हुई और अहङ्कारसे पञ्चमहाभूतादिकी । ये पञ्चमहाभूत पञ्चसूक्ष्ममहाभूत है । ये इन्द्रियों और उनके विषयोके कारण होनेसे उनकी प्रकृति भी है; सांख्यमें भी यही बतलाया गया है कि एक मूल प्रकृति, सात प्रकृति-विकृति और षोडश विकार,—यो सब मिलकर चौबीस होते है । गीतामे प्रकृतिका वर्णन इस तरह आया है—

भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च ।
अहंकार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा ॥

(७।४)

'पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश—ये पाँच सूक्ष्म महाभूत तथा मन, बुद्धि और अहङ्कार भी—इस प्रकार यह आठ प्रकारसे विभाजित मेरी प्रकृति है ।'

यहाँ मूलप्रकृतिका उल्लेख न करके मनका उल्लेख किया है; किंतु मन किसीकी प्रकृति नही है, इसीलिये स्वामी श्रीशङ्कराचार्यजीने यहाँ इस गीताके प्रसङ्गपर मनका अर्थ मन न कर 'अहङ्कार' किया है और बुद्धिका अर्थ 'महत्तत्त्व' तथा अहङ्कारका अर्थ 'अव्याकृत माया' किया है । हमे यहाँ आठोंको प्रकृति समझ लेना चाहिये, क्योकि

भगवान्‌ने इनको 'प्रकृति' कहा है। अतः हमें इस प्रकारसे चलना चाहिये। उल्टे चक्रके हिसाबसे अव्याकृत मायासे बुद्धिकी उत्पत्ति हुई, बुद्धिसे अहङ्कारकी, अहङ्कारसे पञ्चतन्मात्रारूप सूक्ष्मभूतोंकी और एक मनकी। इन पञ्च-सूक्ष्मभूतोंसे दस इन्द्रियोंकी और उसके बाद पाँच विषयोंकी उत्पत्ति हुई। पाँच विषय और दस इन्द्रियोंकी पञ्चसूक्ष्मभूतोंसे उत्पत्ति हुई, इसमें तो मतभेद नहीं है; किंतु मनको कोई पाँच भूतोंसे उत्पन्न मानता है, कोई अहङ्कारसे उत्पन्न मानता है। वेदोंमें, भागवतमें इन पाँच भूतोंकी उत्पत्तिमें अलग-अलग क्रम बतलाया है—आकाशसे वायु, वायुसे तेज, तेजसे जल, जलसे पृथ्वी—इस प्रकार भी क्रम है। इस समस्त क्रमको मानकर विचार करनेपर यही बात सिद्ध होती है कि जब प्रलय होता है, तब पृथ्वी जलमें डूब जाती है, जलको अग्नि सुखा देती है, अग्निको वायु शान्त कर देता है और वायु आकाशमें स्वतः शान्त हो जाता है; रह जाता है आकाश। जब महाप्रलय होता है, तब आकाश तथा पञ्चभूतोंके और भी जितने विकार है, वे सब अहङ्कारमें विलीन हो जाते है और मन भी अहङ्कारमें, अहङ्कार बुद्धि (महत्तत्त्व) में, बुद्धि अव्यक्त मायामें लीन हो जाती है। अव्यक्त माया 'ईश्वरकी शक्ति' है। वह महाप्रलयमें भी विद्यमान रहती है। इसी क्रमसे जब सृष्टि उत्पन्न होती है, तब प्रकृतिसे प्रथम महत्तत्त्वकी यानी समष्टि बुद्धिकी उत्पत्ति होती है। बुद्धिसे समष्टि अहङ्कारकी, अहङ्कारसे मनकी तथा अहङ्कारसे ही पञ्चतन्मात्राओंकी उत्पत्ति होती है। पञ्चतन्मात्राको ही 'सूक्ष्मभूत' कहते है। जब 'सूक्ष्मभूत' कहते है, तब फिर उनसे विषयोंकी उत्पत्ति मान लेनी उचित है। यदि उन पाँच सूक्ष्म विषयोंको

पञ्चतन्मात्रा मानें तो पञ्चभूतोंकी इन तन्मात्रारूप सूक्ष्म विषयोंसे उत्पत्ति माननी चाहिये । 'योगशास्त्र' और 'सांख्यशास्त्र' ऐसा मानते है । इस प्रकारसे इन सबकी उत्पत्ति मानी गयी है । महासृष्टिके आदिमे केवल प्रकृति ही थी । प्रलयके समय समस्त जीवोके स्थूल शरीर 'समष्टि सूक्ष्मप्रकृति' मे विलीन हो जाते है । 'सूक्ष्मप्रकृति' मूलप्रकृतिमे विलीन हो जाती है । यह मूलप्रकृति सबका आयतन है । यही 'समष्टि-कारण-शरीर' है । जैसे एक बादल है और उस बादलमे एक-एक परमाणु है; जैसे वह बादल और बादलके प्रत्येक परमाणु एक ही चीज है, वैसे ही प्रकृति है । वस्तुतः प्रकृतिके परमाणु नहीं होते, केवल समझानेके लिये ही ऐसा कहा गया है । मूलप्रकृतिमे ऐसा अवच्छेद नहीं किया जाता कि जिससे परमाणु माने जायँ । आकाशके भी कोई तो परमाणु मानते है और कोई नहीं मानते । पर आकाशका विभाग तो इस रूपमे किया भी जा सकता है कि जैसे आकाशमे सैकड़ों पक्षी उड़ रहे है, तो उनमेसे प्रत्येकने अपने-अपने आकाशके स्थानमे उतने-उतने आकाशका अंश रोक रक्खा है । समझानेके लिये इसी प्रकार मूलप्रकृतिके लिये भी माना जा सकता है कि जीव मूलप्रकृतिके जिस अंशमे स्थित है, उतना अंश उसका आयतन है, स्थान है या यों कहिये कि उसका कारण-शरीर है । इस प्रकारसे कारण-शरीरसहित 'जीव' प्रकृतिमे रहता है । यदि वह 'कारणशरीर' से रहित हो जाता तो उसे परमात्माकी प्राप्ति हो जाती । परमात्माकी प्राप्ति या मुक्ति इसीलिये नहीं होती कि जीव कारण-शरीरमें स्थित रहता है । 'कारणशरीर' के अंदर ही 'सूक्ष्मशरीर' है और सूक्ष्मशरीरके अंदर समस्त पाप-पुण्य कर्मोके संस्कार है ।

पाप-पुण्यके जो संस्कार भोगनेसे शेष रह जाते है, उन्हींके फल-भोगके लिये ही प्रकृतिमे क्षोभ उत्पन्न होता है। जितने कालतक सृष्टि रहती है, उतने ही कालतक महाप्रलय रहता है। यह नियम है। महाप्रलयके समाप्त होनेके बाद और महासर्गके आदिमे प्रकृतिमे क्षोभ उत्पन्न होता है। उस क्षोभसे हलचल मचती है। हलचल मचनेसे दस कार्य और तेरह करणकी उत्पत्ति होती है। भगवान् कहते है—

कार्यकरणकर्तृत्वे हेतुः प्रकृतिरुच्यते।
पुरुषः सुखदुःखानां भोक्तृत्वे हेतुरुच्यते॥
(गीता १३। २०)

'कार्य और करणको उत्पन्न करनेमे हेतु प्रकृति कही जाती है और पुरुष यानी जीवात्मा सुख-दु.खोके भोक्तापनमे अर्थात् भोगनेमे हेतु कहा जाता है।'

कार्य-करणकी उत्पत्तिमे प्रकृति हेतु कैसे? इस विषयपर तो विवेचन हो चुका। 'कार्य' है दस—आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी, शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध। 'करण' यानी द्वार है तेरह—पाँच कर्मेन्द्रिय, पाँच ज्ञानेन्द्रिय, मन, बुद्धि और अहंकार। इस प्रकार तेरह और दस मिलाकर तेईस होते है। एक 'मूल प्रकृति' को लेकर चौबीस तत्त्व हो जाते है। कुछ सज्जन अन्तःकरणके मन, बुद्धि, चित्त एवं अहंकार—ये चार भेद मानते है, किंतु गीतामे इसके तीन ही भेद बताये गये है। योगशास्त्र तथा सांख्यशास्त्रमे भी तीन भेद बतलाये है। चित्त और मनको एक ही माना गया है। ये जो तेईस पदार्थ है, इन सबका उपादानकारण प्रकृति ही है। इसीलिये यह

कहा गया है कि इनका 'हेतु'—'कारण' प्रकृति है। यह तेईस तत्त्वोंका समूह उसका 'कार्य' है। अब सुख-दुःखोंके भोक्तापनमें हेतु 'पुरुष' है, इसपर विचार करना है।

प्रकृतिमे स्थित जो 'पुरुष' है, वही सुख-दुःखोंका भोक्ता है। वस्तुतः केवल शुद्ध आत्मामें भी भोक्तापन नहीं है और प्रकृतिमे भी भोक्तापन नही है। प्रकृति तो 'जड' है, इसलिये वह भोक्ता नहीं है और केवल आत्मा 'शुद्ध' होनेके कारण उसमे भोक्तापन नही है। भोक्ता है—'जीव'। 'जीव' कहते है प्रकृति और पुरुषकी एकताको। अतः सुख-दुःखोंका भोक्ता है—प्रकृतिके साथ एकात्मताको प्राप्त पुरुष—'पुरुषः प्रकृतिस्थो हि भुङ्क्ते प्रकृतिजान्गुणान्' (१३ । २१)। यहाँ जीवको ही 'पुरुष' कहा है। जो प्रकृतिमे स्थित 'जीव' है, वही सुख-दुःखोंका भोक्ता है; केवल शुद्ध आत्मा नहीं।

पातञ्जल-योगदर्शनमे महर्षि पतञ्जलिने कहा है—'हेयं दुःखमनागतम्' (योग० २ । १६) 'आनेवाले दुःख हेय (त्याज्य) है।' 'अनागत' उन्हें कहते है, जो अभी आये नहीं है। जो दुःख आ चुके है यानी भूतकालके है, उनके त्यागके लिये यहाँ नहीं कहा है; क्योकि वे तो गत हो गये—बीत चुके। वर्तमान क्षणमें जो दुःख है, वह भी एक क्षणमे ही भूत हो जायगा। उसके लिये भी विचार करनेकी आवश्यकता नहीं है। पर जो आनेवाले दुःख है, उनका त्याग करना चाहिये। अब यह शङ्का होती है कि 'अनागत' दुःखोंका हेतु कौन है? तो कहते हैं—'द्रष्टृदृश्ययोः संयोगो हेयहेतुः।'

(योग० २ । १७) 'द्रष्टा और दृश्य यानी चेतन पुरुष और जड प्रकृतिका जो संयोग है—एकात्मता है, वही हेयका हेतु है, उसीसे दुःख होते हैं ।' अतः प्रकृतिस्थ पुरुषको ही सुख-दुःख आकर प्राप्त होते है । अब यह जाननेकी इच्छा हुई कि 'संयोगका हेतु क्या है ? उसका भी तो कोई कारण होना चाहिये ?' इसके उत्तरमें बतलाया— 'तस्य हेतुरविद्या' (योग० २ । २४) 'उसका हेतु अज्ञान है ।' उस अज्ञानका नाश होता है—ज्ञानसे । ज्ञानके उत्पन्न होनेपर अज्ञान-का नाश हो जाता है, अज्ञानका नाश होते ही प्रकृति-पुरुषका सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है और इस प्रकार जब वे अलग हो जाते है, तब सुख-दुःखका भोक्ता कोई नही रहता; क्योकि पुरुप 'कृतकृत्य' हो जाता है । यहाँ यह प्रश्न होता है—'जब पुरुप कृतकृत्य हो जाता है, तब उसके लिये संसार रहता है या नहीं ?' इसपर कहते है— 'कृतार्थं प्रति नष्टमप्यनष्टं तदन्यसाधारणत्वात् ।' (योग० २ । २२) 'कृतकृत्य' पुरुपकी दृष्टिमें प्रकृति नही रहती, अब वह सृष्टि अन्य सर्वसाधारणके लिये होनेसे, जो मुक्त नही है, उनके लिये रहती है । जो कृतार्थ हो गया, उसके लिये यह संसार नहीं है ।

इससे यह सिद्ध हुआ कि प्रकृतिस्थ पुरुप ही सुख-दुःखोंका भोक्ता है । 'भोक्ता कैसे है ?' 'अज्ञानसे ।' इसमें अज्ञान क्या है ? यह मान लेना कि 'यह देह मै हूँ तथा यह देह मेरा है ।' स्वप्ना-वस्थामें स्वप्नद्रष्टा मनुष्य जैसे यह मानता है कि 'शरीर मै हूँ', 'देह मेरा है' आदि; किंतु जागनेपर उसका यह संसार सब समाप्त हो जाता है । तब वह समझता है कि स्वप्नका संसार केवल संकल्पमात्र

था, यथार्थमे कोई वस्तु नही थी । इतना होनेपर भी स्वप्नावस्थामें तो स्वप्नकी वस्तुएँ सत्य ही प्रतीत होती थीं । इसी प्रकार अज्ञाननिद्रामे जगत् सत् दीखता है । अद्वैतसिद्धान्तके अनुसार वास्तवमे देखा जाय तो शरीर भी कल्पित है, 'मै-मेरापन' भी कल्पित है और संसार भी कल्पित है । यह समस्त प्रपञ्च सर्वथा 'कल्पित' है । 'योग' और 'सांख्य'के सिद्धान्तानुसार यह सब जडवर्ग 'परिणामी' है । अन्तःकरणमे जो अज्ञान है, उसीके कारण सुख-दुःखका भोग होता है । 'योग' और 'सांख्य'का कथन है कि वास्तवमे यह शरीर और अन्तःकरण ऐसी चीज नही है, जो कल्पित हो । ये है, पर है परिवर्तनशील—सदा बदलते रहते है, इनसे सम्बन्ध-विच्छेद हो जानेपर आत्मा मुक्त हो जाता है । 'अद्वैतसिद्धान्त' कहता है कि सम्बन्ध-विच्छेद-जैसी कोई वस्तु नही है, यह सर्वथा स्वप्नवत् है, वास्तवमें है ही नही ।

सुख-दुःखका कौन पुरुष भोक्ता है ? इस विषयमे भगवान् कहते हैं—

पुरुषः प्रकृतिस्थो हि भुङ्क्ते प्रकृतिजान्गुणान् ।
कारणं गुणसङ्गोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु ॥

(गीता १३ । २१)

'प्रकृतिमे स्थित ही पुरुष यानी जीवात्मा प्रकृतिसे उत्पन्न त्रिगुणात्मक पदार्थोंको भोगता है और इन गुणोका सङ्ग ही इस जीवात्माके सत्-असत् यानी अच्छी-बुरी योनियोमे जन्म लेनेका कारण है ।'

संगका अभिप्राय है—आसक्ति और संयोग । सत्त्व, रज, तम—ये तीन गुण है । जीवात्माकी इन तीनो गुणोंमे जो प्रीति है और

इनके साथ जो सम्बन्ध है, उसीके अनुसार मरनेपर उसे अच्छी-बुरी योनि मिलती है। जिसकी सत्त्वगुणमें प्रीति और स्थिति होती है, वह ऊपरके लोकोंमें जाता है; जिसकी रजोगुणमें प्रीति और स्थिति है, वह मनुष्यादि योनिको प्राप्त होता है, एवं जिसकी तमोगुणमें प्रीति और स्थिति होती है, वह नीचेके लोकोंमें—नरकोंमें अथवा कीट-पतंगादि तिर्यक् योनियोमें जन्म लेता है। 'सत्' ऊपरकी योनियों-को कहते है और 'असत्' नीचेकी योनियोंको। मनुष्ययोनिसे जितनी भी नीचेकी योनियाँ है, वे सब 'असत्' है तथा मनुष्यसे ऊपरकी जितनी योनियाँ है, वे सब 'सत्' है। इसलिये जो मनुष्य केवल शुद्ध सत्त्वगुणमें स्थित रहता है, वह अर्चि-मार्गसे ऊपरको जाकर सत्स्वरूप परमात्माको प्राप्त हो जाता है; किंतु जिसमे रजोगुणका मिश्रण रहता है, वह धूममार्गसे देवलोकमें जाकर, देवताओके भोगोको भोगकर पुनः मृत्युलोकको प्राप्त होता है। अर्थात् ऊपर जानेवाला यदि 'सकामी' होता है तो वह पुनः इस लोकमें आता है; परंतु निष्कामीका पुनरागमन नही होता।

यहाँतक यह निर्णय हुआ कि शुद्ध आत्मा भोक्ता नही है, प्रकृतिस्थ पुरुष (जीवात्मा) ही भोक्ता है।

अब यह जाननेकी इच्छा हुई कि पुण्य-पापरूप कर्मोंका कर्ता कौन है ? यदि कहें कि कर्ता प्रकृति है, तो फिर भोक्ता भी प्रकृति ही होनी चाहिये; और यदि कहें कि पुरुष कर्ता है तो कौन पुरुष कर्ता है और उसका वर्णन गीतामे कहाँ किया गया है ? इसका उत्तर यह है कि कर्मोंके होनेमे गीता पाँच हेतु बतलाती है।

पञ्चैतानि महाबाहो कारणानि निबोध मे।
सांख्ये कृतान्ते प्रोक्तानि सिद्धये सर्वकर्मणाम्॥
(१८। १३)

'हे महाबाहो! सम्पूर्ण कर्मोंकी सिद्धिके ये पाँच हेतु कर्मोंका अन्त करनेके लिये उपाय बतलानेवाले 'सांख्यशास्त्र' में कहे गये हैं; उनको तू मुझसे भलीभाँति जान।'

अधिष्ठानं तथा कर्ता करणं च पृथग्विधम्।
विविधाश्च पृथक्चेष्टा दैवं चैवात्र पञ्चमम्॥
(१८। १४)

'इस विषयमे अर्थात् कर्मोंकी सिद्धिमें अधिष्ठान (आधार) और कर्ता तथा भिन्न-भिन्न प्रकारके करण एवं नाना प्रकारकी अलग-अलग चेष्टाएँ और वैसे ही पाँचवाँ हेतु दैव है।'

यहाँ अधिष्ठान (आधार) तो शरीर है। कर्ता यह जीवात्मा है। पाँच ज्ञानेन्द्रिय, पाँच कर्मेन्द्रिय, मन, बुद्धि और अहंकार— इस प्रकार ये तेरह भिन्न-भिन्न द्वार (करण) है। नाना प्रकारकी अलग-अलग चेष्टाएँ एवं पाँचवाँ हेतु दैव है। पूर्वकृत संचित शुभाशुभ कर्मोंके संस्कारका नाम 'दैव' है। कोई दैवका अर्थ 'भगवान्' करते है तो कोई 'प्रारब्ध'। इस प्रकार सभी कर्मोंमे ये पाँच हेतु माने गये है। इन पाँच हेतुओसे होनेवाले उपर्युक्त कर्मके दो भेद होते हैं—पुण्य और पाप। इसके सम्बन्धमें भगवान्ने कहा है—

शरीरवाङ्मनोभिर्यत्कर्म प्रारभते नरः।
न्याय्यं वा विपरीतं वा पञ्चैते तस्य हेतवः॥
(१८। १५)

'मनुष्य मन, वाणी और शरीरसे शास्त्रानुकूल अथवा शास्त्र-विपरीत जो कुछ भी कर्म करता है, उसमे ये पाँचों ही कारण है।'

इस प्रकार जो भी कर्म होते है, उनमे इन पाँच हेतुओंके होनेपर भी जो कर्मोंके करनेमें 'शुद्ध आत्मा' को हेतु मान लेता है, यही उसका 'अज्ञान' है। यही मूर्खता है। आत्मा तो वास्तवमें अकर्त्ता है; भगवान्‌ने भी गीतामें कहा है—

तत्रैवं सति कर्तारमात्मानं केवलं तु यः।
पश्यत्यकृतबुद्धित्वान्न स पश्यति दुर्मतिः॥
(१८। १६)

'इस प्रकार होनेपर भी जो पुरुष अशुद्धबुद्धि होनेके कारण उस विषयमें यानी कर्मोंके होनेमें केवल—शुद्धस्वरूप आत्माको कर्ता समझता है, वह मलिन बुद्धिवाला अज्ञानी यथार्थमे नही समझता।'

वह वास्तवमें मूर्ख है, उसका समझना यथार्थ नही है; क्योंकि वास्तवमें शुद्ध आत्मा तो 'कर्ता' है ही नहीं; बुरे या अच्छे सभी कर्म उपर्युक्त पाँच हेतुओसे ही बनते है। मतलब यह कि जितने भी कर्म बनते है, उनमे ये पाँच ही हेतु हैं। इन्हीसे सारी क्रियाएँ होती है।

इस प्रकार प्रकृति-पुरुषका स्वरूप समझ लेनेपर भगवान्‌की कृपासे अज्ञानका नाश हो जाता है और शुद्ध आत्मामे अकर्तृत्व और अभोक्तृत्वका निश्चय होनेसे वह समस्त कर्मबन्धनोंसे छूटकर परमात्माको प्राप्त हो जाता है।

वंशीवट कालिन्दी-तट नट-नागर नित्य निहारूँ॥